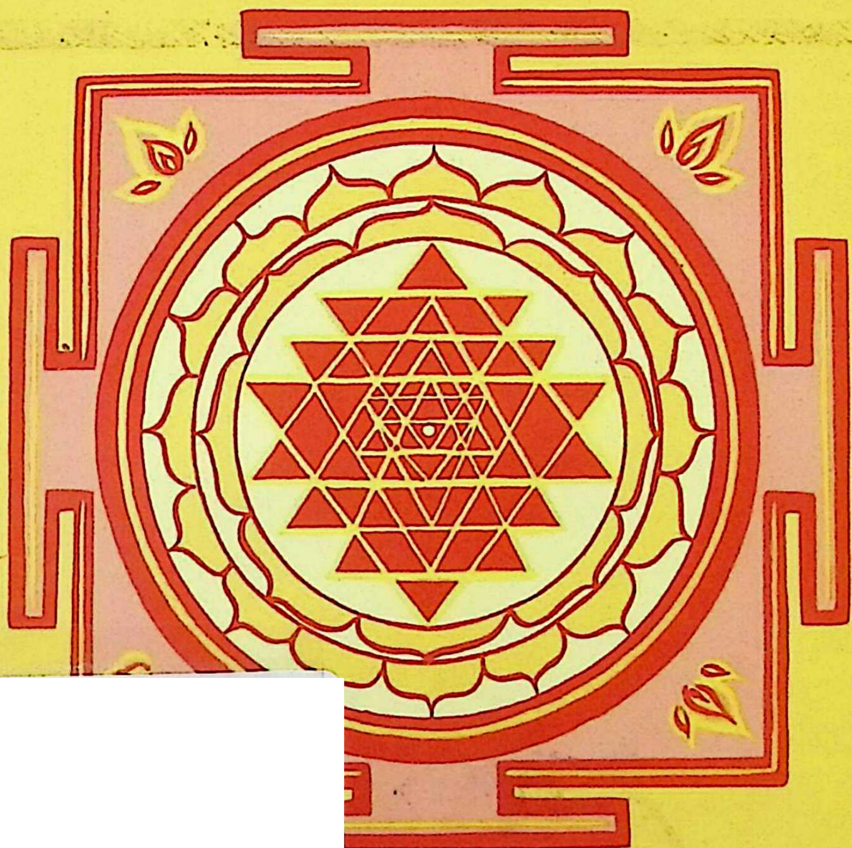
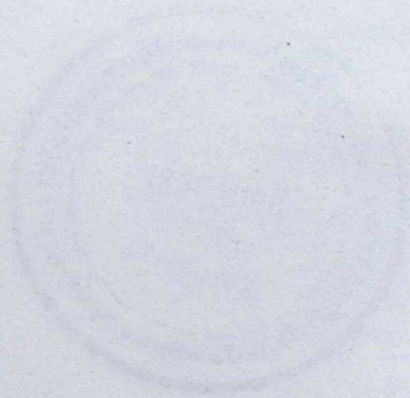
रुद्रयामल उत्तरतन्त्र

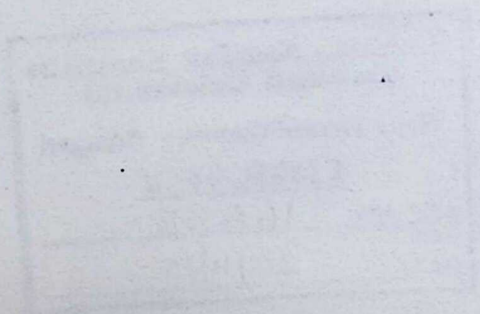
(धर्म एवं दर्शन)



रमाशङ्कर मिश्र







रुद्रयामल उत्तरतन्त्र

(धर्म और दर्शन)

लेखक

रमाशङ्कर मिश्र

भूतपूर्व प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ (उ०प्र०)



परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स

27/28 व 22/3, शक्ति नगर

दिल्ली – 110 007

दूरभाष – 011-23845456, 47015168

e-mail : order@parimalpublication.com

url : http://www.parimalpublication.com

संस्करण : वर्ष 2015

ISBN : 978-81-7110-084-2

मूल्य - ₹ 400.00

मुद्रक :

विशाल कौशिक प्रिंटर्स

नजदीक जी.टी.बी. हॉस्पिटल,

जगतपुरी विस्तार, दिल्ली–११००९३

गुरुवर्य

ऋषिकल्प

स्व० डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय

प्राक्तन आचार्य तथा अध्यक्ष

संस्कृत-विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

की स्मृति में

सादर

समर्पित



आशीर्वचन

मैंने संस्कृत-विभाग, अभिनवगुप्त संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ० रमाशङ्कर मिश्र के 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र' का अवलोकन किया है। डॉ० रमाशङ्कर मिश्र ने अपने ग्रन्थ में तन्त्रागम-साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र' का वैदुष्यपूर्ण विवेचन किया है। इस ग्रन्थ के नव अध्यायों में तन्त्र-वाङ्मय का उद्भव और विकास, रुद्रयामल तन्त्र का अति विशिष्ट महत्त्व, 'यामल' पद की परिभाषिकता का विश्लेषण, रुद्रयामल तन्त्र की दार्शनिक विशेषताओं का स्पष्टीकरण तथा कुण्डलिनी-साधना के महत्त्व का आकलन ये—सभी प्रासङ्गिक महत्त्वपूर्ण विषय प्रतिपादित किये गये हैं। तन्त्रागम पर यह एक अनुकरणीय महान् कार्य है। आशा है इससे प्रेरणा लेकर तन्त्र-साहित्य के प्रेमी लाभान्वित होंगे। मैं डॉ० रमाशङ्कर मिश्र के इस स्तुत्य प्रयत्न की प्रशंसा करता हूँ। तन्त्र-साहित्य पर इस प्रकार का ग्रन्थ तन्त्र-प्रेमी विद्वज्जन के लिये लाभप्रद होगा। इस ग्रन्थ के लिये मैं डॉ० रमाशङ्कर मिश्र कों हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

दिनाङ्क
५.११.८८

डॉ० सत्यव्रत सिंह डी. लिट्
भू०पू० कुलपति
स्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
(वाराणसी)
निदेशक :
ध संस्थान
ीय संस्कृत परिषद,
नऊ



विवेच्य-विषय

प्रथम पुष्प—आगमिक वाङ्मय का परिचय १— ६०

प्रथम पटल—आगम और निगम : स्वरूप और आविर्भाव

द्वितीय पटल—आगमिक वाङ्मय का अवतरण और अङ्कुरण

तृतीय पटल—तान्त्रिक वाङ्मय का वर्गीकरण

चतुर्थ पटल—तन्त्र : काल और रचनाधर्मित्व

द्वितीय पुष्प—आगम, यामल और तन्त्र ६१— ८६

प्रथम पटल—आगम, यामल और तन्त्र : स्वरूप और उनका पारस्परिक सम्बन्ध

द्वितीय पटल—आगमिक वाङ्मय में रुद्रयामल उत्तरतन्त्र

तृतीय पटल—रुद्रयामल उत्तरतन्त्र : नामकरण और पूर्वभाग पर चर्चा

तृतीय पुष्प—रुद्रयामल उत्तरतन्त्र का दार्शनिक परिवेश ८७—१०७

प्रथम पटल—दर्शन : व्युत्पत्ति, स्वरूप और भेद

द्वितीय पटल—अद्वैतभूमि में रुद्रयामल उत्तरतन्त्र

तृतीय पटल—तत्त्व-विचार—(क) ब्रह्मज्ञान, (ख) अध्यात्मज्ञान, (ग) जीव या भाव, (घ) सूक्ष्मसृष्टि, स्थिति और संहार, (ङ) निर्वाण

चतुर्थ पुष्प—रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और योगदर्शन १०८—१७६

प्रथम पटल—योग-रहस्य

द्वितीय पटल—योगत्त्व-विचार—(क) अष्टाङ्गयोग, (ख) हठयोग, (ग) कायवश्य, (घ) आसव-शुद्धि, (ङ) पञ्चस्वरादि योग (च) अमरापञ्चक साधन

पृष्ठ संख्या

योग साधना के प्रमुख आयाम—
(क) योगग्रहण-काल (ख) साधक के कर्त्तव्य, (ग) साधक के निषिद्ध कार्य, (घ) योगियों का भोजन-नियम, (ङ) योगभ्रंश-कारण, (च) योगियों का जप-नियम, (छ) योगियों का सूक्ष्म तीर्थ, (ज) मनोमहाप्रलय, (झ) योग-धारणा, (ञ) योगियों का सूक्ष्म स्नान (ट) सन्ध्यावन्दनादि क्रिया

पञ्चम पुष्प—रुद्रयामल उत्तरतन्त्र तथा शाक्तमत — १७७—२५१

प्रथम पटल—शक्तितत्त्व का विकास

द्वितीय पटल—शक्ति-प्रकार

तृतीय पटल—कुण्डलिनीयोग

चतुर्थ पटल—महाशक्ति कुण्डलिनी का जागरण (कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान)

षष्ठ पुष्प—रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और कौलमत — २५२—२७६

प्रथम पटल—(क) कुल का अर्थ (ख) कुलमत का विकास, (ग) कुल-साहित्य, (घ) कुलधर्म का माहात्म्य, (ङ) कुलाचार-विधि, (च) कौल-सन्ध्या, (छ) कौल-तर्पण, (ज) मानस पूजा, (झ) मानसहोम

द्वितीय पटल—महाचीनाचार

तृतीय पटल—पञ्चमकार की पूजा तथा महत्ता

चतुर्थ पटल—कुमारी-चर्या

सप्तम पुष्प—मन्त्र और साधना-रहस्य — २७७—३०९

प्रथम पटल—मन्त्र और उसके जप की वैज्ञानिकता

द्वितीय पटल—शव-साधना और त्राटकयोग

तृतीय पटल—मन्त्र-रहस्य
(क) मन्त्र-संस्कार, (ख) मन्त्रदोषादि-निर्णय, (ग) मन्त्र-सिद्धि-लक्षण
(घ) मन्त्रभेद और मन्त्रोद्धार
(ङ) महामन्त्र (हंस)

पृ० सं०

चतुर्थ पटल—दीक्षा-रहस्य
पञ्चम पटल—न्यास-रहस्य

अष्टम पुष्प—चक्र-रहस्य ३१०—३५९
प्रथम पटल—चक्र : व्युत्पत्ति और स्वरूप
द्वितीय पटल—चक्र-प्रकार
तृतीय पटल—चक्र-रचना
चतुर्थ पटल—षट्चक्र-रहस्य
पञ्चम पटल—षट्चक्र-भेदन

नवम पुष्प—रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और तत्कालीन समाजधर्म ३६०—३७२
प्रथम पटल—वर्ण-व्यवस्था
द्वितीय पटल—गुरु का महत्त्व
तृतीय पटल—शिष्य का लक्षण
चतुर्थ पटल—नारियों की स्थिति
पञ्चम पटल—वेद की प्रशंसा और वैष्णव आचार का सम्मान

पुष्पिका—सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची ३७३—३८४
(क) संस्कृत ग्रन्थ
(ख) हिन्दी ग्रन्थ
(ग) अँग्रेजी ग्रन्थ



पुरोवाक्

भारतीय धर्म और दर्शन का प्राण तत्त्व 'आगम [illegible] है। सामान्य रूप से 'आगम' पद से 'तन्त्र' तथा 'नि[illegible] का बोध होता है। यत्र-तत्र इस मान्यता का अपवाद [illegible] अभिनव गुप्त ने 'वेद' के लिये भी 'आगम' पद का प्रयोग [illegible]

"... सर्वागमाविसंवादितां वेदागमस्य आह।"[1]

तान्त्रिक वाङ्मय, 'नियम' और 'आगम' दोनों शास्त्रों को शङ्करी अथवा शङ्कर के मुख से आविर्भूत हुआ मानता है और 'वेद' को निगम से सर्वथा भिन्न स्वीकार करता है, भले ही इसका प्रयोजन तन्त्रशास्त्र के महत्त्व को प्रदर्शित करना रहा हो।[2]

भगवान् शिव ही सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय के प्रकाशक हैं। तान्त्रिक वाङ्मय के अनुसार सर्वप्रथम परम शिव के मुख से निगम और आगम का उद्भव हुआ। इसके बाद आगम से 'यामल' शास्त्र और यामल से वेदों की उत्पत्ति हुई। शेष सम्पूर्ण आर्ष साहित्य वेदों से उत्पन्न हुआ बताया गया है।[3]

उक्त विवेचन से निगम और आगम दोनों शास्त्रों का देव-अभिहितत्व सिद्ध होता है। 'पिङ्गलामत' की प्रारम्भिक पङ्क्तियों में 'व्याख्या प्रकरण' के अन्तर्गत भैरव, देवी पिङ्गला से आगम, शास्त्र, ज्ञान और तन्त्र की व्याख्या करते हैं।

सम्पूर्ण रूप से चतुर्दिक् आध्यात्मिक ज्ञान को विकीर्ण करने वाला ग्रन्थ 'आगम' कहलाता है। जो नियन्त्रण और रक्षण करता है, उसे 'शास्त्र' कहा जाता है। जिसके द्वारा बोध हो, वही ज्ञान है तथा प्रत्येक वस्तु को अनुरक्षित और विस्तारित करने वाले को 'तन्त्र कहा गया है।[4] 'विश्वसारतन्त्र' के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देव-अर्चन, मन्त्र-साधना, पुरश्चरण, षट्कर्म-साधन और चतुर्विध ध्यानयोग—इन सात लक्षणों से युक्त शास्त्र 'आगम' कहा जाता है।[5]

आगमिक वाङ्मय के अवतरण के विषय में तन्त्र-साहित्य में विभिन्न प्रकार के आख्यान हैं, किन्तु सभी आख्यानों का मूल इस तथ्य में निहित है कि

---

१. ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी, भाग ३, पृ० ६९।

२. सर्वोल्लासतन्त्र, १/१३, १५।

३. वही, १/२१।

४. स्टडीज़ इन द तन्त्राज़, भाग १, पृ० १०६ पर उद्धृत।

५. तन्त्रकल्पतरु, पृ० ६४ पर उद्धृत।

'आगम' और 'निगम के आदि प्रकाशक भगवान् शिव और उनकी शक्ति हैं। कहा जाता है कि शिव और शक्ति से आगमिक ज्ञान को श्रीवासुदेव ने सुना। सर्वप्रथम उन्होंने उस ज्ञान को गणेश से कहा। गणेश ने उस आगम-निगम सम्मत वाक्य को नन्दीश्वर को सुनाया और इस प्रकार क्षिति-तल पर आगम और निगम व्याप्त हो गया।[1]

सार रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक साधना और कर्मकाण्ड के मूल में 'वेद' तथा तान्त्रिक साधना और प्रयोग के मूल में 'आगम' हैं। सम्प्रति आगमिक और नैगम साधनाओं के विकासक्रम में सम्प्रदाय-भेद से विभिन्न धाराओं का आविर्भाव और सांकर्य हुआ देखा जाता है। इसी के परिणाम हैं—वैष्णवागम, शैवागम तथा शाक्तागम।

रुद्र और उसकी शक्ति के सामरस्य रूप शास्त्र को 'यामल' कहा जाता है। व्युत्पत्तिपरक व्याख्या के अनुसार 'यामल' शब्द 'यमल-मिथुन' से सम्बद्ध है। शास्त्र की एक विशेष परम्परा को 'यामल' पद से इसलिये अभिहित किया गया है, क्योंकि इन ग्रन्थों में विषयवस्तु का प्रवर्तन भैरव-भैरवी, उमा-महेश्वर, शिव-ब्रह्मा, नारद-महादेव, पार्वती-महेश्वर आदि देवी-देवताओं के परस्पर वार्तालाप के द्वारा किया गया है। तान्त्रिक वाङ्मय के अन्तर्गत यामल-ग्रन्थों की एक दीर्घ परम्परा है। सर्वानन्दनाथ ने आगम के ६४, निगम के ५ तथा यामल के ४ भेदों को स्वीकार किया है—

चतुष्षष्ट्यागमः प्रोक्तः पञ्चधा निगमस्तथा।
यामलञ्च चतुर्धोक्तं तस्माच्छास्त्रं प्रकाशितम्॥[2]

इस प्रसङ्ग में उन्होंने ब्रह्मयामल, रुद्रयामल, विष्णुयामल तथा शक्तियामल का उल्लेख किया है।[3] 'ब्रह्मयामल' में जिन आठ यामलों का उल्लेख है, उनके नाम हैं—रुद्रयामल, कन्दयामल (स्कन्दयामल), ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, यमयामल, वायुयामल, कुबेरयामल तथा इन्द्रयामल।[4] यामलग्रन्थों के सर्वेक्षण की दिशा में म०म० गोपीनाथ कविराज ने स्तुत्य कार्य किया है। 'तान्त्रिक साहित्य' में उन्होंने जिन यामल ग्रन्थों का सङ्ग्रह किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—अघोरयामल, आदित्यालल, इन्द्रयामल, उमायामल, काली, कृष्ण, गणेश, गौरी, ग्रह, चन्द्र (यामल), जयद्रथयामल, पञ्चयामल, बिन्दुयामल, बृहद्रुद्रयामल, ब्रह्मा-

---

१. सर्वोल्लासतन्त्र, १/१६, १७।
२. सर्वोल्लासतन्त्र, १/२०।
३. वही, १/२९-३०।
४. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० ७ पर उद्धृत।

यामल, ब्रह्माण्डयामल, भैरवयामल, रुद्रयामल, रुद्रयाम
विष्णुयामल, वीरतन्त्रयामल, वीरभद्रयामल, वीरयाम
(सिद्धि),स्कन्दयामल और हंसयामल ।

परम शिव के ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदे
पञ्चमुखों से उत्पन्न चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया आदि पाँच शक्तियों की सहायता से दश भेद, अठारह भेदाभेद तथा चौसठ अभेद दशाओं का प्रादुर्भाव होता है। इन्हीं दशाओं से भेद, भेदाभेद तथा अभेद शैवागमों का आविर्भाव माना जाता है। भेद दशा से दश शिवागम, भेदाभेद दशा से १८ रुद्रागम तथा अभेद दशा से ६४ भैरवागमों का आविर्भाव होता है।

शिव के दक्षिणी वक्त्र को 'योगिनी वक्त्र' कहा गया है। यह शिव का अद्वय तथा सङ्घट्टरूप है। यहीं से शिव की चौंसठ अभेद दशाओं का उन्मेष होता है। इन्हें 'भैरव अवस्था' कहते हैं। यह दशा अन्य चार मुखों की अद्वयरूप है। चारों वक्त्रों में से प्रत्येक के चार रूप हैं—उद्भवोन्मुख, उद्भूत, तिरोधानोन्मुख तथा तिरोहित। इस प्रकार चारों वक्त्रों में १६ भेद निहित हैं। चारों वक्त्र जब एक ही में अन्तर्लीन होकर परस्पर मिलते हैं, उस समय चौंसठ प्रकार की भैरव अवस्थायें उत्पन्न होती है। दक्षिणी वक्त्र में जब एक ही समय में चारों वक्त्रों का लय होता है, तब भैरवागमों का आविर्भाव होता है। शिव के योगिनी वक्त्र से उद्भून होने के कारण ये सभी आगम, शैव और शाक्त दोनों चिन्तन को जन्म देते हैं, किन्तु यामल ग्रन्थ विशेषकर शाक्तसम्मत प्रतीत होते हैं। भैरवाष्टकों को आठ अष्टकों में विभाजित किया गया है—भैरवाष्टक, यामलाष्टक, मताख्याष्टक, मंगलाष्टक चक्राष्टक शिखाष्टक, बहुरूपाष्टक तथा वागीशाष्टक। 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र' उक्त भैरवागमों के अन्तर्गत 'यामलाष्टक' से सम्बद्ध है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ ९ पुष्पों (अध्यायों) में विभक्त हैं। प्रथम पुष्प को चार पटलों में विभाजित किया गया है। प्रथम पटल आगम और निगम के स्वरूप और आविर्भाव के विवेचन से सम्बद्ध है। इसमें 'आगम' और 'निगम' पद की व्युत्पत्ति, उत्पत्ति, विकास, क्रम तथा वर्गीकरण का सङ्केत मात्र किया गया है। आगम और निगम—दोनों ही श्रुतिपरक हैं, इस तथ्य का विवेचन किया गया है। प्रथम पुष्प के द्वितीय पटल में 'आगमिक वाङ्मय के अवतरण तथा अङ्कुरण' का विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत आगम तथा निगम की समान महत्ता वर्णित है। इसके अतिरिक्त तन्त्रों की ऋषि-परम्परा, तन्त्रों की प्राचीनता, तन्त्रों की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि, वैदिक तथा वेदोत्तर साहित्य में तन्त्रों के अङ्कुरण, बौद्ध साहित्य में तन्त्र, जैन साहित्य में तन्त्र, धर्मशास्त्र और पुराणों में तन्त्र आदि का विवेचन भी किया गया है। प्रथम पुष्प के तृतीय पटल में 'तान्त्रिक वाङ्मय के

वर्गीकरण' को प्रस्तुत किया गया है। इस वर्गीकरण का आधार है—शैली, सम्प्रदाय भेद, क्षेत्र (भौगोलिक विस्तार), उपास्य देव-भेद तथा बौद्ध तन्त्र। शैलीमूलक वर्गीकरण में आगम (शिवागम, रुद्रागम, भैरवागम, शाक्त आगम, वैष्णव आगम), आम्नाय (पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय, दक्षिणाम्नाय, ऊर्ध्वाम्नाय तथा पातालाम्नाय), स्रोत (दक्षिणस्रोत, मध्यस्रोत और वामस्रोत), और यामल के विभाजन को प्रस्तुत किया गया है। सम्प्रदायमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत शैव, शाक्त (कौल, मिश्र, समय), वैष्णव, सौर और गाणपत्य आदि सम्प्रदायों के आधार पर तन्त्रों का वर्गीकरण किया गया है। क्षेत्रमूलक वर्गीकरण में विष्णु-क्रान्ता, रथक्रान्ता तथा अश्वक्रान्ता की क्षेत्रसीमा में तन्त्रों की सूची प्रस्तुत की गयी है। प्रत्येक वर्ग में ६४ तन्त्र हैं। उपास्य देव-भेद के आधार पर काली, तारा, श्रीविद्या, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातङ्गी और कमला आदि दश महाविद्याओं से सम्बद्ध तन्त्रों को प्रस्तुत किया गया है। अन्त में तन्त्रों में हीनयान, महायान, वज्रयान तथा सहजयान से सम्बद्ध तन्त्र-साहित्य का विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्रथम पुष्प के चतुर्थ पटल में 'तन्त्रों के काल तथा रचना-धर्मित्व' पर प्रकाश डाला गया है। हस्तलिखित प्रतियों की लिपि तथा अभिलेखों से प्राप्त सामग्री के आधार पर तंत्रों के समय को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है।

ग्रंथ का द्वितीय पुष्प तीन पटलों में विभक्त है। प्रथम पटल में तंत्र की तीन प्रमुख विधाओं—आगम, यामल तथा तंत्र के स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बंध का निरूपण किया गया है। इसमें आगम, यामल तथा तंत्र की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय पटल में 'आगमिक वाङ्मय में रुद्रयामल उत्तरतंत्र की स्थिति विवेचन है। इसमें विभिन्न प्रकार के उपलब्ध यामल ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गई हैं। रुद्रयामल के नाम से अब तक यथा-सम्भव उपलब्ध अनेक प्रकार के ग्रन्थों का सङ्क्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। तृतीय पटल में रुद्रयामल उत्तरतंत्र के नामकरण पर चर्चा की गई हैं।

तृतीय पुष्प 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र' के दार्शनिक परिवेश से सम्बद्ध हैं। इसमें तीन पटल हैं। प्रथम पटल में 'दर्शन' की व्युत्पत्ति, स्वरूप तथा उसके भेदों का अति सङ्क्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय पटल में दर्शन की अद्वैत भूमि में 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र' की स्थिति पर विचार किया गया है। तृतीय पटल में 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र' का दार्शनिक पक्ष विवेचित है। इसमें ब्रह्मज्ञान, अध्यात्म-ज्ञान, जीव अथवा भाव का स्वरूप, सूक्ष्म सृष्टि, स्थिति और संहार तथा मोक्ष या निर्वाणं का स्वरूप वर्णित है।

ग्रन्थ का चतुर्थ पुष्प 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और योग-दर्शन' के नाम से

अभिहित है। इस पुष्प में तीन पटल हैं। प्रथम पट[illegible]
जिसमें योग के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है [illegible]
अष्टाङ्गयोग, हठयोग, कायवश्य, पञ्चस्वरादियोग तथ[illegible]
वर्णन किया गया है। तृतीय पटल 'योगसाधना के प्रमुख आयाम' से सम्बद्ध है। इसके अन्तर्गत योग-ग्रहण-काल, योगियों का भोजन-नियम, योग-भ्रंश-कारण, योगियों का जप-नियम, योगियों के सूक्ष्म तीर्थ, मनोमहाप्रलय, योगसाधारणा, योगियों का सूक्ष्मस्नान तथा सन्ध्यावन्दन आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

पञ्चम पुष्प 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र तथा शाक्त मत' से सम्बद्ध है। यह पुष्प चार पटलों में विभक्त है। प्रथम पटल में शक्तितत्त्व के विकास के क्रम का सङ्क्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय पटल में भैरवी, योगिनी, कन्दवासिनी, रुद्राणी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी, डाकिनी, राकिनी, भेदिनो, छेदिनी आदि विभिन्न शक्तियों की पूजा तथा स्तोत्र आदि का सङ्केत किया गया है। तृतीय पटल 'महाशक्ति कुण्डलिनी के स्वरूप' के विस्तृत विवेचन से सम्बद्ध है। चतुर्थ पटल में 'महाशक्ति कुण्डलिनी के जागरण' की उत्कृष्ट तथा गूढ़ साधना का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि यह साधना सिद्ध पुरुषों की गूढ़ पद्धति से सम्बद्ध है, तथापि यथाशक्ति इस साधना के प्रायोगिक पक्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस पटल में प्राणायाम, न्यास, भूतशुद्धि, कुण्डलिनी-जागरण के विभिन्न स्तर, सुषुम्णा में सुखपूर्वक वायु के प्रवेश, षट्चक्र-स्वरूप और भेद, कुण्डलिनी-जागरण की साधना—पद्धति, बिन्दु-विसर्ग की साधना, कुण्डलिनी-जागरण का स्वरूप, कुण्डलिनी-जागरण की अनुभूति आदि विषय विस्तार से वर्णित हैं।

षष्ठ पुष्प का वर्ण्य विषय है—'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और कौलमत'। इस पुष्प में चार पटल हैं। प्रथम पटल में कुलाचार, कौलतर्पण, मानसपूजा, मानस-होम, कुलक्रिया, कौलसन्ध्या आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय पटल में महाचीनाचार का विस्तृत विवरण प्रस्तुत है। तृतीय पटल में पञ्चमकार की पूजा तथा उसके माहात्म्य का विवेचन किया गया है। इस पुष्प का चतुर्थ पटल कुमारी-चर्या से सम्बद्ध है। इसके अन्तर्गत कुमारी-लक्षण, कुमारी-पूजा, कुमारी-जप, कुमारी-होम आदि का निरूपण किया गया है।

सप्तम पुष्प 'मन्त्र और साधना-रहस्य' से सम्बद्ध है। इसमें पाँच पटल हैं। प्रथम पटल में मन्त्र और उसके जप की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय पटल में साधना और त्राटकयोग का विवेचन किया गया है। तृतीय पटल 'मन्त्र-रहस्य' से सम्बद्ध है। इसमें मन्त्र-संस्कार, मन्त्र-दोषादि-निर्णय, मन्त्र-सिद्धिलक्षण, मन्त्र-संस्कार, मंत्र-भेद और मंत्रोद्धार तथा महामंत्र का

निरूपण किया गया है। चतुर्थ पटल 'दीक्षा-रहस्य' से सम्बद्ध है। पञ्चम पटल में 'न्यास-रहस्य' का विवेचन किया गया है। इसी पटल में मृत्युञ्जय पूजा-विधि, न्यास और ध्यान आदि पर प्रकाश डाला गया है।

ग्रंथ का अष्टम पुष्प 'चक्ररहस्य' से सम्बद्ध है। यह पांच पटलों में विभक्त है। प्रथम पटल में 'चक्र की व्युत्पत्ति और स्वरूप' का विवेचन किया गया है। द्वितीय पटल में चक्रों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है। तृतीय पटल में चक्रों की रचना तथा उनके फल आदि का निरूपण किया गया है। चतुर्थ पटल 'षट्चक्र-रचना' से सम्बद्ध है। षट्चक्रों की उत्कृष्ट साधना 'षट्चक्र-भेदन' कहलाती है। इसका निरूपण पञ्चम पटल में किया गया है।

ग्रन्थ का नवम और अन्तिम पुष्प 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और तत्कालीन समाज धर्म' से सम्बद्ध है। यह पुष्प पाँच पटलों में विभक्त है। प्रथम पटल में तत्कालीन 'वर्ण-व्यवस्था', द्वितीय पटल में 'गुरु के महत्त्व', तृतीय पटल में 'शिष्य के लक्षण', चतुर्थ पटल में 'नारियों की स्थिति' और पञ्चम पटल में 'वेद की प्रशंसा तथा वैष्णव आचार के सम्मान' पर प्रकाश डाला गया है।

ग्रन्थ के अन्त में 'पुष्पिका' शीर्षक के अन्तर्गत सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची दी गई है, जो तीन वर्गों में विभक्त है। (क) वर्ग में संस्कृत वाङ्मय के मूल ग्रन्थों की सूची है, (ख) वर्ग में हिन्दी के आलोचनात्मक ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत है तथा (ग) वर्ग में अँग्रेजी ग्रन्थों की सन्दर्भ-सूची दी गई है।

आभार

मेरे ऊपर परिवार का और उससे भी कहीं अधिक गुरु-परम्परा का इतना बड़ा ऋण है कि मैं यह सोच नहीं पा रहा हूँ कि किसके प्रति कैसे कृतज्ञता ज्ञापित करूँ। फिर भी इस शृङ्खला में सर्वप्रथम मुझे लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष और अभिनवगुप्त संस्थान के निदेशक महर्षिकल्प गुरुवर्य स्व० डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी का स्मरण हो रहा है, जो मुझे आपार स्नेह प्रदान करते थे। एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद काश्मीर शैवदर्शन तथा तन्त्रशास्त्र का विद्यार्थी होने के कारण गुरुदेव जी से शोध का विषय पूछने पर 'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र का दार्शनिक और सांस्कृतिक अध्ययन' विषय पर शोध-कार्य करने का आपने निर्देश दिया। ग्रंथ की दुरूहता तथा साधना-गम्य गूढ़ विषय वस्तु को देखकर उक्त ग्रंथ पर कार्य करने का साहस मुझमें नहीं हुआ, किन्तु नारिकेलफलसदृश गुरुवर्य से 'न' करने का भी साहस कहाँ ? इस सन्दर्भ में मैं अपने गुरुवर्य डॉ० सत्यव्रत सिंह (तत्कालीन प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, लखनऊ वि० वि०) का बहुत ही ऋणी रहा कि उन्होंने शोध-हेतु

उक्त विषय को सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी। यह मेरा दुर्भाग्य रहा कि शोध-कार्य के छः मास भी नहीं व्यतीत होने पाये थे कि गुरुदेव डॉ० पाण्डेय जी ने अपनी इहलोक-यात्रा समाप्त कर दी। इसी बीच मेरी नियुक्ति साकेत महाविद्यालय, फैजाबाद में हो गई। फलस्वरूप मेरे शोधकार्य की शृङ्खला समाप्त हो गई। मन में विचार आया कि मैं गुरुवर्य डा० पाण्डेय जी के आदेश को यहां रह कर पूर्ण करूँ। इसीलिये अपने शोध-कार्य के लिये मैंने पुनः इसी विषय को चुना, किन्तु मेरे ऊपर असीम स्नेह रखने वाले डा० विश्वनाथ बनर्जी (शान्ति निकेतन) ने उक्त विषय का शीर्षक कुछ परिवर्तित करने की सलाह दी। आपके सुझाव से शोध-शीर्षक हुआ—'रुद्रयामल उत्तरतन्त्र का परिशीलन'। पूज्य डा० साहब अपने प्रत्येक पत्र से मुझे अतिशीघ्र पी-एच्० डी० की उपाधि प्राप्त करने की सत्प्रेरणा देते रहे। यह ग्रंथ उनके ही आदेश के पालन का परिणाम है। इसके लिये उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना औपचारिकता मात्र लग रही है। मैं हृदय से श्रद्धेय डा० साहब का ऋणी हूँ।

मेरी हार्दिक इच्छा थी कि लखनऊ विश्वविद्यालय की गुरु-परम्परा के आश्रय और संरक्षण में मैं अपना शोध-कार्य सम्पन्न करूँ। इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि आशुतोषकल्प वन्द्यचरण गुरुवर्य डा० अतुलचन्द्र वन्द्योपाध्याय (तत्कालीन प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, सम्प्रति कुलपति, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद) ने मेरी इच्छा पूरी की तथा शोध-निर्देशक का गुरु-भार सहर्ष स्वीकार कर लिया। विद्यार्थी जीवन से आज तक इन्होंने मुझे स्नेह जो प्रदान किया है, वह आधुनिक युग में दुर्लभ है। इनके जैसे गुरु की कृपा को मैं अपने जन्म-जन्मातर का पुण्य मानता हूँ। इन्होंने मुझे शिक्षा, आजीविका तथा पी-एच्० डी० की उपाधि प्राप्त करने का सौभाग्य प्रदान किया और उसके लिये आभार-प्रदर्शन औपचारिकता का निर्वाहमात्र है। मैं आजीवन हृदय से इनका कृतज्ञ तथा ऋणी रहूँगा।

उच्चस्तरीय अध्ययन की गुरु-परम्परा-स्रक् में सुमेरु के समान परम श्रद्धेय डॉ० जे० पी० सिन्हा (सम्प्रति प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) के प्रति मैं नम्रशिरस्क हूँ। मैं जो कुछ और जिस रूप में हूँ—यह इन्हीं का श्रेय है। मुझे स्मरण ही नहीं कि पितृ-स्नेह का सुख कैसा होता है, किन्तु आज पूज्य गुरुवर्य से प्राप्त होने वाला वातसल्य प्रेम पितृ-अभाव को लेशमात्र खटकने नहीं देता है। मैं इनके प्रति तथा मञ्जु और आसू (आशुतोष) के सम्पुट में शिशु रत्नों की एक-एक लड़ी के प्रति कैसे आभार प्रकट करूँ—समझ में नहीं आता। आप का स्नेह प्राचीन गुरु-शिष्य-परम्परा की शृङ्खला को अक्षुण्ण बनाये

हुये है। मैं इनके प्रति शब्दों द्वारा आभार नहीं प्रकट कर सकता, वह तो हृदयपक्ष से सम्बद्ध है।

यथाशीघ्र यह प्रबन्ध पूर्ण हो जाता, इसके लिये मेरे जो शुभेच्छु (विद्वज्जन) प्रेरणा देते रहे हैं, उसमें स्व० डॉ० गोपिकामोहन भट्टाचार्य, (तत्कालीन प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय), डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा (प्रोफेसर, संस्कृत, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), डॉ० राम सिंह तोमर (तत्कालीन प्रो०, हिन्दी भवन, विश्वभारती, शान्ति निकेतन) तथा डॉ० विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी (सम्प्रति प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय), विशेषरूप से वन्दनीय हैं। ये सभी विद्वान् अपने ही परम प्रिय शिष्य के रूप में मुझे स्नेह देते रहे हैं, यह मेरा सौभाग्य रहा है। इन सबके प्रति मैं नतमस्तक हूँ।

परिवार के सदस्यों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन औपचारिकता मात्र प्रतीत होती है, किन्तु उनके प्रति आभार न प्रदर्शित करना कृतघ्नता है। अतः इस शृङ्खला में प्रातः वन्द्या माता जी के प्रति मैं आजीवन ऋणी हूँ क्योंकि पिताजी के अभाव में बचपन से इस योग्य बनाने का सम्पूर्ण श्रेय माताजी को ही है। इस सन्दर्भ में पिताजी की भूमिका का निर्वाह करने वाले अपने अग्रज श्री सत्यनारायण मिश्र के प्रति मैं कैसे आभार प्रदर्शित करूँ, समझ में नहीं आ रहा है। मेरी अनन्त धृष्टताओं की उपेक्षा करके वे मुझे जो स्नेह देते रहे हैं, यह उनकी महानता तथा उदारता का द्योतक है।

तान्त्रिक वाङ्मय की गूढ़ साधना परम सिद्ध साधकों का विषय है। उसमें मेरा प्रवेश सागर को लघु नौका से पार करने जैसा ही है; तथापि

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।

यथाशक्ति सम्प्रति उपलब्ध तंत्र के अधिकारी विद्वानों की सहायता से तथा अपनी अपरिपक्वमति से विषय को बोधगम्य बनाने का प्रयास हमने किया है। यदि विद्वज्जन मेरे इस प्रयास से सन्तुष्ट हो सकें, तभी मैं अपने प्रयास को सार्थक समझूंगा—

आपरितोषात् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

निवेदक,

रमा शंकर मिश्र

प्रथम पुष्प

आगमिक वाङ्मय का परिचय

प्रथम पटल

आगम और निगम : स्वरूप और आविर्भाव

स्वरूप :—'आगम' और 'निगम'—ये दो शब्द प्रायः धर्म और दर्शन के अध्येताओं को सम्मुखीन होते हैं। विद्वज्जन 'आगम' शब्द को 'तन्त्र' से तथा 'निगम' शब्द को 'वेद' से सम्बद्ध करते हैं। यद्यपि इसका अपवाद भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। अभिनवगुप्त ने वेद के लिये भी 'आगम' शब्द का प्रयोग किया है।[1] तान्त्रिक वाङ्मय में तो 'आगम' और 'निगम' की उत्पत्ति का स्रोत शङ्कर या शङ्करी के वक्त्र को स्वीकार किया गया है और दोनों में भेद का आधार 'आगत' और 'निर्गत' शब्दों को माना गया है—

निर्गतः शङ्करीवक्त्राद् गतश्च गिरिजानने।
मतः श्रीवासुदेवस्य तस्मान्निगम उच्यते ॥[2]

× × ×

आगतः शिववक्त्रेभ्यो गतश्च गिरिजाननम्।
मतः श्रीवासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥[3]

उक्त उद्धरण से आगम और निगम—दोनों का देव-अभिहितत्व सिद्ध है। दोनों ही आर्ष ग्रन्थ हैं। पिङ्गलामत के प्रारम्भ में ही 'व्याख्या प्रकरण' के अन्तर्गत भैरव, देवी पिङ्गला से आगम, शास्त्र, ज्ञान और तन्त्र की व्याख्या करते हैं—

आङ् भावस्तु समन्ताच्च गम्यतेत्यागमो मतः।
शास्यते त्रायते यस्मात् तस्माच्छास्त्रमुदाहृतम् ॥
ज्ञायते नयः येन ज्ञानं तेनाभिधीयते।
तनुते त्रायते नित्यं तन्त्रमित्थं विदुर्बुधाः ॥[4]

चतुर्दिक् आध्यात्मिक ज्ञान को विकीर्ण करने वाला ग्रन्थ 'आगम' है। जो नियन्त्रण और रक्षण करता है, वह "शास्त्र" कहलाता है। जिसके द्वारा बोध प्राप्त किया जाय वह 'ज्ञान' है तथा प्रत्येक वस्तु को अनुरक्षित और विस्तार करने वाले को 'तन्त्र' कहते हैं। सम्पूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय इस सिद्धान्त की पुष्टि करता

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग ३, पृ० ६६।
२. सर्वोल्लास तन्त्र, १/१३।
३. वही, १/१५।
४. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग-१, पृ० १०६ पर उद्धृत।

है कि आगम शास्त्र के आदि वक्ता भगवान् शिव हैं। उन्हीं के द्वारा यह, सम्प्रदाय रूप में अनुश्रवण-परम्परा से विकसित हुआ। 'पिङ्गलामत' में कहा गया है कि छन्द के लक्षण से युक्त आगमशास्त्र है, जिसका ज्ञान पण्डितों के द्वारा श्रोताओं के लाभार्थ प्राप्त किया गया—

छन्दोलक्षणसंसिद्धमागमेत्यभिधीयते।
श्रोतृवक्तृत्वन्यायेन स च ज्ञेयस्तु पण्डितैः॥[1]

सम्भव है कि यहां पर 'छन्द' का अर्थ नियन्त्रण हो। चूंकि आगम एक शास्त्र है, इसलिये वह सबको नियन्त्रण और रक्षण प्रदान करता है। कुलार्णव तन्त्र के अनुसार आचार, दिव्यगति की प्राप्ति तथा महान् आत्म तत्त्व का कथन होने से इसे "आगम" कहते हैं—

आचारकथनाद्दिव्यगतिप्राप्तिनिदानतः।
महात्मतत्त्वकथनादागमः कथितः प्रिये॥[2]

'विश्वसार तन्त्र' के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देव-अर्चन, मन्त्र-साधना, पुरश्चरण, षट्कर्म-साधन और चतुर्विध ध्यान योग—इन सात लक्षणों से युक्त अर्थात् इन सात विषयों का विवेचन करने वाले शास्त्र को 'आगम' कहते हैं—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यान-योगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः॥[3]

'आगम' और 'निगम' की एक और व्युत्पत्ति विद्वानों ने की है। पूर्व उद्धृत तन्त्र में 'आगम' के लिये आगत, गत तथा मत और इसी प्रकार 'निगम' के लिये निर्गत, गत और मत—पदों का प्रयोग करके शास्त्र के स्वरूप को स्पष्ट किया है। अस्तु आगत, गत और मत—इन शब्दों के प्रथम अक्षरों—आ+ग+म—से 'आगम' शब्द बना है और इसी प्रकार निर्गत, गत और मत—इन तीन शब्दों के प्रथम अक्षरों—नि+ग+म—से 'निगम' शब्द बना है।[4]

'आगम' शब्द से परमेश्वर के अभेद रूप का विमर्शन करने वाली पराशक्ति का बोध होता है—

---

१. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग-१, पृ० १०६ पर उद्धृत।
२. कुलार्णव तन्त्र, १७/४३।
३. तन्त्रकल्पतरु, पृ० ६४ पर उद्धृत।
४. वही, पृ० ६४।

आ समन्तात् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा पर-शक्तिरेवागमः ।[1]

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने दृढ़ विमर्श रूप शब्दन को 'आगम' कहा है, जो सम्यक् प्रकारेण अर्थ का बोध कराता है—

दृढविमर्शरूपं शब्दनमागमः आ समन्तात् अर्थं गमयतीति ।[2]

अभिनवगुप्त आगम की व्याख्या ४ प्रकार से सम्भव बताते हैं—[3]

१. आप्तोपदेशात्मक आगम ।

२. अनिबद्धप्रसिद्ध आगम ।

३. निबद्धप्रसिद्ध आगम ।

४. प्रातिभ आगम ।

प्रारम्भ में 'आगम' शब्द मूलतः 'वेद' के लिये ही प्रयुक्त था, किन्तु बाद में जब तन्त्र-प्रयोगों का प्रभाव बढ़ा और वेद के समान स्थान प्राप्त करने लगा, उस समय 'आगम' तन्त्र के लिये और 'निगम' वेद के लिये प्रचलित हो गया ।[4]

आविर्भाव :

आगम और निगम समकालीन हैं अथवा इनमें पूर्वापरत्व है—यह गवेषणा का विषय है। सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि 'निगम' शब्द, वेद के लिये और 'आगम' शब्द, तन्त्र के लिये वाच्य है। आगम और निगम अथवा तन्त्र और वेद—दोनों ही 'श्रुति' हैं, जो श्रवण-परम्परा से विकसित हुई है। यदि निगम और आगम के आविर्भाव और स्रोत पर विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि निगम और आगम—दोनों का अवतरण देवपरक है। इस दृष्टि से दोनों के आविर्भाव-क्रम पर दृष्टिपात करें (और वह भी तन्त्रशास्त्र के अनुसार), तो यह ज्ञात होता है कि 'निगम', आगम से पूर्व का है, क्योंकि निगम से ही आगम की उत्पत्ति बताई जाती है, किन्तु यहाँ पर ध्यातव्य यह है कि जिस निगम से आगम की उत्पत्ति मानी जाती है, वह निगम, वेद से भिन्न है। वेद की उत्पत्ति तो 'यामल' से हुई बताई जाती है। निगम, आगम, यामल, वेद, पुराण, स्मृति और अन्य शास्त्रों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—

---

१. स्वच्छन्दोद्योत, पृ० २१४ (मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ० ४ पर उद्धृत) ।

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग ३, पृ० ८५ ।

३. वही, पृ० १०२ ।

४. लाइट्स आन द तन्त्र, पृ० २ ।

निगमादागमो जात आगमाद् यामलो भवेत् ।
यामलाद् वेद-संजातं वेदाज्जातं पुराणकम् ।।
पुराणात् स्मृति-संजातं स्मृतेः शास्त्राणि यानि च ।
तानि गृह्याणि यत्नेन चोत्तमं हि क्रमोत्क्रमात् ।।[1]

उक्त कथन से वेद का पूर्ववर्ती 'यामल', यामल का पूर्ववर्ती 'आगम' और आगम का पूर्ववर्ती 'निगम' है । तन्त्रशास्त्र के अनुसार आगम और निगम के आदि स्रोत शिव और उनकी शक्ति हैं । शिव और शक्ति से उक्त ज्ञान को श्री वासुदेव ने सुना और सर्वप्रथम उन्होंने उस ज्ञान को गणेश को सुनाया । गणेश ने उस निगमागमसम्मत वाक्य को नन्दीश्वर को सुनाया और इस प्रकार पृथिवी-तल पर आगम और निगम परस्पर व्याप्त हो गया—

वासुदेवोऽपि तच्छ्रुत्वाप्युवाच गणेशं प्रति ।
नन्दीश्वराय तद्वाक्यं निगमागमसम्मतम् ।।
गणेशेन प्रवक्तव्यं यामलेषु प्रकाशितम् ।
एवं परस्परं व्याप्त आगमो निगमः क्षितौ ।।[2]

उक्त कथन से भी निगम और आगम का समान महत्त्व सिद्ध होता है । यदि वैदिक साहित्य का सम्बन्ध हम आर्यों से स्थापित करें और सिन्धुघाटी के उत्खनन से प्राप्त चक्रों, यन्त्रों, ताबीजों और शिवलिङ्गों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होता है कि 'तन्त्र' अधिक प्राचीन हैं, भले ही उस समय वे बीज रूप में रहे हों और कालान्तर में किसी कारणवश वे अभिभूत हो गये हों तथा बाद में पुनः साहित्य के रूप में अस्तित्त्व प्राप्त किये हों । इसी के समानान्तर दूसरी ओर वेदों में तन्त्रों के बीज रूप 'देवी सूक्त' के अवतरण से तथा यामल ग्रन्थों में वेद-माहात्म्य आदि प्रकरणों से वेदों की प्राचीनता अपेक्षाकृत स्पष्ट है । वेदोत्तर साहित्य के अन्तर्गत 'मनुस्मृति' के टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने वेद और तन्त्र दोनों को श्रुति मानकर उन्हें समान महत्त्व प्रदान किया है—

वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुतिः कीर्तिता ।[3]

यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि चारों वेदों की उत्पत्ति चार यामलों से बत यी जाती है । 'ब्रह्म यामल' से सामवेद, 'रुद्रयामल' से ऋग्वेद, 'विष्णुयामल' से यजुर्वेद तथा 'शक्तियामल' से अथर्ववेद की उत्पत्ति हुई है—

---

१. सर्वोल्लास तन्त्र, १/२१-२२ ।
२. वही, पृ० १/१६-१७ ।
३. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० १४४ पर उद्धृत ।

ब्रह्मयामलसम्भूतं सामवेदमतं शिवे।
रुद्र-यामलसंजातम् ऋग्वेदं परमं महत् ॥
विष्णुयामलसम्भूतं यजुर्वेदं कुलेश्वरि !
शक्ति-यामलसम्भूतमथर्व्वं परमं महत् ॥[1]

सत्य बात तो यह प्रतीत होती है कि वैदिक वाङ्मय का अवतरण केवल भारतीय वाङ्मय ही नहीं, अपितु संसार के सभी साहित्यों में प्राचीनतम निधि है। इसी प्रकार यथार्थ तथ्य यह भी स्वीकार किया जाना चाहिये कि आगमिक वाङ्मय का स्पष्ट और व्यवस्थित रूप वेदोत्तर काल में, और स्पष्ट यदि कहा जाय तो, उपनिषद् काल के बाद[2] पुराण-काल में दिखाई पड़ता है।

भास्करराय ने तो २८ शैवागमों को वेदसम्मत कहकर उन्हें 'निगम' शब्द से वाच्य बताया है और कपाल भैरव आदि ६४ तन्त्रों को वेदविरुद्ध कहा है—

तेषु वैदिकानि 'निगम'—पदवाच्यानि परमेश्वरस्य मुखादुद्भूतत्त्वादाज्ञा-रूपाणि।[3]

सार रूप में हम यह कह सकते हैं कि वैदिक साधना और कर्म काण्ड के मूल में 'वेद' तथा तान्त्रिक साधना और प्रयोग के मूल में 'आगम' है। सम्प्रति आगमिक और नैगम साधनाओं के विकास-क्रम में सम्प्रदाय-भेद से विभिन्न धाराओं का आविर्भाव और सांकर्य हुआ देखा जाता है। इसलिये प्रारम्भ में तो वैष्णव, शैव और शाक्त—इन तीन प्रकार के आगमों का आविर्भाव हुआ और बाद में सम्प्रदाय-भेद से अनेक प्रकार के आगमों का विभाजन होता गया। 'शक्ति संगम तन्त्र' में शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, महावीर, पाशुपत, वीर-वैष्णव, वीर-शैव, चान्द्र, स्वायम्भुव, ११ प्रकार के शाबर, ११ प्रकार के घोर, माया-कापालिक, वीर, बौद्ध, जैन, दो सौ प्रकार के चीन, सौ प्रकार के बौद्ध, दश प्रकार के पाशुपत और ८ प्रकार के कौल आगमों का उल्लेख किया गया है।[4]

शैवागम, रुद्रागम तथा भैरवागम शिव की भेद, भेदाभेद तथा अभेद दशाओं से सम्बद्ध है। शिव के ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर—इन पांच मुखों से उत्पन्न सिद्ध, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन पांच शक्तियों के

---

१. नारायणी तन्त्र, (सर्वोल्लास तन्त्र, १, २९-३०)।
२. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ५५।
३. ललितासहस्रनाम, श्लो० ११८ का सौभाग्यभास्कर (तन्त्रकल्पतरु, पृ० ६४ पर उद्धृत)।
४. शक्तिसङ्गमतन्त्र, तारा खण्ड, १, २४-३२।

द्वारा महेश्वर की १० भेद प्रधान, १८ भेदाभेदप्रधान तथा ६४ अभेद प्रधान दशायें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं से दश शिवागम, अठारह रुद्रागम और ६४ भैरवागम की उत्पत्ति बताई जाती है। भेद-दशा के अधिष्ठातृ देवता शिव, भेदाभेददशा के रुद्र तथा अभेददशा के भैरव हैं।

शक्ति, शिव या विष्णु—इन तीन अधिष्ठातृ देवों की पूजा के आधार पर आगमों का विकास-क्रम प्रारम्भ हुआ। इसी आधार पर शाक्तागम, शैवागम और वैष्णव आगम का आविर्भाव हुआ। वैष्णवागम को वैखानस और पाञ्चरात्र—इन दो भेदों में विभाजित किया जाता है।[1] वैष्णव आगम से सम्बद्ध शास्त्र को 'सात्वत तन्त्र' भी कहा जाता है—

तेनोक्तं सात्वतं तन्त्रं यज्ज्ञात्वा मुक्तिभाग् भवेत्।
यत्रस्त्रीशूद्रदासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः ।।[2]

आगमों का वैदिक और अवैदिक नाम से भी दो प्रकार का विभाजन किया जाता है। अवैदिक आगम के अन्तर्गत कपाल, लाकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पाञ्चरात्र, पाशुपत आदि को स्वीकार किया जाता है।

शाक्त आगम ९ आम्नायों में विभाजित हुआ देखा जाता है। सम्प्रदाय—भेद से यह ४ प्रकार का है—केरल, कश्मीर, गौड और विलास।[3] शाक्त मत अपने सिद्धान्त में उत्तरी शैवमत से पर्याप्त साम्य रखता है। शैव प्रधानतया शिव की तथा शाक्त, शक्ति की उपासना करते हैं। सम्मोहन तन्त्र के अनुसार शाक्त वाङ्मय के अन्तर्गत ६४ तन्त्र, ३२७ उप तन्त्र, कुछ यामल, डामर, संहिता आदि की गणना की जाती है।[4]

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आगम और निगम—दोनों ही परम्परा से प्राप्त दिव्य शास्त्र हैं। इनकी साधना-पद्धति भले ही भिन्न हों, किन्तु दोनों के आर्षत्व तथा प्रामाण्य में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जाना चाहिये। सम्प्रति विद्वज्जन 'आगम' से तन्त्र और 'निगम' से वैदिक वाङ्मय का बोध करते हैं।

—: ० :—

---

१. लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन, पृ० १४।
२. श्रीमद्भागवत, १०।९०।३४।
३. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ४७।
४. वही, पृ० ६०।

द्वितीय पटल

आगमिक वाङ्मय का अवतरण और अङ्कुरण

प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक चिन्तनधारा को ऐतिहासिक दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—नैगम, बौद्ध और जैन। इसके बाद अन्य बहुत सी उपधारायें निकलीं, जो बहुत ही प्रभावशाली सिद्ध हुईं, जिनमें तन्त्र का प्रथम स्थान है। पद्धति की दृष्टि से सर्वप्रथम तन्त्र के दो सहज भेद माने जा सकते हैं—आगम और बौद्ध। बौद्ध तन्त्र और आगम में स्वभावतः सैद्धान्तिक अन्तर है।[1] बौद्ध तन्त्र का परम लक्ष्य 'निर्वाण' शब्द से तथा आगम का परम लक्ष्य 'मोक्ष' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। आगम का मूल परम शिव आदि तथा बौद्ध तन्त्र का मूल बुद्ध के उपदेश हैं। बौद्ध तन्त्रों की भाषा विकृत और व्याकरण-भ्रष्ट संस्कृत है। बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय मुख्यतया तन्त्रमूलक है, जब कि हीनयान तन्त्रमुक्त है। योग-चर्या दोनों में प्रधान है।[2] यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिये कि तिब्बत में योग का विकास अपेक्षाकृत अधिक है। वहाँ के लामा इस तथ्य के प्रमाण हैं। इसी श्रृङ्खला में सिद्धों या नाथों की परम्परा का उदय होता है। इतिहास की दृष्टि से इस परम्परा का सूत्रपात सम्वत् ८०० के आस-पास माना जा सकता है।[3] कुलमार्ग के प्रवर्तक 'मत्स्येन्द्रनाथ' का नाम भी इसी परम्परा में लिया जाता है। इस सम्प्रदाय की एक अति दीर्घ परम्परा दिखाई पड़ती है, जिनमें नौ नाथ प्रसिद्ध हैं—गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जडभरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ।[4] इसी श्रृङ्खला में आगे चलकर अनेक प्रकार की वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, पाशुपत, कालामुख, सौम्य, सिद्धान्त, काश्मीरीय शैव, त्रिक, क्रम, स्पन्द आदि तान्त्रिक दर्शन-पद्धतियाँ प्रचलित हुईं।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय सर्वप्रथम निगम और आगम—दो रूपों में अवतरित होता है। प्रायः निगम का अर्थ 'वेद' तथा आगम का अभिप्राय 'तन्त्र' माना जाता है, किन्तु कहीं-कहीं तान्त्रिक साहित्य में वेद को निगम से भिन्न बताया गया है और यह स्वीकार किया गया है कि निगम से आगम, आगम से यामल, यामल से वेद, वेद से पुराण, पुराण से स्मृति और स्मृति से अन्य शास्त्रों

---

१. योगदर्शन—डॉ० सम्पूर्णानन्द, पृ० १-३।

२. वही, पृ० ४।

३. वही, पृ० ५।

४. नाथ सम्प्रदाय, पृ० २४।

की उत्पत्ति हुई ।[1]

कहीं-कहीं पर आगम साहित्य को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया गया है—वैदिक तथा अवैदिक । जो आगम वेदों के उपबृंहण रूप माने जाते हैं, उन्हें 'वैदिक' तथा शेष को 'अवैदिक' कहते हैं ।[2] आगमों को 'तन्त्र' भी कहा जाता है ।[3] सम्प्रदाय की दृष्टि से प्रारम्भ में आगमों के तीन रूप दिखाई पड़ते हैं—शैव, शाक्त, और वैष्णव । बाद में धीरे-धीरे सम्प्रदायों के विकास के साथ-साथ विभिन्न आगमों को भी उनसे सम्बद्ध किया गया । सम्प्रदाय-भेद से आगम अनेक प्रकार के हैं । शक्तिसंगम तन्त्र में शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, महावीर, पाशुपत, वीर-वैष्णव, वीर-शैव, चान्द्र, स्वायम्भुव, ग्यारह प्रकार के शाबर, ग्यारह प्रकार के घोर, माया-कापालिक, वीर, बौद्ध, जैन, दश प्रकार के चीन, सौ प्रकार के बौद्ध, दश प्रकार के पाशुपत और आठ प्रकार के कौल आगमों का उल्लेख किया गया है ।[4] कूर्म पुराण के अनुसार शिव और विष्णु ने कापाल, नाकुल या लाकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पाञ्चरात्र, पाशुपत तथा अन्य अनेक वेद विरुद्ध आगमों की रचना की । उसी पुराण में एक अन्य स्थान पर शिव का कथन है कि उनके द्वारा वेद-वाद-विरुद्ध अनेक शास्त्रों की रचना की गयी, जिनमें वाम, पाशुपत, सोम, लाकुल और भैरव आगम प्रमुख हैं ।[5] यद्यपि पाशुपत को वेद-बाह्य कहा गया है, किन्तु कूर्म पुराण में पाशुपत व्रत को गुह्य, गुह्यतम तथा वेद का सार बताया गया है—

निर्मितं हि मया पूर्वं व्रतं पाशुपतं शुभम् ।
गुह्यात् गुह्यतमं सूक्ष्मं वेदसारं विमुक्तये ।।[6]

गन्धर्व तन्त्र में तन्त्र को त्रिगुणात्मक बताया गया है । तामस तन्त्र नरक के हेतु हैं, राजस, स्वर्ग के तथा सात्त्विक तन्त्र, मोक्ष प्राप्ति के हेतु हैं । इन्हें छोड़कर चतुर्थ प्रकार के तन्त्र निष्फल हैं—

यदुक्तं ते मया तन्त्रं त्रिविधं त्रिगुणात्मकम् ।
तामसं कुत्र सम्प्रोक्तं राजसं चापि कुत्रचित् ।।
सात्त्विकं तत्र कुत्रापि धीमांस्तस्मात् तदुद्धरेत् ।

---

१. सर्वोल्लास तन्त्र, १।२१-२२ ।
२. लक्ष्मी तन्त्र : धर्म और दर्शन, पृ० १, २ ।
३. लक्ष्मी तन्त्र : (उपोद्घात) पृ० १ ।
४. शक्ति संगम तन्त्र, तारा खण्ड, १।२४-३२ ।
५. तन्त्रकल्पतरु, पृ० ६६ पर उद्धृत ।
६. वही ।

तामसं नरकायैव स्वर्गाय राजसं प्रिये ।।
सात्त्विकं मोक्षदं प्राहुस्तुरीयं निष्फलं शिवे ।[1]

तन्त्रों के अवतरण के विषय में 'ब्रह्मयामल' में ईश्वर कहते हैं कि सर्वप्रथम पराशक्ति रूप शिव ने 'इच्छा' धारण की। इच्छा से बिन्दु शक्तिमान् हुआ। इसी बिन्दु से ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। यह ज्ञान सर्वप्रथम सदाशिव से अवतरित होता है। सदाशिव के द्वारा यह ज्ञान 'अमृत' को प्राप्त हुआ और 'अमृत' ने १२५ सहस्र अनुष्टुप् छन्दों में अन्यों को प्रदान किया तथा इसी शृङ्खला में इस ज्ञान को श्रीकण्ठ ने प्राप्त किया। श्रीकण्ठ ने इस ज्ञान को करोड़ों श्लोकों में अन्यों को प्रदान किया। श्रीकण्ठ से उक्त ज्ञान को प्राप्त कर ईश्वर ने अपनी देवी को १२५ सहस्र श्लोकों को सुनाया।[2] वहीं ईश्वर का कथन है कि भैरव ने क्रोध भैरव को १२५ सहस्र श्लोक प्रदान किया। कपाल भैरव ने २४ सहस्र श्लोकों का संग्रह किया और कुरुक्षेत्र के एक ब्राह्मण पद्मभैरव को प्रदान किया। पद्मभैरव ने इन २४ सहस्र श्लोकों को उड्डदेश में उत्पन्न देवदत्त को सुनाया। पद्मभैरव से शिष्यों की एक दीर्घ परम्परा प्रारम्भ हुई, जिससे इस ज्ञान का अङ्कुरण हुआ। इनमें प्रमुख इस प्रकार हैं—रक्तभैरव, ज्वाला, हेला, वाम, विजय, सीसंस, गजकर्ण, चण्ड, यज्ञसोम आदि।[3]

'मालिनीविजयोत्तर तन्त्र' के प्रारम्भ में यह विवरण मिलता है कि सनत्कुमार, सनक, सनातन, सनन्दन, नारद, अगस्त्य, संवर्त, वसिष्ठ आदि ऋषियों ने योग-संसिद्धि की इच्छा से शिव-शक्ति के सम्मुख उपस्थित होकर योगविषयक जिज्ञासा की। इस पर शिव ने पार्वती को सम्बोधित करते हुये कहा कि उन्होंने सिद्धयोगीश्वरी मत को परमात्म स्वरूप अघोर से प्राप्त किया था।[4]

तन्त्रों की ऋषि-परम्परा :

जयद्रथ यामल (प्रथम षट्क) के अन्तिम पटल में मङ्गलाष्टक, चक्राष्टक तथा शिखाष्टक के अन्तर्गत आने वाले तन्त्रों का उल्लेख हुआ है। इसके साथ ही साथ वहाँ पर तन्त्रों के आविर्भावक ऋषियों की एक दीर्घ परम्परा वर्णित है।[5] उन ऋषि-नामों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

---

१. गन्धर्व तन्त्र, १/२८-३० (तन्त्रकल्पतरु, पृ० ६६ पर उद्धृत)।
२. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० १०३ पर उद्धृत।
३. वही, पृ० १०३।
४. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, १/२, ३, १४।
५. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० ११२।

१. दुर्वासा, सनक, विष्णु, कपिल, काश्यप, कुरु, संवर्त, शङ्खपाल और भैरव।

२. भृगु, श्वेतोनिवीश, विश्वामित्र, गौतम, गालव, याज्ञवल्क्य और विभाण्ड।

३. कुरचाल, कुन्दन, कंक, केकर, कानन, क्षमी, काटराक्ष, संवर्त और मनाख्य।

४. विन्दु, सविन्दु, शातातप, पराशर, आपस्तम्ब, बुभुख्या (बुभुख्य) और कात्यानन।

५. उलूक, स्थूलनाडी, हंथ, हंशरव, शुक, मनु और पीटोक्षक।

६. वशिष्ठ, दक्ष, शुक्र, कनक, कोकिल, शुक, विश्वभू, काश्यप और श्वेत।

७. बृहस्पति, घंट, कंकर, श्यामक, शिखि, कर्णजट और घीष।

८. हंस, सोम, अनुलोम, विलोम, लोमक, शत, जट और वाल्मीकि (?)

तन्त्रों की प्राचीनता

शैव मत के मूल को पूर्व वैदिक काल तक ले जाया जा सकता है। इसके बीज सिन्धुघाटी की सभ्यता के काल में अन्वेषित किये जा सकते हैं।[1] वैदिक साहित्य में रुद्र का उल्लेख हुआ ही है। पूर्व वैदिक सम्प्रदाय कों 'आदि शिव' से सम्बद्ध माना जाता है। यही आदि शिव और वैदिक युग के रुद्र परवर्ती शैव शास्त्र और सम्प्रदाय के मूल स्रोत माने जाते हैं।[2]

तान्त्रिक वाङ्मय की भाषा पर दृष्टिपात कर यदि उसकी प्राचोनता पर विचार करें, तो यह वाङ्मय अधिक से अधिक ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व नहीं जा पाता, किन्तु उन ग्रन्थों में जिन साधन-पद्धतियों और प्रयोगों का विवेचन किया गया है, उसे देखकर यह कहने में संकोच नहीं होता कि तान्त्रिक संस्कृति, वैदिक संस्कृति से भी प्राचीन हो सकती है। सिन्धुघाटी और कालीवंगन के उत्खनन से प्राप्त चक्र, यन्त्र, तावीज और शिव लिङ्गों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। तान्त्रिक प्रयोग ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व यहाँ के आदिम वासियों में प्रचलित थे।[3] आश्चर्य की बात तो यह है कि पाश्चात्य विद्वान् 'फिलिप रॉसन' के मत में ईसा से २० सहस्र वर्ष पूर्व यूरोप की पुरापाषाणकालीन प्राकृतिक विशाल गुफाओं

---

१. पुराणिक एण्ड तान्त्रिक रेलीजन, पृ० ६३।

२. वही।

३. वही, पृ० ६४।

में ऐसे प्रतीक हैं, जो आधुनिक युग के तान्त्रिकों के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले प्रतीकों के ठीक समान हैं।[1] यह सम्भव है कि आर्य संस्कृति से वह पूर्व संस्कृति अभिभूत हो गई हो और वैदिक संस्कृति के प्रभाव से तान्त्रिक संस्कृति के नैरन्तर्य में एक दीर्घ अन्तराल आ गया हो तथा वैदिक वाङ्मय की सीमा समाप्त होते ही शनैः शनैः, यत्र तत्र बिखरे हुये तांत्रिक संस्कृति के अवशेष पुनः प्रतिष्ठापित हो सके हों। तान्त्रिक वाङ्मय का विपुल भण्डार यह पुष्ट करता है कि वैदिक वाङ्मय की तुलना में इसकी महत्ता किसी भी प्रकार कम नहीं है। जहाँ कहीं भी तान्त्रिक साधना के बीज पड़े होंगे, अवसर पाकर वे ऋषियों की अनुश्रवण परम्परा से पुनः अस्तित्व में आ गये होंगे।

तन्त्रों का जो भी समय रहा हो अथवा उनकी प्रामाणिकता के विषय में जो भी मत-वैभिन्य रहें हों, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनमें ऐसे आचार निर्दिष्ट हैं, जो उनकी अति प्राचीनता की पुष्टि करते हैं।[2] यहाँ की निम्न जातियों के द्वारा तान्त्रिक प्रयोगों का विकास हुआ देखा जाता है। जयद्रथ यामल के द्वितीय षट्क में एक स्थान पर यह निर्देश किया गया है कि तैलिक और कुम्भकार के गृह में जाकर परमेश्वरी की पूजा की जानी चाहिये—

तैलिकानां गृहं गत्वा कुम्भकारगृहं तु वा।
तत्र तत्पतिभिः सार्धं यजेत् परमेश्वरीम् ॥[3]

इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आर्यों के आगमन के पूर्व अनार्यों में तन्त्र-साधना अपने उत्कर्ष पर रही होगी। सिन्धुघाटी की सभ्यता के धर्म का प्रकाशन करने में पशुपति की एक मूर्ति महत्त्वपूर्ण भूमिका रखती है, जिसका विवरण मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत की मूल संस्कृति अवैदिक या आगमिक है और वैदिक संस्कृति परवर्ती है।[4] प्राचीन काल से ही आदिम मनुष्यों में षट्कर्म (मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण और स्वस्त्ययन) का प्रयोग, पञ्चमकार (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) का प्रयोग, मन्त्र और बीज मन्त्रों का प्रयोग, प्रचलित था। शत्रुओं को नष्ट करने के लिये उनकी प्रतिमा बनाकर उसमें प्राणप्रतिष्ठा करके उसे नष्ट कर दिया जाता था। सीमेटिक जातियों में यह

---

१. तन्त्र—दि इण्डियन कल्ट ऑफ इक्सटेसी, पृ० १।
२. तन्त्राज़ : स्टडीज़ आन दियर रेलिजन ऐण्ड लिटरेचर, पृ० ७।
३. स्टडीज़ इन द तन्त्राज़, भाग १, पृ० ११२ पर उद्धृत।
४. तन्त्राज़ : ए जनरल स्टडी, पृ० ५।

प्रचलन था कि शत्रु की प्रतिमा मोम आदि से बनाकर नाखून या पिन (नुकीले पदार्थ) से उसमें चुभोया जाता था अथवा उस प्रतिमा को अग्नि में पिघलाया जाता था। इस प्रयोग से शत्रु को नष्ट किया जाता था।[१] आज भी इस प्रकार के प्रयोग तान्त्रिकों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। प्राचीन काल से ही यह प्रचलन है कि प्रेतबाधा को दूर करने के लिये तान्त्रिक अँगूठियों को धारण किया जाता है। शिव की लिङ्ग-पूजा तो प्राचीनकाल से ही सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित थी। बीज मन्त्रों की ध्वनियों से प्रयोजन विशेष का सम्बन्ध होता था। प्रेत आत्माओं के निवारणार्थ विचित्र ध्वनिपरक बीज मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। यह पद्धति आज भी देखी जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तान्त्रिक साधना अनार्यों की सम्पत्ति थी। यह भी कहा जा सकता है कि उस वैभव को आर्यों ने उनसे छीनकर तन्त्रों के रूप में क्रमबद्ध किये हों।[२]

(क) प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि :—

यह कहना संदेहास्पद है कि प्रागैतिहासिक भारत में तन्त्रों के कतिपय स्वरूप अस्तित्त्व में रहे होंगे, किन्तु जे० एन० बनर्जी तान्त्रिक पूजा के बीज को ईसा से तीन सहस्र वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी की सभ्यता तक ले जाते हैं[३] शमा शास्त्री के अनुसार तान्त्रिक पूजा के स्वरूप को ईसा से एक सहस्र वर्ष पूर्व तक ले जाया जा सकता है। वे इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि ईसा पूर्व छठीं और सातवीं शती में प्राप्त प्राचीन सिक्कों पर बने चिह्नों के विषय में यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् मौन हैं, किन्तु वे चिह्न तान्त्रिक प्रतीकों से भिन्न कुछ नहीं हैं।[४] त्रिपुरोपनिषद् तान्त्रिक प्रतीकों के वर्णन द्वारा पूर्व युग की परम्परा का पुनर्प्रतिष्ठापन करता है।

हिन्दू मान्यता की यह बहुत स्वस्थ परम्परा नहीं प्रतीत होती कि वेद और वेदों से निःसृत शास्त्र को आदर दिया जाता है और वेद के परवर्ती या वेद-बाह्य को उतना सम्मान नहीं दिया जाता। वेद को धर्म पर अन्तिम शब्द माना जाता है।[५] यह तथ्य स्पष्ट किया जा चुका है कि तान्त्रिक साहित्य, वैदिक साहित्य की अपेक्षा परवर्ती तो है ही। किसी भी शास्त्र की प्रामाणिकता इस तथ्य पर निर्भर होती है कि वह शास्त्र वेद विहित है या नहीं। शास्त्र की अपौरुषेयता का ही सम्मान होता है; किन्तु यह दैवी अभिव्यक्ति किसी एक युग की सीमा में आबद्ध

---

१. तन्त्राज : स्टडी आन दियर रेलीजन एण्ड लिटरेचर, पृ० ८ पर सन्दर्भित।
२. तन्त्राज : वही, पृ० ६।
३. पुराणिक ऐण्ड तान्त्रिक रिलीजन, पृ० ६४।
४. तन्त्राज : स्टडीज आन दियर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १०।
५. तन्त्राज : दियर फिलोसोफी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स, पृ० १।

नहीं हो सकती। आवश्यकतानुसार किसी भी युग में दैव-अवतरण और देवी-ग्रन्थ का प्रकाशन हो सकता है। सत्य को किसी देश या काल की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। तन्त्र, वेद के समकालीन हैं या नहीं—इस पर निश्चयपूर्वक कुछ कहना सम्भव नहीं प्रतीत होता, किन्तु इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि वेदों के ही समान तन्त्र भी देव-अभिहित हैं। दोनों को श्रौत शास्त्र मानना चाहिये।[1]

(ख) तन्त्रों का अङ्कुरण : वैदिक तथा वेदोत्तर साहित्य

(1) वैदिक साहित्य

वैदिक काल में बहुत से तान्त्रिक आचार के तत्त्व स्पष्ट रूप से मिलते हैं। इस प्रश्न पर प्राचीन विद्वानों में मतैक्य नहीं है कि तन्त्रों की वैदिक उत्पत्ति मानी जाय या नहीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'देवीसूक्त' तन्त्रों की अधिष्ठातृ देवी की प्राचीनता की ओर संकेत करता है। यह यथार्थ तथ्य है कि वैदिक काल में तन्त्रों का विकास सम्प्रदाय के रूप में नहीं हुआ था, किन्तु उनके बीज वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र अवश्य बिखरे पड़े मिलते हैं।[2] इसके बाद अथर्ववेद में हमें ऐसी अनेकशः आचार-पद्धतियों का दर्शन होता है, जो तान्त्रिक आचार के समान हैं।[3] वेदों के ही समान उपनिषदों में भी तान्त्रिक साधना-पद्धतियों के बीज प्राप्त होते हैं। प्रश्नोपनिषद् में "षट्चक्रभेद" का विवेचन हुआ है, जो तान्त्रिक जगत् की उत्कृष्ट साधना है।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् में पत्नियों को ले जाते हुये शत्रुओं को दण्ड देने के लिये जिन मन्त्रों का विधान है, वे तान्त्रिक मन्त्रों के बहुत कुछ समान ही है। अथर्ववेद में ऋषि कात्यायन के द्वारा महिषमर्दिनी की पूजा प्रसङ्ग का प्रसंग आता है। देवी प्रसन्न होकर महिषासुर को मारने के लिये आविर्भूत होती हैं। दत्तात्रेय, विश्वामित्र, वसिष्ठ, श्रीकृष्ण, नारद, गौतम, कपिल आदि अनेक वैदिक ऋषि तान्त्रिक सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं।[5] विश्वामित्र संहिता, सनत्कुमार संहिता, वसिष्ठ संहिना आदि ग्रन्थ उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं।

वास्तव में बहुत से ऐसे प्रयोग तन्त्र और योगदर्शन में विकसित हुये हैं, जो वैदिक काल में नहीं दीख पड़ते। यथा—षट्चक्रभेदन, प्राणायाम, आसन, मुद्रा

---

१. तन्त्राज : ए जनरल स्टडी, पृ० २।
२. तन्त्राज : स्टडीज आन दियर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १०।
३. तन्त्राज : दियर फिलोसोफी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स, पृ० ४-५।
४. वही।
५. तन्त्राज : दियर फिलोसोफी एण्ड सीक्रेट्स, पृ० ५।

आदि । तन्त्र-समर्थकों ने किसी प्रकार इस सीमा तक जाने का प्रयास किया है कि तन्त्रों में उपलब्ध सभी वस्तुओं की वैदिक उत्पत्ति है । रूढ़िगत ऐसा विचार है कि अथर्ववेद के सौभाग्यकाण्ड से तन्त्रों का उद्भव हुआ । कुछ तान्त्रिक ग्रन्थ इस मान्यता को अक्षुण्ण बनाये रक्खे हैं । यथा 'काली कुलार्णवतन्त्र' की प्रारम्भिक पङ्क्तियों में कहा गया है कि अब देवी आथर्वणसंहिता में कहती हैं[1] । रुद्रयामल उत्तर तन्त्र में देवी को 'अथर्ववेदरूपिणी' तथा 'सर्वमन्त्रात्मिका विद्या वेदविद्याप्रकाशिनी' कहा गया है ।[2] भास्करराय यह स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार वैदिक साहित्य के प्रथम भाग के उत्तरवर्ती श्रौत सूत्र तथा धर्मसंहितायें हैं, उसी प्रकार वेदों के उपनिषद् भाग के उत्तरवर्ती अवशिष्ट भाग रूप 'तन्त्र' हैं ।[3] इस कथन में समीचीनता प्रतीत होती है कि वैदिक संस्कार तथा परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिये प्रायोगिक क्रियायें ही तन्त्रों के रूप में विकसित हुईं ।[4] तन्त्रों का लिखित रूप जब सामने आया, उसके बहुत समय पूर्व तान्त्रिक धर्म तथा क्रियाओं का पूर्ण अस्तित्त्व रहा होगा—ऐसा माना जा सकता है । तान्त्रिक धर्म को वैदिक धर्म के समान ही प्राचीन मानना चाहिये । तन्त्रों की प्रामाणिकता किसी भी प्रकार संदेहास्पद नहीं है, क्योंकि ये विकास, ज्ञान, शुद्धीकरण, जीवन के सुख और पूर्णता तथा मुक्ति के साधन हैं । सत्य तथ्य यह है कि तन्त्र प्राचीन हों या आधुनिक, उपयोग की दृष्टि से वे अति निर्मल तथा आचरणीय हैं । कौल तथा रुद्र उपनिषद् वेदों तथा तन्त्रों में सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।

दामोदर पण्डित की 'यन्त्रचिन्तामणि' का प्रारम्भिक भाग स्तुतिपरक तथा अथर्ववेद का सार रूप है ।[5] पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनुयायी अपने सम्प्रदाय को एक अज्ञात वैदिक सम्प्रदाय 'एकायनशाखा' से उद्भूत मानते हैं । तन्त्रों में यह भी स्वीकार किया गया है कि कुलाचार वेदों का साररूप तथा वेदात्मक है—

मथित्वा ज्ञानदण्डेन वेदागममहार्णवम् ।
सारज्ञेन मया देवि ! कुलधर्मं समुद्धृतः ॥[6]
एतान्येव कुलस्यापि षडङ्गानि भवन्ति हि ।
तस्माद् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलात्मकं प्रिये ॥[7]

---

१. सेतुबन्ध, पृ० ५ ।
२. वही, १७/३, १२ ।
३. वही, पृ० ५ ।
४. तन्त्राज : दियर फिलोसोफी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स, पृ० ६ ।
५. यन्त्रचिन्तामणि, मङ्गलाचरण, पृ० १ ।
६. कुलार्णवतन्त्र, २/१० ।
७. वहो, २/८५ ।

एकाक्षरी बीजमन्त्रों की तन्त्रशास्त्र में एक निश्चित सामर्थ्य है। ये मन्त्र वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध होते देखे गये हैं। कीथ के अनुसार ऋक् मन्त्रों के समान ही तान्त्रिक मन्त्रों में कर्कश और रुक्ष शब्द (पट् आदि) भी प्राचीन है।[1] 'तैत्तिरीय आरण्यक' (४।२७) में एक यन्त्र का संकेत किया गया है, जो सायण के अनुसार अभिचार प्रयोगों से सम्बद्ध है। इस यन्त्र में खट्, फट्, कट् आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है। वाजसनेयी संहिता (७।३) में फट् शब्द का प्रयोग किया गया है।[2]

ऐन्द्रिक सुख की चर्चा वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र देखने को मिलती है। 'ऐतरेय आरण्यक' (११.३.७.३) के अनुसार न तो पुरुष के वीर्य और न स्त्री के रक्त से घृणा करनी चाहिये, क्योंकि वे क्रमशः आदित्य और अग्नि के स्वरूप हैं।[3] यज्ञीय प्रयोजन के लिये सोमरस का पान एक प्रकार का मद्यपान ही था। 'शतपथ ब्राह्मण' में वर्णित अतिरात्रयज्ञ मद्यपान के उत्सव को सफल करने के लिये सम्पन्न किया जाता था। वैदिक यज्ञों में मनुष्य, अश्व, वृषभ, वृक, अज आदि का आलभन होता था। यज्ञों की समाप्ति पर गोमांस-ग्रहण करने का भी विधान था।[4]

लिङ्ग-पूजा भी ऋग्वेद के ही समान प्राचीन है। एक स्थान पर असुरों के देवता 'शिश्नदेव' का सन्दर्भ आता है। तन्त्रों की महत्त्वपूर्ण शक्ति-पूजा का स्रोत वेदों में प्राप्त होता है। तान्त्रिक षट्कर्मों में कुछ का प्रयोग वैदिक साहित्य के विभिन्न भागों में दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के बहुत से सूक्त रोगमुक्ति, विषहरण, प्रेतनिवारण के साधन-रूप हैं। 'तैत्तिरीय संहिता' (२/३/१) एक ऐसे यज्ञ का विधान करती है, जिसके द्वारा किसी को अपने वश में किया जा सकता है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (२/३/१०) में यह आख्यान आता है कि प्रजापति की पुत्री सीता ने सोम का हृदय जीतने के लिये जादू का प्रयोग किया था। ये तन्त्रों के मोहन या वशीकरण प्रयोग ही हैं।[5]

अथर्ववेद के कुछ आचार ऐसे हैं, जो तन्त्र से अधिक साम्य रखते हैं। अथर्ववेद के विषय जादू, चमत्कार तथा रहस्य से आपूरित है, जो तन्त्रों के महत्त्व-पूर्ण अङ्ग हैं। इस प्रकार अभिचार, स्त्रीकर्म, पौष्टिक आदि कर्म अथर्ववेद और तन्त्र दोनों में मिलते हैं। अथर्ववेद में कुछ ऐसे मन्त्रों का संकेत किया गया है,

---

१. तन्त्राज : स्टडीज़ आन दियर रिलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १२ पर उद्धृत।
२. वहीं पर उद्धृत।
३. वहीं पर उद्धृत।
४. वही, पृ० १३।
५. वही, पृ० १३, १४।

जिनका जप स्त्री के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने में लिये किया जाता है। रक्षा के लिये ताबीजों के प्रयोगों का अथर्ववेद-काल में पर्याप्त प्रचलन था।[1]

(II) बौद्ध साहित्य में तन्त्र :—

आध्यात्मिक विकास के परिवेश में बहुशः चमत्कारी तथा रहस्यपूर्ण प्रयोगों का अस्तित्व अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में भी देखा जाता है। बौद्ध आचारपरक पाली साहित्य में बहुत से तान्त्रिक प्रयोग मिलते हैं। बुद्ध ने पञ्च-कामगुण दिटठ-धम्म-निब्बानवाद का संकेत करते हैं, जिसके अनुसार ५ ऐन्द्रियक सुख की पूर्ण तुष्टि होने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है।[2] मज्झिमनिकाय (चुल्लधम्म समाधानसुत्त, भाग १, पृ० ३०५) के अनुसार कार्यों के प्रति ब्राह्मणों और श्रमणों की दृष्टि में कोई दोष नहीं था। वहाँ इस बात का संकेत किया गया है कि मनुष्य युवती तपस्विनियों के साथ किस प्रकार आनन्द प्राप्त करते थे। उस ग्रन्थ में इस तथ्य का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है कि ये भिक्षुणियाँ तान्त्रिकों के समान स्वेच्छा से उस सुख में भाग लेती थीं या नहीं। कथावत्थु (२३/१-२) के अनुसार मैथुन को धर्म माना जाता था। तान्त्रिकों के समान कपालों का प्रयोग भी 'चुल्लवग्ग' के एक सन्दर्भ से प्रमाणित होता है। वहाँ एक भिक्षु की ओर संकेत किया गया है, जो श्मशान भूमि से प्राप्त वस्तुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं पहनता था। वह कपाल को लेकर भिक्षा-वृत्ति के लिये भ्रमण करता था। 'मज्झिम निकाय' (१/७८) के अनुसार बुद्ध अपनी साधना के प्रारम्भिक दिनों में शव की कुछ जली हुई हड्डियों को तकिया बनाकर श्मशान भूमि में रहते थे। उन दिनों तान्त्रिक षट्कर्मों का काफी प्रचलन था। 'तेविज्जिय सुत्त' के अनुसार कुछ श्रमण और ब्राह्मण घावों को समाप्त करने तथा शरीर को सुरक्षित रखने की जादू की शिक्षा देकर अपनी आजीविका चलाते थे। 'ब्रह्मजाल सुत्त' (२१) के अनुसार घुटने से रक्त निकालकर यज्ञ के रूप में देवों को समर्पित किया जाता था। मनुष्यों को भाग्यशाली बनाने वाले यन्त्रों का प्रयोग किया जाता था। कुछ ब्राह्मणों की यह मान्यता थी कि इन्द्रियों से पूर्ण आनन्द की प्राप्ति ही मनुष्य को निर्वाण की ओर उन्मुख करती थी।

(III) जैन साहित्य में तन्त्र :—

प्राकृत भाषा में प्राप्त जैन ग्रन्थों में तान्त्रिक आचारों के दर्शन होते हैं। 'स्थानाङ्ग सूत्र' (४/४) में महावीर ने मैथुन से आनन्द प्राप्त करने वाले 'साय-वादियों' की ओर संकेत किया है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में आरोग्यकर यन्त्रों का

---

१. तन्त्राज : स्टडीज आन दियर रेलिजन ऐण्ड लिटरेचर, पृ० १४।
२. वहीं पर उद्धृत।

उल्लेख किया गया है। 'सूत्रकृताङ्ग' (२/२) में ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है, जो किसी को प्रसन्न या दुःखी करने के लिये जादू का प्रयोग करते थे।

(४) धर्मशास्त्र और पुराणादि में तन्त्र :—

तन्त्रों के निन्दक भी आपस्तम्बधर्म सूत्र, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित तन्त्रों के दोषारोपण को देखकर प्रभावित ही होते हैं। 'ब्रह्मसूत्र' में पाशुपत और बौद्ध[1] आदि सम्प्रदायों की ओर संकेत मिलता है। पतञ्जलि ने अपने 'योग सूत्र' (४/१) में पूर्णसिद्धि प्राप्त करने के लिए मन्त्रों की सामर्थ्य का उल्लेख किया है।

पुराण साहित्य में बहुत से तान्त्रिक आचारों का संकेत मिलता है। देवी, कालिका, लिङ्ग, मार्कण्डेय आदि पुराणों में तान्त्रिक पूजा का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण (स्वर्ग खण्ड, अध्याय २७) तथा कालिका पुराण (अध्याय ५४) में तान्त्रिक षट्कर्मों के ऊपर प्रकाश डाला गया है। कूर्म और कुछ अन्य पुराण तन्त्रों की निन्दा भी करते हैं। महाभारत के क्षेपक अंशों में शिव की लिङ्ग-पूजा तथा अन्य तान्त्रिक देवताओं की पूजा का उल्लेख मिलता है।[2]

रामायण में भी मद्य और मांस के प्रयोग का उल्लेख किया गया है—

सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च।[3]

वहीं बालकाण्ड में अश्वमेध यज्ञ के समय अश्व के अतिरिक्त अन्य बहुत से पशुओं का आलभन विभिन्न देवताओं के लिये वर्णित है—

नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम्।
उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः॥[4]

राजा दशरथ के उत्तम अश्वरत्न के मांस को निकालकर शास्त्रीय विधि से पकाकर पुनः अन्य अङ्गों के साथ ऋत्विजों ने अग्नि में आहुति दिया।[5] इसी प्रकार युद्धकाण्ड में मेघनाद के द्वारा अग्निदेवता को रक्त का होम किये जाने का उल्लेख हुआ है।

(५) लौकिक साहित्य

परवर्ती लौकिक ग्रन्थों में प्रसङ्गतः तन्त्रों की प्रसिद्धि तथा महत्त्व को पुष्ट करने के लिये तान्त्रिक आचारों की ओर संकेत किया गया है। कौटिल्य के

---

१. ब्रह्मसूत्र, २/२/३०, ३१, ३२।
२. तन्त्राज : स्टडीज आन दियर रिलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १६, १७।
३. रामायण : अयोध्याकाण्ड, ५२/८९।
४. वही, बालकाण्ड, १४/२८।
५. वही, बालकाण्ड, १४/३६-३८।

'अर्थशास्त्र' (१४/३) में प्राणियों कीं मूर्च्छा के लिये यन्त्रों और जादू का वर्णन किया गया है। 'ललितविस्तर' (अध्याय १२) में ज्ञान के अन्य स्रोतों के साथ निगमों में भगवान् बुद्ध के परम बोध की ओर संकेत किया गया है। अध्याय १७ में प्रसङ्गवशात् बुद्ध के समय के तान्त्रिक प्रयोगों पर भी प्रकाश डाला गया है। वहाँ पर मन्त्रों के प्रयोग के साथ धार्मिक प्रयोजनों के लिये मद्य और मांस के ग्रहण का उल्लेख किया गया है। वहाँ कपाल और खट्वाङ्ग-ग्रहण का भी संकेत है। मुक्ति-प्राप्ति के साधनों में निकुम्भ-साधन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मातृ देवी और कात्यायनी आदि देवी तथा अन्य देवताओं की पूजा श्मशान भूमि में सम्पन्न किये जाने का विवरण वहां प्राप्त होता है। बुद्ध के समय में अश्वघोष के द्वारा तान्त्रिक देवी 'काली' का वर्णन किया गया है।[२] 'बुद्धचरित' (१३/३९) में मार की सहयोगिनी महाकाली का वर्णन किया गया है, जो अपने हाथ में कपाल-थाल लेकर बोधिसत्त्व के समय खड़ी होकर उन्हें प्रत्येक प्रकार की मनोहर चेष्टा के द्वारा आनन्द के लिये लालायित करती हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि तन्त्र-वट के बीज प्राक् इतिहास-काल में अस्तित्त्व में थे। शनैः शनैः अवसर मिलने पर वे वैदिक युग तथा लौकिक संस्कृत वाङ्मय में उत्तरोत्तर विकसित होते रहे। यद्यपि तान्त्रिक वाङ्मय का बहुत कुछ भाग लुप्तप्राय हो चुका है, तथापि सम्प्रति इसका विपुल भण्डार प्राणियों के लिये कल्पवृक्ष रूप है।

—: ० :—

१. रामायण : युद्धकाण्ड, ८२/२७-२७।

२. तन्त्राज : स्टडीज़ आन दियर रिलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १७।

तान्त्रिक वाङ्मय का वर्गीकरण

वैदिक वाङ्मय के समान तान्त्रिक वाङ्मय भी बोधात्मक तथा वागात्मक है। तान्त्रिक वाङ्मय के आविर्भावक देव परमशिव ज्ञान और क्रिया नामक दो शक्तियों के समष्टिरूप हैं। ज्ञान-शक्ति, पर और अपर-भेद से दो प्रकार की है। पर ज्ञान बोध रूप और अपर ज्ञान वाग्रूप है। यही वागात्मक ज्ञान ही शास्त्र रूप में प्रतिष्ठित है।[1] 'सात्वत संहिता' के अनुसार परज्ञान को शिव की साक्षात् शक्ति तथा अपर ज्ञान को 'तन्त्र' कहा गया है।[2] शिव ही स्वयं सभी पदार्थजात में इच्छा-वशात् प्रकाश-विमर्श रूप क्रिया के प्रसार से युक्त होकर अनिरुद्ध के माध्यम से स्फुरित होता है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृ तचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसारः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ।[3]

सर्वप्रथम परम कारण रूप निष्कल शिव से बोध रूप ज्ञान का नादात्मक प्रसार होता है। यही नादात्मक प्रसार ही शास्त्र रूप में प्रतिष्ठित है। नाद रूप प्रसृत इस ज्ञान की पांच धारायें हैं—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व। ये धारायें आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। एक और धारा का भी उल्लेख प्राप्त होता है—अधः, जिसे सम्मिलित कर 'षडाम्नाय' की परम्परा विकसित होती है।

सम्पूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय के मूल स्रोत रूप तीन देवता हैं—शिव, शक्ति और विष्णु। उन्हीं से तान्त्रिक वाङ्मय तीन भागों में विभक्त हुये—शैव, शाक्त और वैष्णव। उत्तरोत्तर शनैः-शनैः इन तीनों के अनेक उप-विभाग होते गये तथा उन सबके परस्पर सांकर्य से विपुल तन्त्र साहित्य का विकास हुआ। शैव और शाक्त दोनों आगम मूलतः परम शिव के पांच मुखों से आविर्भूत हुये माने जाते हैं। सर्वप्रथम शिव के ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर नामक पांच मुखों से सिद्ध, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक पांच शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उक्त पांच मुखों के संघटन से १० भेद, १८ भेदाभेद तथा ६४ अभेद दशाओं की उत्पत्ति बताई जाती हैं और इन्हीं दशाओं की संख्या-क्रम में १० शैवागम, १८ रुद्रागम तथा ६४ भैरवागमों का आविर्भाव बताया जाता है। भेद-दशा के अधिष्ठातृ देव शिव, भेदाभेद दशा के रुद्र तथा अभेद-दशा के भैरव हैं। शास्त्र का

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ४४।

२. वही।

३. शिवदृष्टि, १/२।

अवतरण परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों के माध्यम से शनैः-शनैः होता है। परावाक् शुद्ध बोध रूपा है। अनन्त शास्त्र इसी में अन्तर्भूत रहते हैं। पश्यन्ती अवस्था में वाच्य-वाचक-भाव रहित 'अहं' का विमर्शन अन्तर्हृदय में होता है। मध्यमा की भूमि में समस्त शास्त्र वाच्य-वाचक-भाव के रूप में उल्लसित तो होते हैं, किन्तु अस्फुट अवस्था में। अभी यहाँ परमेश्वर स्वयं सदाशिव नाम से गुरु रूप में तथा ईश्वर नाम से शिष्य रूप में आविर्भूत होते हैं। यहीं सदाशिव चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियों को पाँच मुखों के रूप में प्रकट करते हैं तथा यहीं भेद, भेदाभेद और अभेद दशाओं का आविर्भाव होता है। यह सब अस्फुट अवस्था ही है। इसके बाद वैखरी वाक् के द्वारा वही अस्फुटवाच्य-वाचक-भाव रूप शास्त्र अवतरित होता है।[1]

तान्त्रिक वाङ्मय का भण्डार इतना विपुल है, कि उसका वर्गीकरण करना स्वयं अपने में अलग गवेषणा का विषय है, क्योंकि इसका वर्गीकरण सम्प्रदाय, शैली, आचार, क्षेत्र आदि की दृष्टि से अनेक प्रकार का हो जाता है। इसलिये आवश्यक है कि हम उन-उन उपशीर्षकों के अन्तर्गत तन्त्रों के वर्गीकरण पर चर्चा करें। तान्त्रिक साहित्य के वर्गीकरण के कई आधार हो सकते हैं, जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—

१. शैली मूलक।
२. सम्प्रदाय मूलक।
३. क्षेत्र मूलक।
४. उपास्यदेव-भेद मूलक।
५. बौद्ध तन्त्र।

१. शैली मूलक वर्गीकरण

हमें समग्र तान्त्रिक वाङ्मय अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है। यथा आगम, यामल, अर्णव, डामर, उड्डाल, उड्डीश, कल्प, अवतार, सागर, कल्पका, उपसंख्या, संहिता, तत्त्व, उपसंहिता, कक्षपुटी, अमृत, दर्पण, विमर्शिनी, चूडामणि, चिन्तामणि, पाञ्चरात्र, अवतारणक, सूक्त, उपसंज्ञा, कल्पद्रुम, कामधेनु, सभाव, अर्णवक, मत, अष्टक, सूत्र, आम्नाय, दर्शन, पर्याय आदि। इन विभिन्न शैलियों में कुछ का ही विवरण दे सकना यहाँ सम्भव हो पा रहा है, क्योंकि अधिकांश तो लुप्त हो चुके हैं। अब उनका केवल संकेत या नामोल्लेख ही प्राप्त होता है।

(अ) आगम

तान्त्रिक वाङ्मय का सर्व प्राचीन साहित्य 'आगमों' के रूप में प्राप्त होता

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ४५-४६।

है। आगमों के वर्गीकरण के मूल में तीन देवता—शिव, शक्ति और विष्णु प्रमुख थे। इन्हीं देवताओं से शिवागम या शैवागम, शाक्तागम और वैष्णवागम का आविर्भाव होता है।

(क) शैवागम

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि परम शिव के ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर आदि पाँच मुखों से उत्पन्न चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया आदि पांच शक्तियों की सहायता से १० भेद, १८ भेदाभेद और ६४ अभेद दशाओं का आविर्भाव होता है। ये भेद, भेदाभेद तथा अभेद दशायें ही शिवागमों की जनयित्री हैं। ऐसी मान्यता है कि श्रीकण्ठ के निर्देश पर दुर्वासा ने अपने मानस-पुत्रों में आगमिक ज्ञान का आविर्भाव कराया। शैवागमों की संख्या ६४ बताई जाती है।[1] व्यापक दृष्टि से शैवागमों की संख्या पर विचार करें तो यह संख्या १० मे लेकर ९२ तक दिखाई पड़ती है, जबकि शैवपरक तन्त्र, उपतन्त्र, संहिता, यामल, डामर आदि की संख्या तो असंख्य है। सनत्कुमार संहिता के अनुसार शैवागम के दो भेद हैं—श्रौत और अश्रौत। 'श्रौत' शैवागम श्रुतिसारमय है तथा इसके भी दो भेद हैं—स्वतंत्र और इतर। 'स्वतंत्र' भी प्रथमतः १० प्रकार का तथा 'सिद्धान्त' रूप में १८ प्रकार का माना जाता है। 'इतर', जो श्रुतिसार है, शतकोटि की संख्या वाला है—

श्रौताश्रौतविभेदेन द्विविधस्तु शिवागमः।
श्रुतिसारमयः श्रौतः सः पुनर् द्विविधो मतः॥
स्वतन्त्र इतरश्चेति स्वतन्त्रो दशधा पुरा।
तथाऽष्टदशधा पश्चात् सिद्धान्त इति गीयते॥
इतरः श्रुतिसारस्तु शतकोटिप्रविस्तरः।[2]

उक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि मूल शैवागमों की संख्या २८ है। इस विधा से सम्बद्ध उपागमों की संख्या २०७ बताई जाती है।[3] शिव की भेद, भेदाभेद तथा अभेद दशाओं के अधिष्ठातृ देव क्रमशः शिव, रुद्र तथा भैरव से सम्बद्ध आगमों की संख्या इस प्रकार है[4]—

(i) शिवागम—

शिव की भेद दशाओं पर आधृत शिवागमों की संख्या १० है—१. कामिक,

---

१. कश्मीर शौविज्म—एल० एन० शर्मा, पृ० ५३।
२. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ५६ पर उद्धृत।
३. वही, पृ० ५७।
४. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ४७-४८।

२. योगज, ३. चिन्त्य, ४. मुकुट, ५. अंशुमत, ६. दीप्त, ७. अजित, ८. सूक्ष्म, ९. सहस्र, १०. सुप्रभेद।

(ii) रुद्रागम—

शिव की भेदाभेद प्रधान दशाओं के आधार पर रुद्रागमों की संख्या १८ बताई जाती है—१. विजय, २. निःश्वास, ३. मद्गीत, ४. पारमेश्वर, ५. मुखबिम्ब, ६. सिद्ध, सन्तान, ८. नारसिंह, ९. चन्दांशु, १०. वीरभद्र, ११. आग्नेय, १२. स्वयम्भू, १३. विसर, १४. रौरव, १५. विमल, १६. किरण, १७. ललित, १८. सौमेय।

किरणागम के अनुसार उक्त दश शिवागम तथा अठारह रुद्रागम का विवरण इस प्रकार मिलता है—

शैवागम—१. कामिक, २. योगज, ३. चिन्ता, ४. कारण, ५. अजित, ६. दीप्त, ७. सूक्ष्म, ८. सहस्र, ९. सुप्रभेद, १०. अंशुमत।

रुद्रागम—१. विजय, २. पारमेश, ३. निःश्वास, ४. प्रोद्गीत, ५. मुखबिम्ब, ६. सिद्धमत, ७. संतान, ८. नारसिंह, ९. चन्द्रहास, १०. भद्र, ११. स्वायम्भुव, १२. विरज, १३. कौरव्य, १४. मुकुट, १५. किरण, १६. ललित, १७. आग्नेय और १८. पर।

(iii) भैरवागम—

शिव के दक्षिणी वक्त्र को 'योगिनी वक्त्र' कहते हैं। यह शिव का अद्वय और संघट्ट रूप है। यहाँ से शिव की ६४ अद्वय दशाओं का उन्मेष होता है, जिन्हें 'भैरवावस्था' कहते हैं। यह दशा अन्य चार मुखों का अद्वय रूप ही समझी जानी चाहिये। चारों वक्त्रों में प्रत्येक के चार रूप हैं—उद्भवोन्मुख, उद्भूत, तिरोधानोन्मुख और तिरोहित। उन चारों वक्त्रों में इस प्रकार १६ भेद निहित हैं। चारों वक्त्र जब एक ही में अन्तर्लीन होकर परस्पर मिलते हैं, उस समय ६४ प्रकार की अद्वयप्रधान भैरव अवस्थायें उत्पन्न होती हैं। दक्षिणी वक्त्र में जब एक ही समय में शेष चारों वक्त्रों का लय होता है, तब भैरवागमों का आविर्भाव होता है। दक्षिणी वक्त्र या योगिनी वक्त्र से आविर्भूत होने के कारण शिव-शक्ति के ऐक्य की प्रधानता से ये आगम शिव-शक्ति अद्वयपरक माने जाते हैं। इसीलिये इनमें से कुछ शाक्त मत से भी सम्बद्ध हो जाते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

१. भैरवाष्टक—स्वच्छन्द, भैरव, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, असितांग, महोच्छुष्म और कंकालीश।

२. यामलाष्टक—ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, आथर्वण, वेताल और स्वच्छन्द।

३. मताख्याष्टक—रक्ताख्य, लम्पटाख्य, लक्ष्मी, मत, चालिका, पिंगल उत्फुल्लक और विश्वाद्य।

४. मंगलाष्टक—भैरवी, पिचुतन्त्र, समुद्भव, ब्रह्मीकला, विजया, चन्द्राख्या, मंगला और सर्वमंगला।

५. चक्राष्टक—मन्त्रचक्र, वर्णचक्र, शक्तिचक्र, कलाचक्र, विन्दुचक्र, नादचक्र, गुह्यचक्र और खचक्र।

६. शिखाष्टक—भैरवी, वीणा, वीणामणि, सम्मोह, डामर, आथर्वक, कवन्ध और शिरश्छेद।

७. बहुरूपाष्टक—अन्धक, रुरुभेद, अजाख्य, मलसंज्ञक, वर्णकण्ठ, विडंग, ज्वालिन् और मातृरोदन।

८. वागीशाष्टक—भैरवी, चित्रिका, हंसाख्य, कादम्बिका, हृल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्युल्लेखा और विद्युन्मान्।

इसे सदाशिवचक्र कहते हैं। शिव के प्रत्येक मुख में पांच अवान्तर भेद हैं। शैवागमों के उपभेद असंख्य हैं।[1] कामिक-आगम के अनुसार सदाशिव के प्रत्येक मुख से पाँच स्रोतों का निर्गम माना जाता है, जो लौकिक, अलौकिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग तथा मन्त्रात्मक-मार्गों में विभक्त है। चूंकि मुख पाँच हैं, इसलिए कुल स्रोतों की संख्या २५ है।[2]

नेपाल दरबार लाइब्रेरी में उपलब्ध 'निःश्वास संहिता' नामक ग्रन्थ पांच सूत्रों में विभक्त है—[3] लौकिक धर्मसूत्र, मूलसूत्र, उत्तरसूत्र, नयसूत्र और गुह्यसूत्र। उत्तरसूत्र में अठारह शिव सूत्रों के नाम उल्लिखित हैं, जो आगम ही हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. विजय, २. निःश्वास, ३. स्वायम्भुव, ४. वाथुल, ५. वीरभद्र, ६. रौरव, ७. माकुट, ८. विरस, ९. चन्द्रहास, १०. ज्ञान, ११. मुखबिम्ब, १२. प्रोद्गीत, १३. ललित, १४. सिद्ध, १५. सन्तान, १६. सर्वोद्गीत, १७. किरण और १८. पारमेश्वर।

'ब्रह्मयामल' में आगमों के नाम इस प्रकार हैं—[4] विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, वाथुल, वीरभद्र, रौरव, मुकुट, वीरेश, चन्द्रज्ञान, प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध-सन्तान, सर्वोद्गीत, किरण और पारमेश्वर। यह संख्या १५ ही है। उक्त वर्गीकरण में चन्द्र-ज्ञान को दो तथा सिद्ध-सन्तान को दो गिनें तो संख्या १७ तक पहुँचती है। तब भी १८ आगमों के विवरण में एक की कमी रहती है।

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ४८।
२. तान्त्रिक साहित्य, (भूमिका), पृ० १५।
३. वही, पृ० १८।
४. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० ३०५।

'शतरत्न संग्रह' में जिन विभिन्न शैवागमों के उपलब्ध श्लोकों का संग्रह किया गया है, उन आगमों के नाम इस प्रकार हैं—

देवीकालोत्तर, देव्यामल, कालोत्तर, किरण, मतंग, मृगेन्द्र, निःश्वास, पराख्य, सर्वज्ञानोत्तर, स्वायम्भुव तथा विश्वसारोत्तर।[1]

शक्तिसङ्गम तन्त्र (छिन्नमस्ता खण्ड)[2] में जिन आगमों का उल्लेख हुआ है, उनके नाम इस प्रकार हैं—चीनागम, बौद्धागम, जैनागम, पाशुपत, कापालिक, पाषण्ड, पाञ्चरात्र, अघोर, मञ्जुघोष, भैरव, बटुक, संजीविनी, सिद्धेश्वर, नीलवीर, मृत्युञ्जय, मायाविहार, विश्वरूप, योगरूप, विरूप, यक्षिणी और निग्रह।

(ख) शाक्तागम—

शक्ति तत्त्व की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता ऋग्वेद के देवी, रात्रि तथा सरस्वती सूक्त से सिद्ध होती है। यजुर्वेद में शिवा को कल्याण रूपा कहा गया है।[3] शतपथ ब्राह्मण भी देवी के वर्णन से ओत-प्रोत है।[4]

सम्मोहन तन्त्र (पटल ६) के अनुसार शाक्त मत से सम्बद्ध तन्त्रों की संख्या ६४ मानी जाती है। इसके अतिरिक्त इस शाखा में ३२७ उपतन्त्र तथा बहुत से यामल, डामर, संहितायें तथा अन्य शाक्त शास्त्र हैं।[5] जिन तन्त्रों को इस मत में समाविष्ट किया गया है, उनका वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। सौन्दर्यलहरी भी ६४ तन्त्रों की ओर संकेत करती है,[6] जिनकी टीका करते हुये लक्ष्मीधर ने वामकेश्वर तन्त्र से ६४ तन्त्रों की सूची प्रस्तुत की है[7]—१. महामाया, ३. शम्बर, ३. योगिनीजालशम्बर, ४. तत्वशम्बर, ५. सिद्धभैरव, ६. वटुकभैरव, ७. कंकालभैरव, ८. कालभैरव, ९. कालाग्निभैरव, १०. योगिनीभैरव, ११. महाभैरव, १२. शक्ति भैरव, १३. ब्राह्मी, १४. माहेश्वरी, १५. कौमारी, १६. वैष्णवी, १७. वाराही, १८. माहेन्द्री, १९. चामुण्डा, २०. शिवदूती, २१-२८. यामलाष्टक, २९. चन्द्र ज्ञान, ३०. मालिनी विद्या, ३१. महासम्मोहन, ३२. वामजुष्ट, ३३. महादेव तन्त्र, ३४. वातुल, ३५. वातुलोत्तर, ३६. कामिक, ३७. हृद्भेद,

---

१. शतरत्नसंग्रह, पृ० ११४।
२. शक्तिसङ्गम०, पृ० ८३-८४।
३. शक्ति तत्त्व, पृ० २१।
४. वही, पृ० २७।
५. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ६०।
६. वही, श्लोक सं० ३१।
७ सौन्दर्यलहरी, ३१ (लक्ष्मीधारा), पृ० १३७।

३८. तन्त्र भेद, ३९. गुह्यतन्त्र, ४०. कालावाद, ४१. कलासार, ४२. कुब्जिकागम, ४३. मतोत्तरमत, ४४. वीणाख्य, ४५. त्रोतल, ४६. त्रोतलोत्तर, ४७. पञ्चामृत, ४८. रूपभेद, ४९. भूतोड्डामर, ५०. कुलसार, ५१. कुलोड्डीश, ५२. कुलचूडामणि, ५३. सर्वज्ञानोत्तर, ५४. महाकाली मत, ५५. अरुणेश, ५६. मोदिनीश, ५७. विकुण्ठेश्वर, ५८. पूर्णपक्ष, ५९. पश्चिमपक्ष, ६०. उत्तरपक्ष, ६१. निरुत्तर, ६२. विमल, ६३ विमलोत्थ, तथा ६४. देवीमत।

सर्वानन्द नाथ ने 'तोडलोत्तर तन्त्र' के अनुसार ६४ तन्त्रों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की है[1]—

१. काली तन्त्र, २. मुण्डमाला, ३. तारा, ४. निर्वाण, ५. शिवसार, ६ वीर तन्त्र, ७. लिङ्गार्चन, ८. लतार्चन, ९. तोडल, १०. नील तन्त्र, ११. राधातन्त्र, १२. विश्वसार, १३. भैरव, १४. भैरवी तन्त्र, १५. सिद्धेश्वर, १७. मातृभेद, १७. समया, १८. गुप्तसाधन, १९. मातृका, २०. माया, २१. महामाया, २२. अक्षया, २३. कुमारी, २४. कुलार्णव, २५. कालिकाकुलसर्वस्व, २६. कालिकाकल्प, २७. वाराही, २८. योगिनी, २९. योगिनीहृदय, ३०. सनत्कुमार, ३१. त्रिपुरासार, ३२. योगिनीविजय, ३३. मालिनी, ३४. कुक्कुट; ३५. श्रीगणेश, ३६. भूततन्त्र, ३७. उड्डीश, ३८. कामधेनु, ३९. उत्तम, ४०. वीरभद्र, ४१. वामकेश्वर, ४२. कुलचूडामणि, ४३. भावचूडामणि, ४४. ज्ञानार्णव, ४५. वरदातन्त्र, ४६. चिन्तामणि, ४७. कालीविलास, ४८. हंस तन्त्र, ४९. चिदाम्बरतट, ५०. विज्ञापन, ५१. फेत्कारिणी. ५२. नित्या, ५३. उत्तर, ५४. नारायणी, ५५. ऊर्ध्वाम्नाय, ५६. ज्ञानद्वीप, ५७. गौतमीय, ५८. निरुत्तर, ५९. गान्धर्व, ६०. कुब्जिका, ६१. बृहत्श्रीक्रम, ६२. स्वतन्त्र, ६३. योनि तन्त्र और ६४. कामाख्या तन्त्र।

इसके अतिरिक्त 'श्रीतत्त्वनिधि' नामक ग्रन्थ के अनुसार कुछ वैदिक तान्त्रिक तथा कुछ अवैदिक तान्त्रिक ग्रन्थों की सूची दी गई है, जिनमें ३१ तन्त्र वेद मूलक तथा ३३ तन्त्र अवेद मूलक हैं।[2] इससे भिन्न ६४ तन्त्रों की सूची अलग से भी दी गई है, जो लक्ष्मीधर द्वारा प्रस्तुत सूची के लगभग समान है।[3] सौन्दर्यलहरी की एक गौर्जर टीका में भी ६४ तन्त्रों की सूची प्राप्त होती है, जो किञ्चित् पाठ-भेद से लक्ष्मीधर सम्मत सूची के समान है।[4]

---

१. सर्वोल्लास तन्त्र, २/६।

२. परशुराम कल्पसूत्र (द्वितीय परिशिष्ट), पृ० ३३१-३३२ पर उद्धृत।

३. वही, पृ० ३३२-३३३ पर उद्धृत।

४. वही, पृ० ३३३ पर उद्धृत।

महामाया, शम्बर, योगिनी, जालशम्बर, तत्त्वशम्बर, भैरवाष्टक, बहुरूपाष्टक, यामलाष्टक, चन्द्रज्ञान, मालती, महासम्मोहन, वामजुष्ट, महादेव, वातुल, वातुलोत्तर, हृद्भेद, तन्त्रभेद, गुह्यतन्त्र, कामिक, कलावाह, कलासार, कुण्डिकामत, मतोत्तर, वीणाख्य, त्रोतल, त्रोतलोत्तर, पञ्चामृत, रूपभेद, भूतोड्डामर, कुलाचार, कुलोद्दिश, कुलचूडामणि, सर्वज्ञानोत्तम, महाकालीमत, अरुणेश, मोहिनीश, त्रिकुटीश्वर, पूर्व, पश्चिम, दक्ष, उत्तर, निरुत्तर, विमल, विमलोच्छ, देवीमत।

ये सभी शाक्त तन्त्र शक्ति की प्रधानता से युक्त हैं। यही शक्ति शिव से उत्पन्न होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि के लिये विजृम्भण करती हैं। इसलिये तात्त्विक दृष्टि से शैव और शाक्त तन्त्र बहुत भिन्न नहीं हैं।[1]

(ग) वैष्णवागम—

इन आगमों के अधिष्ठातृ देव विष्णु हैं। वैष्णव आगम को सर्वप्रथम दो भागों में विभक्त किया जाता है—वैखानस और पाञ्चरात्र। 'हयशीर्षपाञ्चरात्र' में वैखानस तथा पाञ्चरात्र से भिन्न सात भागवत संहिताओं का उल्लेख मिलता है—

१. अष्टाक्षर, २. तन्त्रभागवत, ३. शिवोक्त, ४. विष्णुभाषित, ५. पद्मोद्भव, ६. पुराण, ७. वाराह।[2]

(I) वैखानस—

कहा जाता है कि नारायण से विखानस के आगमों का उपदेश पाकर ब्रह्मा स्वयं वैखानस हो गये। यह आगम विखानस ऋषि द्वारा प्रवर्तित माना जाता है। इस आगम का प्रारम्भिक साहित्य वैखानस सूत्र है, जिसका मूल वेद की वैखानस शाखा है।[3] वैखानस सूत्रों के आधार पर जिन चार महर्षियों ने आगमों की रचना की, उनके नाम हैं—काश्यप, अत्रि, भृगु और मरीचि। इन्हीं से वैखानस आगम का विकास माना जाता है।

(II) पाञ्चरात्र—

आचार्य शङ्कर पाञ्चरात्र आगमों को वेदविरुद्ध मानते हैं, किन्तु रामानुज ने उनकी आपत्तियों का उत्तर देते हुये इन आगमों की वेदमूलकता सिद्ध किया है। इस विषय में प्रमाण भी है—

श्रुतिमूलमिदं तन्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत्।[4]

---

१. शिवयोगदीपिका, १/२।

२. हयशीर्षपाञ्चरात्र, २/७-९।

३. लक्ष्मीतन्त्रः—धर्म और दर्शन, पृ० १५।

४. न्यायपरिशुद्धि, द्वितीय सम्पुट, पृ० १३८।

पाञ्चरात्र आगमों की मूलभूत श्रुति का नाम एकायन श्रुति या एकायन वेद है। इसे शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत माना जाता है।[1] पाञ्चरात्र के अनुयायियों को भागवत, सात्वत, एकान्तिन् तथा परमैकान्तिन् भी कहते हैं।[2] पाञ्चरात्र शास्त्र मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित होता है—दिव्य, मुनिभाषित, मानव। दिव्य शास्त्र के अन्तर्गत सात्वत संहिता, जयाख्य संहिता तथा पौष्कर संहिता आती है। मुनिभाषित संहिताओं में ईश्वर संहिता, पारमेश्वर संहिता, भारद्वाज संहिता, अत्रि संहिता आती है। मुनिभाषित के अवान्तर भेद भी हैं—सात्त्विक, राजस, तामस।

पाञ्चरात्र साहित्य का एक और प्रकार से विभाजन प्राप्त होता है—१. आगम, २. मन्त्र, ३. तन्त्र, ४. तन्त्रान्तर। कहीं-कहीं आगम को वेद सिद्धान्त, मन्त्र को दिव्य सिद्धान्त, तन्त्र को तन्त्र सिद्धान्त तथा तन्त्रान्तर को पुराण सिद्धान्त कहा गया है।[3] उक्त चार प्रकार के विभाजन का एक दूसरा भी नामकरण किया गया दिखाई पड़ता है—१. आगम सिद्धांत को स्वयं व्यक्त, २. मंत्र सिद्धांत को दिव्य, ३. तंत्र सिद्धांत को सैद्ध तथा ४. तंत्रांतर सिद्धांत को आर्ष कहा जाता है। परम्परा के अनुसार पाञ्चरात्र आगम की १०८ संहितायें मानी गई हैं। डा० श्रैडर के अनुसार कपिञ्जल संहिता में १०६ संहिताओं का, पाद्मतन्त्र में ११२ संहिताओं का, विष्णु तंत्र से १४१ संहिताओं का, अग्निपुराण में २५ संहिताओं का तथा हयशीर्ष संहिता में ३४ संहिताओं का उल्लेख मिलता है।[4] विष्णुतन्त्र के अन्तर्गत नव तन्त्रों का उल्लेख मिलता है—१. पाद्म तन्त्र, २. विष्णुतन्त्र, ३. कपिञ्जल संहिता, ४. ब्रह्मसंहिता, ५. मार्कण्डेय संहिता, ६. श्रीधर संहिता, ७. परम तन्त्र, ८. भारद्वाज संहिता तथा ९. नारायण तन्त्र। इसी प्रकार पाद्मतन्त्र के अन्तर्गत छः तन्त्रों को श्रेष्ठ बताया गया है—१. पाद्मतन्त्र, २. सनत्कुमार संहिता, ३. परमसंहिता, ४. पद्मोद्भव संहिता, ५. महेन्द्र तन्त्र तथा ६. कण्ठ संहिता।

(ब) आम्नाय

कुलार्णव तन्त्र के अनुसार सभी शास्त्रों का आदि होने के कारण, मनोल्लास के प्रवर्द्धन के कारण तथा यज्ञादि धर्म का हेतु होने के कारण इस शास्त्र को 'आम्नाय' कहते हैं—

---

१. लक्ष्मीतन्त्रः—धर्म और दर्शन, पृ० २३।
२. पाद्म संहिता, ४/२/८८।
३. लक्ष्मीतन्त्रः—धर्म और दर्शन, पृ० ३७।
४. इन्ट्रोडक्शन टु पाञ्चरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्यसंहिता, पृ० ५।

आदित्वात् सर्वमार्गाणां मनोल्लासप्रवर्द्धनात् ।
यज्ञादिधर्महेतुत्वादाम्नाय इति कीर्तितः ।।[१]

आम्नाय और वेद—दोनों पर्याय भी माने जाते हैं। 'आम्नाय' की संख्या के विषय में मतैक्य नहीं है। कहीं इसकी संख्या चार मानकर इन चारों से श्रेष्ठ पञ्चम आम्नाय-ऊर्ध्वाम्नाय को बताया गया है।[२] आम्नाय के भेद इस प्रकार हैं—

पूर्वश्च पश्चिमश्चैव दक्षिणश्चोत्तरस्तथा ।
ऊर्ध्वाम्नायश्च पञ्चैते मोक्षमार्गाः प्रकीर्तिताः ।।[3]

पञ्चाम्नाय इस प्रकार हैं—१. पूर्वाम्नाय, २. पश्चिमाम्नाय, ३. दक्षिणाम्नाय, ४. उत्तराम्नाय और ५. ऊर्ध्वाम्नाय।

वामकेश्वरतन्त्रान्तर्गत नित्याषोडशिकार्णव तन्त्र में पूर्व, पश्चिम, दक्ष, उत्तर और निरुत्तर नामक पाँच आम्नायों का उल्लेख है।[४] भास्कर राय ने निरुत्तर पद से ऊर्ध्वाम्नाय ही स्वीकार किया है। वे यह भी मानते हैं कि 'अनुत्तर' पद से भी उसी (उर्ध्वाम्नाय) का व्यवहार समझना चाहिये। किन्तु 'श्रीतत्त्वनिधि' में ऊर्ध्वाम्नाय से अनुत्तर आम्नाय को भिन्न कहा गया है और इस प्रकार वहाँ 'षडाम्नाय' की प्रतिष्ठा है—

पूर्वाम्नायाह्वयं दक्षिणाऽऽम्नायाख्यमनुत्तमम् ।
पश्चिमाम्नायकाभिख्यमुत्तराम्नायनामकम् ।।[५]

'निर्वाण तन्त्र' के अनुसार शिव के पश्चिम मुख-सद्योजात से पश्चिमाम्नाय, उत्तर मुख-वामदेव से उत्तराम्नाय, दक्षिणमुख-अघोर से दक्षिणाम्नाय, पूर्वमुख तत्पुरुष से पूर्वाम्नाय और मध्यमुख-ईशान से उर्ध्वाम्नाय का आविर्भाव हुआ।[६] छठे अधराम्नाय का आविर्भाव कालाग्निरुद्र-मुख से हुआ बताया जाता है।[७] पूर्वाम्नाय और दक्षिणाम्नाय पशुभाव के लिये, पश्चिमाम्नाय पशु तथा वीर भाव के लिये, उत्तराम्नाय दिव्य तथा वीर भाव के लिये और ऊर्ध्वाम्नाय दिव्य भाव के साधक के लिये उपयोगी होता है। सभी आम्नाय के देवता के लिये मन्त्र-जप के

---

१. कुलार्णवतन्त्र, १७/४८।
२. वही, ३/१६।
३. वही, ३/७।
४. परशुरामकल्पसूत्र, द्वितीय परिशिष्ट, पृ० ३३६ पर उद्धृत।
५. वही, पृ० ३३७।
६. तन्त्रकल्पतरु, पृ० ६८ पर उद्धृत।
७. साधना और आम्नाय, पृ० ४८।

लिये विभिन्न प्रकार की माला का विधान है। पूर्वाम्नाय के देवता के लिये स्फटिक की माला, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय और ऊर्ध्वाम्नाय के देवता के लिये क्रमशः रुद्राक्ष, मुक्ता तथा महाशंख की माला से जाप करना चाहिये।[1] इन्हीं पाँच आम्नायों में २८ आगमों का अन्तर्भाव किया जाता है—

१. पश्चिमाम्नाय—कामिक, योग, चिन्त्य, कारण और अजित।
२. उत्तराम्नाय—दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमान् और सुप्रभेद।
३. दक्षिणाम्नाय—विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, पर और वीर।
४. पूर्वाम्नाय—रौरव, मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान और बिम्ब।
५. ऊर्ध्वाम्नाय—प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोक्त, पारमेश्वर, किरण और वातुल।

शक्तिसङ्गमतन्त्र के अनुसार—'षडाम्नाय' की ही मान्यता है—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व और पाताल या अधः।[2]

पूर्वा दक्षिणा पाशी च उत्तरा च चतुर्थिका।
ऊर्ध्वा तु पञ्चमी प्रोक्ता षष्ठी पातालसंज्ञिका॥[3]

शक्तिसङ्गम तन्त्र (छिन्नमस्ताखण्ड) के पञ्चम तथा षष्ठ पटल में उक्त आम्नाय के अन्तर्गत विभिन्न शक्तियों की चर्चा की गई है।

अब हम षडाम्नाय में वर्गीकृत विद्याओं और तन्त्रों की चर्चा करना चाहेंगे—

पूर्वाम्नाय :—

सम्मोहन तन्त्र के सातवें पटल में 'तान्त्रिकसाधन' पर चर्चा की गई है, जिनमें मुख्य हैं—वटुकमत, महामूर्ति मत, आम्नाय वर्ग, दीक्षाम्नाय, तथा दर्शन पर्याय।[4] वटुकमत के अन्तर्गत पूर्वाम्नाय की विद्यायें इस प्रकार हैं—गायत्री, ऐन्द्री, ब्रह्मविद्या, गन्धर्व, महागणपति, अर्द्धनारीश्वरी, मृत्युञ्जय, श्रुतिधरी, मातृका, सरस्वती, चण्डयोगेश्वरी, शाम्भवी, श्रीपरापरा, कामराजेश्वरी, त्रिपुरभैरवी, चैतन्यभैरवी, अघोरभैरवी, त्रिपुर निकृन्तभैरवी, अन्नपूर्णा, कुक्कुटा, शिवा और भोगवती। महामूर्तिमत के अन्तर्गत आने वाली विद्यायें इस प्रकार हैं—लोपा, अगस्त्य, मनु, मनु (द्वितीय), अगस्त्य विद्या (द्वितीय), चन्द्र, अगस्त्यविद्या (तृतीय),

---

१. साधना रहस्य, पृ० ८२।
२. शक्तिसङ्गमतन्त्र, सुन्दरी खण्ड, ३/१८२-१८७।
३. वही, छिन्नमस्ता खण्ड, ५/५८।
४. स्टडीज़ इन द तन्त्राज़, भाग १, पृ० १००-१०१।

नन्दीश्वर, सूर्य, विष्णु और दुर्वासा। आम्नाय वर्ग के अन्तर्गत तन्त्रों का विभाजन आम्नाय के अनुसार किया गया है। पूर्वाम्नाय में ६४ तन्त्र तथा ६७० उपतन्त्रों को स्वीकार किया है। दीक्षाम्नाय के अन्तर्गत पूर्वाम्नाय में लमया विद्या, श्रीविद्या, बाल त्रिपुरा, अन्नपूर्णा आदि विद्याओं के साथ १० तन्त्र तथा ५ उपतन्त्र का संकेत हैं। दर्शन पर्याय के अन्तर्गत पूर्वाम्नाय में १० शाक्त तन्त्र और ८ उपतन्त्र का उल्लेख किया गया है।

२. पश्चिमाम्नाय :—

इसके अन्तर्गत वटुकमत की विद्यायें इस प्रकार हैं—कुब्जिका, संकर्षिणी, क्रिया-संकर्षिणी, काल-संकर्षिणी, महाविद्या, शूलिनी और माधवी। महामूर्ति मत के अन्तर्गत विद्याओं के नाम इस प्रकार हैं—राजमातंगिनी, लघुवाराही, शूतिरस्कारिणी, स्वप्नवाराही, पादुका, वाराहीपादुका, जम्बुकिक्किका, शूका, वागेशी, शुकतुण्डा, मोहिनी, कीरादिनी और क्षेमङ्करी। आम्नायवर्ग की दृष्टि से इसमें ६६ उपतन्त्र हैं। दीक्षाम्नाय के अन्तर्गत इसमें वगला, महिषन्घा, महालक्ष्मी विद्याओं के साथ ८ तन्त्र तथा ९ उपतन्त्र समाविष्ट किये गये हैं। इसके अतिरिक्त महासरस्वती, वाग्वादिनी, प्रत्यङ्गिरा तथा भवानी आदि विद्याओं का भी उल्लेख हुआ है। दर्शन पर्याय के अन्तर्गत इस आम्नाय में समान संख्या वाले वैष्णव तन्त्र और उपतन्त्रों का समावेश किया गया है।

३. उत्तराम्नाय :—

वटुकमत की जिन विद्याओं को उत्तराम्नाय के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है, उनके नाम हैं—चण्ड-योगेश्वरी, चामुण्डा, रत्न विद्या और सिद्ध विद्या। महामूर्तिमत सम्मत विद्यायें इस प्रकार हैं—सुमूर्ति, पादुका, वार्तालि पादुका (वातालि पादुका), श्रीमहातिमिरावती, कालमाया और चामुण्डा। आम्नायवर्ग के अन्तर्गत इसमें २५ तन्त्र तथा ३६४ उपतन्त्रों को स्वीकार किया जाता है। दीक्षाम्नाय की दृष्टि से इसमें २० तन्त्र तथा ८ उपतन्त्रों के साथ कालिका, तारा, मातङ्गिनी, भैरवी, छिन्नमस्ता और धूमावती विद्यायें उल्लिखित हैं। दर्शन पर्याय की दृष्टि से गाणपत्यमत के ७० तन्त्र तथा उपतन्त्र हैं।

४. दक्षिणाम्नाय :—

वटुकमत की विद्यायें इस प्रकार हैं—माया, मायावती, रमा, धनदा, शवरी, दुर्गा और रेणुका। महामूर्तिमत के अनुसार विद्याओं के नाम इस प्रकार हैं—वाग्वादिनी, चाण्डाली, सुमुखी, मातङ्गिनी और माहेश्वरी। आम्नायवर्ग के अन्तर्गत ४०० तन्त्र तथा ३७५ उपतन्त्र है। दीक्षाम्नायके २० तन्त्र, ३ उपतन्त्र तथा २२ प्रकार की पराविद्या दक्षिणाम्नाय के अन्तर्गत स्वीकार की जाती हैं। दर्शन पर्याय के ५० शैव तन्त्र तथा ५ उपतन्त्र इसके अन्तर्गत हैं।

५. ऊर्ध्वाम्नाय :—

वटुकमत की विद्यायें इस प्रकार हैं—साम्राज्य सुन्दरी, राजराजेश्वरी और महासाम्राज्य विद्या। महामूर्तिमत की विद्याओं के नाम हैं—षोडशी, श्रीपराविद्या चरणरूपिणी और छः शाम्भव विद्या। आम्नायवर्ग के ६४ तन्त्र और ८५ उपतन्त्र ऊर्ध्वाम्नाय के अन्तर्गत आते हैं। दर्शन पर्याय के १२ सौर तन्त्र तथा १० उपतन्त्र ऊर्ध्वाम्नाय के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं।

६. पातालाम्नाय :—

इसके अन्तर्गत वटुकमत की विद्यायें इस प्रकार हैं—यक्षिणी, किन्नरी, सिद्धि, पूतना, कवचा तथा कूष्माण्डिनी। आम्नायवर्ग के १०५ तन्त्र तथा ७०० उपतन्त्र इसके अन्तर्गत आते हैं। दीक्षाम्नाय की नागशक्ति के साथ ९ तन्त्र तथा २ उपतन्त्र इसके अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं। दर्शन पर्याय के १०० बौद्ध तन्त्र तथा ६३ उपतन्त्र इसके अन्तर्गत माने जाते हैं।

उक्त षडाम्नाय के अतिरिक्त अन्य बहुत से आम्नाय और भी हैं, जिनमें छः प्रमुख हैं तथा वे ऊर्ध्वाम्नाय के समान नहीं हैं—

आम्नाया बहवः सन्ति नोदर्ध्वाम्नायेन ते समाः।[1]

ये सभी आम्नाय मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। ये आम्नाय मानव शरीर के षट्चक्र स्थानों में निर्दिष्ट किये गये हैं। मूलाधार में अधराम्नाय, स्वाधिष्ठान में पूर्वाम्नाय, मणिपूर में दक्षिणाम्नाय, अनहत में पश्चिमाम्नाय, विशुद्ध में उत्तराम्नाय तथा आज्ञा में ऊर्ध्वाम्नाय की अवस्थिति है। चक्रों में आम्नायों की अधिष्ठातृ देवियाँ भी हैं—महोग्रतारा, भुवनेश्वरी, दक्षिणकाली, कुब्जिका गुह्यकाली तथा बालामहात्रिपुरसुन्दरी।[2] विस्तृत विवरण के लिये प० रमादत्त शुक्ल द्वारा सम्पादित 'साधना और आम्नाय' दृष्टव्य है।[3]

(स) स्रोत

'ब्रह्मयामल' के ३९ वें अध्याय में तन्त्रों के स्रोतमूलक शास्त्रों का उल्लेख किया गया है। उसमें चार स्रोतों का उल्लेख है—१. दक्षिण स्रोत, २. वाम स्रोत, ३. मध्य स्रोत और ४. भैरव स्रोत। प्रारम्भिक तीन स्रोत शिव की शक्तियों से युक्त हैं। दक्षिण स्रोत सत्वगुणमय, वाम-रजस्‌गुणमय तथा मध्य स्रोत तमोगुणमय

---

१. कुलार्णव तन्त्र, ३/८।

२. साधना और आम्नाय, पृ० ४९।

३. शाक्त साधना पीठ, अलोपीबाग, प्रयाग से प्रकाशित।

है। इसलिये दक्षिण स्रोत के प्राणी शुद्ध, वाम के मिश्र तथा मध्यम स्रोत के अशेष-मलरञ्जित कहे जाते हैं। तीनों स्रोत क्रियाभेद के कारण भिन्न-भिन्न हैं। इन स्रोतों में तीन प्रकार के तन्त्र हैं—शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध। दक्षिण स्रोत में तीन कोटि मन्त्र, वाम स्रोत में सात कोटि मन्त्र तथा मध्यम स्रोत में साढ़े तीन कोटि मन्त्र सम्बद्ध हैं। ये श्रीकण्ठ आदि के द्वारा प्रवर्तित माने जाते हैं।

दक्षिण स्रोत शिव के दक्षिण मुख से आविर्भूत हुआ बताया जाता है। यह चार पीठ तथा शुद्ध-अशुद्ध भेद से विभक्त है। चार पीठों के नाम हैं—विद्यापीठ, मन्त्रपीठ, मुद्रापीठ और मण्डलपीठ। विद्यापीठ के अनुसार भैरव आठ हैं—स्वच्छंद, क्रोध, उन्मत्त, उग्र, कपाली, झङ्कार, शेखर और विजय। इस पीठ से सम्बद्ध आठ यामल हैं—रुद्र, स्कन्द, ब्रह्म, विष्णु, यम, वायु, कुबेर और इन्द्र। इस स्रोत के तन्त्रों के नाम हैं—योगिनीजाल, योगिनीहृदय, मन्त्रमालिनी, अघोरेशी, अघोरेश्वरी, क्रीडाघोरेश्वरी, लाकिनीकल्प, मारीचि, महामारी और उग्रविद्यागण। मन्त्रपीठ से सम्बद्ध भैरव इस प्रकार हैं—वीर, चण्ड, गुडका, महाभैरव और महावीरेश। मन्त्र और मुद्रापीठ परस्पर बहुत ही सम्बद्ध हैं। दोनों में केवल मन्त्रों का भेद है। मण्डलपीठ में शिव और रुद्र का वर्णन है।

मध्य स्रोत शिव के उर्ध्वमुख से आविर्भूत है। इससे ८ शिवागम और ८ रुद्रागम का आविर्भाव माना जाता है। शिवागमों के नाम इस प्रकार हैं—विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, वाथुल (वातुल), वीरभद्र, रौरव, माकुट और वीरेश। रुद्रागमों के नाम इस प्रकार हैं—चन्द्रज्ञान, बिम्ब, प्रोद्गीत, ललित, सिद्धसन्तान, सर्वोद्गीत, किरण और पारमेश्वर। ईश्वर ने विजय, देवी ने निःश्वास, ब्रह्म ने स्वायम्भुव और वीरभद्र, कुमार ने आग्नेय, नन्दी ने रौरव, महाकाल ने चन्द्रज्ञान, उशना ने वीरेश, दधीचि ने मूलविम्ब, कच ने प्रोद्गीत, ललिता ने ललित, ब्रह्मा ने किरण, विष्णु ने सर्वोद्गीत तथा परमेश्वर ने पारमेश्वर तन्त्रों का प्रवर्तन किया।

वाम स्रोत से निर्गत तन्त्रों के नाम हैं—[1] सम्मोह, नयोत्तर तथा शिरश्च्छेद। इससे अधिक सामग्री इस स्रोत में उपलब्ध नहीं होती है।

भैरव स्रोत[2] से अष्टयामलों का उद्भव होता है। यद्यपि ये यामल दक्षिण स्रोत से भी सम्बद्ध हैं। उनके नाम हैं—रुद्र, कन्द (स्कन्द), ब्रह्म, विष्णु, यम, वायु, कुबेर तथा इन्द्र। भैरव स्रोत के अन्य तन्त्र आठ भैरवों से प्रेरित हैं। उन्मत्त भैरव से जयद्रथ यामल का उद्भव माना जाता है, जो ब्रह्मयामल के परिशिष्ट रूप में स्वीकार किया जाता है। भैरव शिव के ही एक रूप हैं।[3]

---

१. स्टडीज़ इन द तन्त्राज़, भाग १, पृ० ६।

२. वही, पृ० ६-७।

३. वही, पृ० ८।

(द) यामल

शैलीमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत तन्त्रों की प्राचीन शैली पर आधृत 'यामल' ग्रन्थ है। निगम से आगम और आगम से यामल की उत्पति मानी जाती है।[१] यामल का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि चारों वेदों की उत्पत्ति इन्हीं से स्वीकार की जाती है। ब्रह्मयामल से सामवेद, रुद्रयामल से ऋग्वेद, विष्णुयामल से यजुर्वेद तथा शक्तियामल से अर्थर्ववेद की उत्पत्ति होती है।[२] यामल शास्त्र 'यामलाष्टक' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम हैं—ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, जयद्रथयामल, स्कन्दयामल, उमायामल, लक्ष्मीयामल, और गणेशयामल।[3] ध्यातव्य है कि यह संख्या भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार की है।

यामल एक प्रकार का शास्त्र है। सम्पूर्ण सृष्टि परम सत्ता का विलास है। सृष्टि की दो अवस्थायें हैं। १. परम सत्ता से अभिन्न रूप में संपृक्त प्रथम अवस्था है। २. परम सत्ता से भिन्न रूप में प्रकाशनमान द्वितीय अवस्था है। परम सत्ता से अभिन्न रूप में संपृक्त 'यामल सत्ता' कहीं जाती है। जहाँ दो तत्त्व यामल रूप में प्रकाशमान है, वहाँ उभय के मिलन से परम अद्वैत सत्ता का प्रकाशन होता है।[४] यामल शास्त्र के अवतरण का यही रहस्य है।

शैलीमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत अन्य नानाप्रकार के तन्त्र हैं। यथा—डामर, उड्डीश, अर्णव, संहिता, कल्प, मत, अष्टक, सूत्र, चूडामणि, चिन्तामणि आदि। कुछ का विवेचन हम सम्प्रदाय मूलक तन्त्रों के वर्गीकरण के अन्तर्गत करेंगे। तन्त्रों की एक शैली, जिसे 'चिन्तामणि' कहते हैं, में यन्त्रों का ही विवरण प्राप्त होता है।[५] इस प्रसङ्ग में कल्पचिन्तामणि, यन्त्रचिन्तामणि आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में षडभिचार प्रयोग (मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण और स्वस्त्ययन) का विस्तृत विवेचन किया गया है। तन्त्र और यन्त्र के समान एक विपुल साहित्य मन्त्र शास्त्र से भी सम्बद्ध है। इस प्रसङ्ग में प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक युग तक एक गम्भीर सर्वेक्षण की आवश्यकता है। सम्प्रति इस विषय में मन्त्र कौमुदी नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य है।[६]

---

१. सर्वोल्लास तन्त्र, १/२१।
२. वही, १/२९-३०।
३. नित्याषोडशिकार्णव तन्त्र, १/१४ की अर्थरत्नावली टीका।
४. महाकाल संहिता (काम कला खण्ड), भूमिका, पृ० ८।
५. कल्पचिन्तामणि, वश्याधिकार, श्लोक २८।
६. मन्त्र-कौमुदी— म० म० देवनाथ ठाकुर, मिथिला शोध संस्थान, दरभंगा से प्रकाशित तथा प्रपञ्चसार सार संग्रह—गीर्वाणेन्द्र, तंजोरसरस्वती महल सिरीज, नं० ९८।

२. सम्प्रदायमूलक वर्गीकरण

उपासना के क्रमिक विकास में प्रमुख रूप से शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य, गणपति आदि देवों की पूजा का प्रचलन हुआ। इन देवों से सम्बद्ध विभिन्न सम्प्रदायों का जन्म हुआ। यथा—शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर और गाणपत्य। इन सम्प्रदायों के सांकर्य से अन्य असंख्य मतों का विकास होता गया। शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत कश्मीर शिवाद्वैत, वीर शैव, सिद्धान्त शैव, कापालिक, कालानन, कालमुख, पाशुपत, सोमसिद्धान्त, सिद्ध, कौल, क्रम, त्रिक, स्पन्द, मिश्र आदि मतों का विकास देखा जाता है। शाक्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत कौल, मिश्र और समय मत को स्वीकार किया जाता है।[1] क्षेत्र की दृष्टि से शाक्त मत केरल, कश्मीर, गौड तथा विलास—इन चार भागों में विभक्त हैं। वैष्णव मत मुख्य रूप से वैखानस और पाञ्चरात्र सम्प्रदायों में विभक्त होता है। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में पुनः भागवत, सात्वत, ऐकान्तिन् और अनैकान्तिन् भेदों में विभक्त होता है।[2] कालान्तर में आगे चलकर मध्य काल में वैष्णव सम्प्रदाय भक्त, भागवत, वैष्णव, पाञ्चरात्र, वैखानस, कर्महीन आदि सम्प्रदायों में विकसित हुआ।[3] सम्प्रति इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रमुख रूप से विकसित सम्प्रदायों के नाम हैं—श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय और सनक सम्प्रदाय।[4]

(अ) शैव सम्प्रदाय

शैव सिद्धान्त से सम्बद्ध २८ आगम तथा बहुत से उपागम बताये जाते हैं। शैवागम के विभिन्न वर्गीकरण पर चर्चा विस्तार से की जा चुकी है। सम्मोहन तन्त्र[5] के अनुसार हम यहाँ पर विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बद्ध तन्त्रों की सूची प्रस्तुत कर रहे हैं। शैव सम्प्रदाय से सम्बद्ध तान्त्रिक साहित्य की संख्या इस प्रकार है—

३२ तन्त्र, ३२५ उपतन्त्र, १० संहिता, ५ अर्णव, २ यामल, ३ डामर, २ उड्डाल, ८ कल्प, ८ उपसंख्या, २ चूडामणि, २ विमर्शिनी, ५ अवतारणक, ५ सूक्त, २ चिन्तामणि, ९ पुराण, ३ उपसज्ञा, २ कक्षपुटि, ३ कल्पद्रुम, २ कामधेनु, ३ सभाव और ५ तत्त्व।

यहाँ केवल विभिन्न प्रकार के शैव तन्त्रों की संख्या का निर्देश किया गया

---

१. शक्ति एण्ड शाक्त।

२. लक्ष्मी तन्त्र : धर्म और दर्शन, पृ० २९।

३. द वैष्णव सेक्ट्स, द शैव सेक्ट्स, मदर वर्शिप, पृ० ५।

४. वही, पृ० १२।

५. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० १००।

है। यदि १० शिवागम, १८ रुद्रागम और ६४ भैरवागम की यहाँ गणना करें तो शैव मत सम्मत आगमों की संख्या ९२ हो जाती है।

(ब) शाक्त सम्प्रदाय

शक्ति उपासना की प्राचीनता वेदों की प्राचीनता के समान समझनी चाहिये।[1] शाक्त सम्प्रदाय की अधिष्ठात्त देवी शक्ति है। वे अनेक रूपों में उपासकों के द्वारा पूजी जाती हैं। तत्त्व की दृष्टि से शैव और शाक्त मतों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। सर्वप्रथम शाक्तमत को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—

१. कौल या शाक्त, २. मिश्र और ३. समय।

कौल वर्ग के तन्त्रों की संख्या ६४, मिश्र वर्ग में ८ तथा समय वर्ग में ५ हैं।[2] इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि शाक्त मत के अन्तर्गत ९ आम्नाय तथा ४ सम्प्रदाय हैं। सम्प्रदायों के नाम हैं—केरल, कश्मीर, गौड़ और विलास।[3] आन्तर तथा बाह्य पूजा-पद्धति के भेद से प्रत्येक के दो-दो विभाग हैं। सम्मोहन तन्त्र के अनुसार शाक्त वर्ग में ६४ तन्त्र, ३२७ उपतन्त्र, ८ यामल, ४ डामर, २ कल्पलता, १०० अर्णव, बहुत सी संहितायें, चूडामणि, पुराण, उपवेद, कक्षपुटि, विमर्शिनी, चिन्तामणि आदि ग्रन्थ आते हैं।[4]

(क) कौल :—

कुल का अर्थ होता है शक्ति। इस कुल को परम तत्त्व मानने वाले कौल कहलाये। मध्यकाल में इसे सांसारिक कुल भी कहा जाता था। कौल मत के आविर्भावक आचार्य अल्लट अथवा भावरक्त को माना जाता है, जो पाशुपत आचार्य विश्वरूप के शिष्य थे। पाशुपत और कौल मत परस्पर पर्याप्त रूप से सम्बद्ध था। इस तथ्य की पुष्टि इस प्रसङ्ग से होती है कि पाशुपत मत के प्रमुख आचार्य गोरक्षनाथ कौलाचार्य मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे।[5] कुलमार्ग से सम्बद्ध तान्त्रिक साहित्य इस प्रकार है[6]—

कुलार्णव, कुलचूडामणि, रुद्रयामल, भावचूडामणि, देवीयामल, कुलपञ्चामृत,

---

१. शाक्त मोनिज्म : दि कल्ट ऑफ शक्ति, पृ० ३।
२. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ५९।
३. वही, पृ० ५७।
४. वही, पृ० १५१।
५. शैवकल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० २७-२८।
६. तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ४५-४६।

उत्तर तन्त्र, कुलतन्त्र, कुलामृत, तन्त्रचूडामणि, कुलयामल, कुलगह्वर, कुलदीपनी, कुलपञ्चाशिका, कुलप्रकाश, कुलमत, कुलमूलावतार, कुलमन्त्रमातृकासाहस्त्रिक, कुलरत्नमाला, कुलरत्नमालिकासाहस्त्रिका, कुलप्रदीप, कुलार्णव-महारहस्य, मेरु तन्त्र, कुलरत्नावली, कुल शासन, कुल संग्रह, कुल सर्वस्व, कुलसार, कुलागम, कुलानन्द-संहिता, कुलाम्नाय, कुलालिकाम्नाय तन्त्र, कुलावतार, कुलेश्वर, कुलोड्डीश, कुलोत्तम, कौलतन्त्र, कौलमार्ग, कौलरहस्य, रजस्वला तत्त्व, कौलिकार्चन-दीपिका, कौलावलीय, कौलादर्शतन्त्र, रहस्यार्णव, श्रीतत्त्वचिन्तामणि, शाम्भवी तन्त्र, दक्षिणा-मूर्ति-संहिता, परमानन्दतन्त्र, गन्धर्व तन्त्र, वामकेश्वर तन्त्र राज, कौलोपनिषद्, त्रिपुरामहोपनिषद्, सुन्दरीतापिनी, आगमसार, परशुराम कल्प सूत्र आदि।

शैव सम्प्रदाय आगे चलकर मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभक्त हुआ— काश्मीर शैव, सिद्धान्त शैव तथा वीर शैव। काश्मीर शैव शिव के उपासक तथा सिद्धान्त और वीर शैव लिङ्ग के उपासक हैं; किन्तु सिद्धान्त और वीर शैव में अन्तर यही है कि सिद्धान्त शैव लिङ्ग को शिव के प्रतीक रूप में नहीं, अपितु वायवीय अग्नि या 'अज्ञात देवता' के रूप में तथा वीर शैव लिङ्ग को शिव के प्रतीक रूप में मानकर पूजा करते हैं तथा उसे धारण करते हैं।[1]

(ख) मिश्र :—

कौल और समय आचार के मिश्रण के फलस्वरूप मिश्र सम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ। दोनों के मिश्रण का एक प्रयोजन था। कौल मत वाम मार्ग से तथा समय दक्षिण मार्ग से सम्बद्ध माना जाता है। तान्त्रिक सम्प्रदायों में एक मात्र समय मार्ग ही ब्रह्मवादी वैदिक सम्प्रदाय था।[2] कौल और समय अथवा वाम मार्ग तथा दक्षिणमार्ग की पूजा-पद्धतियों में सामञ्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता कालान्तर में समझी गई। फलस्वरूप दोनों पद्धतियों से एक मध्यम मार्ग का विकास हुआ, जो मिश्र मार्ग कहलाया। इसी का प्रभाव कहादि सम्प्रदाय पर भी पड़ा प्रतीत होता है, जो कादि और हादि सम्प्रदाय का समन्वित रूप है। इन तीनों की पूजा-पद्धतियों में विशेष अन्तर नहीं है। केवल परम शक्ति के नाम का अन्तर है। कादि उसे 'काली', हादि उसे 'श्रीसुन्दरी' तथा कहादि उसे 'हंस' कहते हैं।[3] सम्मोहन तन्त्र के अनुसार कादि और हादि मत ५६ देशों में प्रचलित था, किन्तु दोनों के देशनामों में अन्तर है। कादि मत से सम्बद्ध देशों के नाम इस

---

१. शैव सिद्धान्त, पृ० १४८-१४६।
२. वही, पृ० १४८-१४६।
३. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० १६७।

प्रकार है[1]—

अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, केरल, काश्मीर, कामरूप, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, द्राविड, तैलङ्ग, मलयाद्रि, कर्णाट, अवन्ति, वैदर्भ, सर्प, आभीर, मालव, चौल, चाल, काम्बोज, वैराद्र, विदेह, वाल्हीक, किरात, कैकट, आवन्तक, ऐराक, भोट, चीन, महाचीन, नेपाल, शीलहट्ट, गौड, कोसल, मगध, श्नोत्कल, कुन्तल, हुण, कोङ्कण, केकय, शूरसेन, कौरव, सिंहल, पुलिन्द, कच्छ, सेवन, मद्र, सौवीर, लाट, वर्वर, मत्स्य (मतस्य), और सैन्धव। इस सूची में ५६ की संख्या में ४ नाम कम पड़ रहे हैं।

हादि मत से सम्बद्ध देश इस प्रकार हैं—

अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुवीरक, काश्मीर, काम्बोज, सौराष्ट्र, मगध, महाराष्ट्र, मालव, नेपाल, केरल, चोल, चाल, गौड, मलय, अण्ड, सिंहल, व्योङ्क, द्रविड, व्योन्त, कार्णाट, लाट, मलाट, पानाट, पावा, अन्धक, पुलिन्द, हुण, कौरव, गान्धार, विदर्भ, विदेह, वाल्हीक, वर्वर, केकय, कोशल, कुन्तल, किलात, शूरसेन, सेवर, वनाट, टङ्कण, कोङ्कण, मत्स्य, मद्र, मैड़, सैन्धव, सन्धथ, पार्श्वकीक, ड्योर्जाल, यवन, जल, जालन्ध, साल्वल और सिन्धु।

सम्मोहन तन्त्र के पञ्चम पटल में कादि और हादि को आम्नाय का दो भेद बताया गया है तथा प्रत्येक में ९ आम्नाय का संकेत किया गया है।[2] कादि-मत को "वीरादनुत्तर" कहा जाता है, जिसकी अधिष्ठातृ देवी काली है। हादि मत को "हंसराज" कहते हैं। इसकी इष्ट देवी त्रिपुर सुन्दरी है। दोनों के समन्वित रूप कहादि की इष्ट देवी तारा है, जिन्हें नीलसरस्वती भी कहते हैं। कहा जाता है कि "हंसतारा महाविद्या" योग की सार्वभौम देवी है, जिन्हें जैन-पद्मावती, शाक्त-शक्ति, बौद्ध-तारा, चीन साधक-महोग्रा, कौल-चक्रेश्वरी, कादि-काली, हादि-श्रीसुन्दरी तथा कहादि 'हंस' कहते हैं।[3] गौड़ के अन्तर्गत कादि को सर्वश्रेष्ठ मत स्वीकार किया जाता है, जबकि काश्मीर हादि को तथा केरल, कहादि को श्रेष्ठ मानता है।

(ग) समय :—

मध्ययुग के तान्त्रिक सम्प्रदायों में समय मार्ग एक मात्र ब्रह्मवादी वैदिक आचार से युक्त था[4] यह स्पष्ट किया जा चुका है। समय मार्गी भगवती की

---

१. स्टडीज़ इन द तन्त्राज़, भाग १, पृ० ९७ पर उद्धृत।
२. वही, भाग १, पृ० ९९ पर उद्धृत।
३. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० १६६-१६७।
४. तान्त्रिक साहित्य, पृ० ४०।

आभ्यन्तरिक पूजा करते थे। इस मार्ग का प्रमुख साहित्य 'शुभागमपञ्चक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ५ संहितायें हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. वसिष्ठ संहिता, २. सनक संहिता, ३. शुक संहिता ४. सनन्दन संहिता और ५. सनत्कुमार संहिता। कौल, मिश्र तथा समय—तीनों मार्गों में श्री विद्या की उपासना प्रचलित देखी जाती है। समय मत में षोडश नित्यायें मूलविद्या के अङ्गरूप में मानी जाती हैं।

सनत्कुमार संहिता में जिन सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. कौल, २. क्षपणक, ३. कापालिक, ४. दिगम्बर, ५. इतिहासक और ६. वामक। ये सभी श्रीचक्र की पूजा करने वाले हैं।[1] सनत्कुमार संहिता ब्रह्मरात्र, शिवरात्र, इन्द्ररात्र और ऋषिरात्र में विभक्त है। इसमें वैदिकी और तान्त्रिकी पूजा-पद्धतियों का पर्याप्त समन्वय स्थापित किया गया है—

वैदिकं तान्त्रिकं चैव तथा वैदिकतान्त्रिकम्।
मन्त्रत्रयं क्रमेणोक्तं दीक्षितानां तु मण्डले ॥[2]

किन्तु इस मत में किसी भी प्रकार शूद्रों को मण्डल-पूजा का अधिकार नहीं दिया जा सकता।[3]

सम्प्रति शक्ति-उपासना का प्रभाव और प्रसार इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि शिव की अर्धाङ्गिनी पार्वती के विभिन्न अङ्गों और आभूषणों के स्थान पर शक्तिपीठों की मान्यता है। इन पीठों की संख्या इस समय ५१ बताई जाती है। पीठनिर्णय या महापीठनिरूपण[4] नामक ग्रन्थ में ५१ पीठों का वर्णन किया गया है। इसमें पीठस्थान के साथ देवी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, पीठ देवता (देवी) तथा पीठाधीश (भैरव) का भी उल्लेख किया गया है।[5] यहाँ पर उनका उल्लेख किया जा रहा है[6]—

क्र० सं० पीठ	अङ्ग-प्रत्यङ्ग	देवी	भैरव
१. हिङ्गुला (हिङ्गुलाट)	ब्रह्मरन्ध्र	कोट्टरी	भीमलोचन
२. करवीर (शर्करार)	त्रिनेत्र	महिषमर्दिनी	क्रोधीश
३. सुगन्धा	नासिका	सुनन्दा	त्र्यम्बक

---

१. तान्त्रिक साहित्य, पृ० ४०-४१।
२. सनत्कुमार संहिता, ऋषिरात्र, १५/३७।
३. वही, १५/४५।
४. द शाक्त पीठाज, पृ० ४२-५८ पर संग्रहीत तथा सम्पादित।
५. पीठनिर्णयः (महापीठनिरूपणाम्), श्लोक १।
६. द शाक्त पीठाज, पृ० ३५-३७।

क्र० सं० पीठ	अङ्ग-प्रत्यङ्ग	देवी	भैरव
४. काश्मीर	कण्ठ	महामाया	त्रिसन्ध्येश्वर
५. ज्वालामुखी	जिह्वा	सिद्धिदा	उन्मत्त
६. जालन्धर	स्तन	त्रिपुरमालिनी	भीषण
७. वैद्यनाथ	हृदय	जयदुर्गा	वैद्यनाथ
८. नेपाल	जानु	महामाया	कपाली
९. मानस (मालव)	दक्षिणहस्त	दक्षायनी	हर
१०. विरजाक्षेत्र (उत्कल में)	नाभि	विमला	जगन्नाथ
११. गण्डकी (गण्डक)	गण्ड	गण्डकी	चक्रपाणि
१२. बहुला	वामबाहु	बहुला	भीरुक
१३. उज्जयिनी	कूर्पर	मङ्गला	कपिलाम्बर
१४. चट्टल	दक्षिणबाहु	भवानी	चन्द्रशेखर
१५. त्रिपुरा	दक्षिण पाद	त्रिपुरा	नल
१६. त्रिस्रोता	वाम पाद	भ्रामरी	ईश्वर
१७. कामगिरि (कामरूप में)	महामुद्रा (योनि)	कामाख्या	उमानन्द
१८. युगाद्या (श्रीरग्राम)	दक्षिण पादाङ्गुष्ठ	युगाद्या	क्षीरखण्ड
१९. कालीपीठ (कलिघट)	दक्षिणपादाङ्गुलि	काली	नकुलेश
२०. प्रयाग	हस्ताङ्गुलि	ललिता	भव
२१. जयन्ती	वामजङ्घा	जयन्ती	क्रमदीश्वर
२२. किरीट	किरीट	भुवनेशी	सिद्धिरूप
२३. मणिकर्णिका (वाराणसी)	कुण्डल	विशालाक्षी	काल
२४. कन्याश्रम	पृष्ठ	सर्वाणी	निमिष
२५. कुरुक्षेत्र	दक्षिणगुल्फ	सावित्री	स्थाणु
२६. मणिवेद	मणिबन्ध	गायत्री	सर्वानन्द
२७. श्रीशैल	ग्रीवा	महालक्ष्मी	सम्बरानन्द
२८. काञ्ची	कङ्काल	देवगर्भा	रुरु
२९. कालमाधव	नितम्ब	काली	असिताङ्ग
३०. नर्मदा (सोण, शैल)	नितम्ब	सोणा	भद्रसेन
३१. रामगिरि	स्तन	शिवानी	गण्ड
३२. वृन्दावन	केश	उमा	भूतेश
३३. शुचि (अनल)	ऊर्ध्वदन्त	नारायणी	संहार
३४. पञ्चसागर	अधोदन्त	वाराही	महारुद्र

क्र० सं० पीठ	अङ्ग-प्रत्यङ्ग	देवी	भैरव
३५. करतोयातट	वामकर्ण	अपर्णा	वामन
३६. श्रीपर्वत	दक्षिणकर्ण	सुन्दरी	सुन्दरानन्द
३७. विभास	वामगुल्फ	भीमरूपा	कपाली
३८. प्रभास	उदर	चन्द्रभागा	वक्रतुण्ड
३९. भैरव पर्वत	ऊर्ध्व ओष्ठ	अवन्ती	लम्बकर्ण
४०. जनस्थान	चिबुक	भ्रामरी	विकृत
४१. गोदावरी तीर	(वाम) गण्ड	विश्वेशी	विश्वेश
४२. मिथिला	वाम स्कन्ध	उमा	महोदर
४३. रत्नावली	दक्षिण स्कन्ध	कुमारी	शिव
४४. नलाहाटी	नला	काली	योगीश
४५. कालीघाट	मुण्ड	जयदुर्गा	क्रोधीश
४६. वक्रेश्वर	मनस्	महिषमर्दिनी	वक्रनाथ
४७. यशोर	पाणि	यशोरेश्वरी	चण्ड
४८. अट्टहास	ओष्ठ	फुल्लरा	विश्वेश
४९. नन्दिपुर	हार	नन्दिनी	नन्दिकेश्वर
५०. लङ्का	नूपुर	इन्द्राक्षी	राक्षसेश्वर
५१. विराट	पदाङ्गुलि	अम्बिका	अमृत

(स) वैष्णव सम्प्रदाय

"विश्वामित्र संहिता" में १०८ पाञ्चरात्र तन्त्रों का उल्लेख किया गया है—[1]

इत्येवमुक्तं तन्त्राणां शतमष्टोत्तरं मुने ।
एतानि तन्त्रनामानि यो जानाति स मुक्तिभाक् ॥[2]

इन वैष्णव तन्त्रों के नाम इस प्रकार हैं—

१. अमृत संहिता, २. अहिर्बुध्न्यतन्त्र, ३. आगस्त्यतन्त्र, ४. आग्नेयतन्त्र, ५. आत्रेयतन्त्र, ६. आनन्दतन्त्र, ७. उमामहेश्वरतन्त्र, ८. उशनस्तन्त्र, ९. ऐन्द्रतन्त्र, १० औपगायनतन्त्र, ११. औपेन्द्रतन्त्र, १२. कपिञ्जलतन्त्र, १३. कल्कितन्त्र, १४. कात्यायनतन्त्र, १५. कापिलतन्त्र, १६. काण्र्ष्यतन्त्र, १७. कौमारतन्त्र, १८. गौतमतन्त्र, १९. चान्द्रमसतन्त्र, २०. जयाख्यसंहिता, २१. जाबालतन्त्र,

१. विश्वामित्र संहिता, द्वितीय अध्याय, श्लोक १६-३३ ।
२. वही, २/३३ ।

२२. जामदग्न्यतन्त्र, २३. जैमिनितन्त्र, २४. तत्त्वसागरतन्त्र, २५. तेजोद्रविणतन्त्र, २६. त्रैलोक्यमोहनतन्त्र, २७. त्रैलोक्यविजयतन्त्र, २८. दक्ष संहिता, २९. धनदीय-तन्त्र, ३०. नन्दतन्त्र, ३१. नलकूबरतन्त्र, ३२. नारदीय तन्त्र, ३३. नारायण तन्त्र, ३४. नृकेसरितन्त्र, ३५. पञ्चप्रश्नतन्त्र, ३६. पद्मोद्भवतन्त्र, ३७. परपौरुषतन्त्र, ३८. परम संहिता, ३९. पाद्मतन्त्र, ४०. पारमेश्वरतन्त्र, ४१. पाराशर्यतन्त्र, ४२. पार्षसंहिता, ४३. पुरुषोत्तमतन्त्र, ४४. पुष्टितन्त्र, ४५. पैङ्गलतन्त्र, ४६. पौलस्त्यतन्त्र, ४७. पौष्करतन्त्र, ४८. प्रद्युम्नतन्त्र, ४९. प्रह्लादतन्त्र, ५०. प्राचेतसतन्त्र, ५१. बार्हस्पत्य, ५२. बोधायन, ५३. ब्रह्मनारदसंहिता, ५४. ब्रह्मसिद्धान्त, ५५. ब्राह्मतन्त्र, ५६. भागवत, ५७. भार्गव, ५८. भारद्वाज, ५९. महालक्ष्मीसंहिता, ६०. महासनत्कुमारतन्त्र, ६१. महीप्रश्न, ६२. माया वैभविक, ६३. मारीचतन्त्र, ६४. मार्कण्डेय, ६५. माहेन्द्र संहिता, ६६. मिहिर-तन्त्र, ६७. मूलसंहिता, ६८. याज्ञवल्क्यतन्त्र, ६९. याम्यतन्त्र, ७०. योगहृदय, ७१. राघवतन्त्र, ७२. रुद्रतन्त्र, ७३. रुद्रतन्त्र (?), ७४. वामनतन्त्र, ७५. वाराहतन्त्र, ७६. वारुणतन्त्र, ७७. वाल्मीकिसंहिता, ७८. वासिष्ठतन्त्र, ७९. विश्वसंहिता, ८० विश्वामित्रीयतन्त्र, ८१. विष्णुरहस्यतन्त्र, ८२. विष्वक्सेन-तन्त्र, ८३. विष्णुवैभविक, ८४. विष्णुसद्भाव, ८५. विष्णुसिद्धान्त, ८६. विहङ्गेन्द्र-संहिता, ८७. वीरमङ्गलिकतन्त्र, ८८. वैयासतन्त्र, ८९. शर्व संहिता, ९०. शाम्बर-तन्त्र, ९१. शाकल्यतन्त्र, ९२. शातातपतन्त्र, ९३. शुक्रतन्त्र, ९४. शानैकीयतन्त्र, ९५. श्रीकरतन्त्र, श्रीकरतन्त्र (?), ९७. श्रीप्रश्नतन्त्र, ९८. संकर्षणतन्त्र, ९९. सत्य-तन्त्र, १००. सनकतन्त्र, १०१. सनत्कुमारतन्त्र, १०२. सांवर्ततन्त्र, १०३. सात्वत-तन्त्र, १०४. सौम्यतन्त्र, १०५. सौरतन्त्र, १०६. स्कन्दसंहिता, १०७. हारीत-तन्त्र और १०८. हैरण्यतन्त्र ।

विश्वामित्र संहिता २७ अध्यायों में, नारदीय संहिता ३० अध्यायों में तथा श्रीप्रश्न संहिता ५३ अध्यायों में विभक्त है। इसी प्रकार अन्य संहितायें भी अपने आकार में अति विशाल हैं।

सम्मोहन तन्त्र (पटल ६) के अनुसार वैष्णव तन्त्रों के अन्तर्गत ७५ तन्त्र, २०५ उपतन्त्र, २० कल्प, ८ संहिता, १ अर्णवक, ५ कक्षपुटी, ८ चूडामणि, २ चिन्तामणि, २ उड्डीश, २ डामर, १ यामल, ५ पुराण, ३ तत्त्वबोध,—विमर्शिनी, २ अमृत तर्पण आदि ग्रन्थों की गणना की गई है।[1]

(द) सौर सम्प्रदाय

सम्मोहनतन्त्र (पटल ६) के अनुसार सौर सम्प्रदाय के अन्तर्गत ३० तन्त्र,

---

१. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० १००।

९६ तत्त्व, ४ संहिता, २ उपसंहिता, ५ पुराण, १० कल्प, २ कक्षपुटी, ३ विमर्शिनी, ५ चूडामणि, २ डामर, २ यामल, ५ उड्डाल, २ अवतार, २ उड्डीश, ३ अमृत, ३ दर्पण, ३ कल्प आदि ग्रन्थों का समावेश किया गया है।[1] इस सम्प्रदाय में सूर्य-पूजा का विधान है। वेदों में सूर्य को चराचर जगत् का स्रष्टा कहा गया है।[2] इस सम्प्रदाय की प्राचीनता इसी से स्पष्ट है।

(य) गाणपत्य सम्प्रदाय

गणपति की उपासना का सम्बन्ध भी ऋग्वेद से चला आ रहा है। ऋग्वेद (१०/११२/९) में गणपति को प्राणियों का स्वामी कहा गया है।[3] वैदिक काल से लेकर उपनिषत्काल और पुराण काल तक गणपति की उपासना का क्रम देखा जाता है। गतिपति की उपासना करने वाला वर्ग "गाणपत्य सम्प्रदाय" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्मोहन तन्त्र (पटल ६) के अनुसार इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत ५० तन्त्र, २५ उपतन्त्र, २ पुराण, २ अमृत, ३ सागर, ३ दर्पण, ५ अमृत, ९ कल्पका, ३ कक्षपुटी, २ विमर्शिनी, २ तत्त्व, २ उड्डीश, ३ चूडामणि, ३ चिन्तामणि, १ डामर और चन्द्रयामल तथा ८ पाञ्चरात्र आदि ग्रन्थों की गणना की गई है।[4]

३. क्षेत्रमूलक या भौगोलिक वर्गीकरण

महासिद्धिसार तन्त्र[5] में तन्त्रों को भौगोलिक दृष्टि से वर्गीकृत किया गया है, जिनके नाम हैं—१. विष्णुक्रान्ता, २. रथक्रान्ता ३. और अश्वक्रान्ता। भारतवर्ष का पूर्वोत्तर भाग विष्णुक्रान्ता के अन्तर्गत माना जाता है। पश्चिमोत्तर भाग रथक्रान्ता के अन्तर्गत तथा शेष और दक्षिण भाग अश्वक्रान्ता के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। विष्णुक्रान्ता का क्षेत्र-विस्तार विन्ध्य से चत्तल या चित्तगोंग तक माना जाता है। रथक्रान्ता का क्षेत्र विन्ध्य से तिब्बत और चीन तक स्वीकार किया जाता है तथा अश्वक्रान्ता का क्षेत्र विन्ध्य से दक्षिणी समुद्र पर्यन्त है। यह क्षेत्र करतोया नदी से जावा तक माना जा सकता है।[6] प्रत्येक वर्ग में तन्त्रों की संख्या ६४ बताई गई हैं। सम्मोहन तन्त्र में क्षेत्र-भेद से प्रचलित तन्त्रों की संख्या दी गई है।[7] इसके अनुसार चीन में १०० मूल तन्त्र और ३७ उपतन्त्र हैं, द्रविड़ में

---

१. स्टडीज़ इन द तन्त्राज़, भाग १, पृ० १००।
२. तन्त्रमहाविज्ञान, (प्रथम खण्ड), पृ० ६८ पर उद्घृत।
३. वही, पृ० ७० पर उद्घृत।
४. स्टडीज़ इन द तन्त्राज़, भाग १, पृ० १००।
५. तान्त्रिक साहित्य, पृ० २१-२२।
६. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० १६६।
७. तान्त्रिक साहित्य (भूमिका), पृ० २४।

२० मूलतन्त्र और २५ उपतन्त्र हैं, केरल में ६० मूलतन्त्र और ५०० उपतन्त्र हैं, कश्मीर में १०० मूलतन्त्र और १० उपतन्त्र हैं तथा गौड़ में २७ मूलतन्त्र और १६ उपतन्त्र हैं।

(क) विष्णुक्रान्ता :—

१. उत्तर, २. काली, ३. कुलार्णव, ४. कुल प्रकाश, ५. क्रियासार, ६. कुब्जिका, ७. कालीविलास, ८. कुलोड्डीश, ९. कुलामृत, १० कुमारी, ११. कामधेनु, १२. कामाख्या, १३. कुलचूडामणि, १४. गणेश विमर्शिनी, १५. गवाक्ष, १६. गन्धर्व, १७. चामुण्डा, १८. ज्ञानार्णव, १९. तन्त्रराज, २०. तन्त्रान्तर, २१. देव्यागम, २२. देवी (?), २३. देवप्रकाश, २४. नवरत्नेश्वर, २५. निबन्ध, २६. नित्या, २७. नील, २८. निरुत्तर, २९. फेत्कारी, ३०. ब्रह्मयामल, ३१. बृहत् श्रीक्रम, ३२. भावचूडामणि, ३३. भूतडामर, ३४. भैरव, ३५. भैरवी, ३६. मत्स्य सूक्त, ३७. मुण्डमाला, ३८. मालिनी, ३९. महाकाल, ४०. मालिनीविजय, ४१. मायातन्त्र ४२. यामल, ४३. यन्त्रचिन्तामणि, ४४. योगिनीहृदय, ४५. योगिनीतन्त्र, ४६. योनि, ४७. राधातन्त्र, ४८. रुद्रयामल, ४९. ललितातन्त्र, ५०. विश्वसार, ५१. वाराही, ५२. विशुद्धेश्वर, ५३. श्रीक्रम, ५४. शिवागम, ५५. सुकुमुदिनी, ५६. सिद्धेश्वर, ५७. सिद्धसार, ५८. सिद्धसारस्वत, ५९. सिद्धियामल, ६०. सनत्कुमार, ६१. समयाचार, ६२. सम्मोहन, ६३. स्वतन्त्र, ६४. हंसमहेश्वर।

(ख) रथक्रान्ता :—

१. आकाश भैरव, २. आचारचार, ३. इन्द्रजाल, ४. उड्डामरेश्वर, ५. एकजटा, ६. कंकालमालिनी, ७. कृकलासदीपिका, ८. करालभैरव, ९. कैवल्य, १०. कुलसद्भाव, ११. कृत्तिसार, १२. कालभैरव, १३. कालोत्तम, १४. गरुड़, १५. चिन्मय, १६. चीनाचार, १७. छायानील, १८. ज्ञानभैरव, १९. देवडामर, २०. दक्षिणामूर्ति, २१. नवरत्नेश्वर, २२. नागार्जुन, २३. नारदीय, २४. पुरश्वरणचन्द्रिका, २५. पुरश्चरणरसोल्लास, २६. पञ्चदशी, २७. पिच्छिला, २८. प्रपञ्चसार, २९. परमेश्वर, ३०. बृहद्, ३१. गौतमीय, ३२. बृहद्योनि, ३३. ब्रह्मजाल, ३४. बीजचिन्तामणि, ३५. भूतभैरव, ३६. भूतडामर, ३७. मत्स्यसूक्त, ३८. महिषमर्दिनी, ३९. मातृकोदय, ४०. महानील, ४१. मेरु, ४२. महानिर्वाण, ४३. महाकाल, ४४. महालक्ष्मी, ४५. यक्षिणी, ४६. योगस्वरोदय, ४७. योगसार, ४८. यक्षडामर, ४९. राजराजेश्वरी, ५०. रेवती, ५१. वर्णोद्धृति, ५२. वर्णविलास, ५३. वायुदेवरहस्य, ५४. शक्तिकागम सर्वस्व, ५५. शक्तिसंगम, ५६. शारदा, ५७. षोढ़ा, ५८. षडाम्नाय, ५९. स्वरोदय, ६०. सरस्वती, ६१. सारस, ६२. सम्मोहन, ६३. सिद्धितद्धरि (?) तथा ६४. हंसमाहेश्वर।

(ग) अश्वक्रान्ता :—

१. उड्डामरेश्वर, २. क्रियासार, ३. काल, ४. कामिनी, ५. कामुकेश्वर, ६. कामरत्न, ७. कुरज्ज, ८. गायत्री, ९. गुर्वर्चन, १०. गौप्य, ११. गोपी, १२. गौरी, १३. गुप्त, १४. गुप्तसार, १५. गुप्तदीक्षा, १६. गोपलीलामृत, १७. चूडामणि, १८. चीन तन्त्र, १९. जयराधामाधव तन्त्र, २०. तत्वचिन्तामणि, २१. तत्वसार, २२, तीक्ष्ण, २३. धूमावती, २४. बृहत्सार, २५. बृहत्चीन, २६. बृहत्तोडल, २७. बृहन्निर्वाण, २८. बृहत्कङ्कालिनी, २९. बृहदयोगिनी, ३०. बिन्दुतन्त्र, ३१. बृहन्मोक्ष, बृहन्मालिनी, ३३. बिन्दु, ३४. ब्रह्माण्ड, ३५. भूतलिपि, ३६. भूतशुद्धि, ३७. भूतेश्वरी, ३८. भेरुण्डा, ३९. भुवनेश्वरी, ४०. महावीर, ४१. मन्त्रचिन्तामणि, ४२. महानिरुत्तर, ४३. मोहन, ४४. मोहिनी, ४५. मद्गुली, ४६. माया, ४७. महामालिनी, ४८. मोक्ष, ४९. महामाया, ५०. महायोगिनी, ५१. योगार्णव, ५२. यन्त्रचूडा (?), ५३. योगतन्त्र, ५४. लीलावती, ५५. विशुद्धेश्वर, ५६. विद्युल्लता, ५७. वर्णसार, ५८. शिवतन्त्र, ५९. शबर, ६०. शूलिनी, ६१. शिवतन्त्र, ६२. सिद्धातन्त्र, ६३. सारात्सार और ६४. समीरण।

लगभग सभी तान्त्रिक ग्रन्थों में आचार-अनुष्ठान की परम्परा समान है, चाहे वे हिन्दू तन्त्र हों अथवा बौद्ध या जैन।[1]

बाबू रसिक मोहन चटर्जी ने[2] कुछ तन्त्रों को बँगला लिपि में कलकत्ता से प्रकाशित किया है, जो इस प्रकार हैं—मुण्डमाला, शाक्तक्रमण, माया, भूतशुद्धि, कौलिकार्चनदीपिका, कुब्जिका, विश्वसार, पुरश्चरणरसोल्लास, शाक्तानन्दतरङ्गिणी, नील, तोडल, गन्धर्व, रुद्रयामल, गुप्तसाधन, गायत्री, फेत्कारिणी, निरुत्तर, महाचीनाचारक्रम, निर्वाणक्रमदीपिका, मन्त्रकोश, योगिनी, कुलार्णव, कामाख्या, कंकालमालिनी, मातृकाभेद, कामधेनु, महानिर्वाण, सनत्कुमार, शारदातिलक, त्रिपुरसारसमुच्चय, उड्डामरेश्वर, कौलावली, मन्त्रमहोदधि, वृहन्नील, तारारहस्य, राधा और श्यामारहस्य। इनमें से कुछ जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा देवनागरी लिपि में कलकत्ता से ही प्रकाशित किये गये हैं। यथा—कुलार्णव, तारारहस्य, त्रिपुरसारसमुच्चय, महानिर्वाण, योगिनी, रुद्रयामल (उत्तर तन्त्र), श्यामारहस्य, शारदातिलक, प्राणतोषिणी, मन्त्रमहोदधि और इन्द्रजालविद्यासंग्रह।

तान्त्रिक ग्रन्थों में कुछ ऐसे हैं जो तन्त्रों की टीका रूप तथा कोश रूप हैं। यथा—तन्त्रसार, प्राणतोषिणी, प्राणकृष्णशब्दाम्बुधि, तन्त्राभिधान या मन्त्रकोश।[3] सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, के "योगतन्त्र

---

१. तान्त्रिक ट्रेडीशन, पृ० ६१।

२. प्रिंसिपल्स ऑफ तन्त्र, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ८९।

३. वही, पृ० ९१।

ग्रन्थमाला" से तन्त्रसंग्रह के तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम भाग में विरूपाक्षपञ्चाशिका, साम्बपञ्चशिका, त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र, स्पन्ददीपिका, अनुभव-सूत्र तथा वातुलशुद्धाख्य तन्त्र प्रकाशित किये गये हैं। द्वितीय भाग में निर्वाण तन्त्र, तोडल तन्त्र, कामधेनु तन्त्र, फेत्कारिणी तन्त्र, ज्ञानसंकलिनो तन्त्र, तथा देवी-कालोत्तरागम का प्रकाशन किया गया है। तृतीय भाग में गन्धर्व तन्त्र, प्रथम मुण्ड-माला तन्त्र, द्वितीय मुण्डमालातन्त्र, कामाख्या तन्त्र, सनत्कुमार तन्त्र, भूतशुद्धि तन्त्र और कङ्कालमलिनी तन्त्र को प्रकाशित किया गया है। वहीं से लुप्त आगमों का संग्रह तैयार करके "लुप्तागमसंग्रह" के नाम से प्रकाशित किया गया है। सम्प्रति खेमराज कृष्णदास (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई) से "शाक्तप्रमोद" नामक एक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है, जिसमें काली तन्त्र, तारातन्त्र, षोडशीत्रिपुरसुन्दरी तन्त्र, भुवनेश्वरी तन्त्र, छिन्नमस्ता तन्त्र, धूमावती तन्त्र, बगलामुखी तन्त्र, मातङ्गी तन्त्र, कमलात्मिका तन्त्र, कुमारी तन्त्र, बलिदानक्रम, दुर्गा तन्त्र, शिव तन्त्र, गणेश तन्त्र, सूर्यतन्त्र तथा विष्णु तन्त्र सहित कुल १७ तन्त्रों का संग्रह किया गया है।

इसके अतिरिक्त बहुत से बौद्ध तन्त्र हैं, जिनका सर्वेक्षण एक अलग गणेषणा का विषय है। उनकी साधनापद्धति अधिक उत्कृष्ट कही जाय, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनमें वज्रयोग महत्त्वपूर्ण है, जिसके चार प्रकार बताये गये हैं—विशुद्ध योग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थान योग।[1]

४. उपास्यदेवताभेदमूलक वर्गीकरण

तन्त्रों का अन्तिम वर्गीकरण उपास्य देवता के भेद के आधार पर किया जा रहा है। यहाँ पर यह वर्गीकरण विशेषकर दशमहाविद्याओं से सम्बद्ध है। दश महाविद्याओं के नाम हैं—१. काली, २. तारा, ३. श्रीविद्या (षोडषी), ४. भुवने-श्वरी ५. भैरवी, ६. छिन्नमस्ता, ७. धूमावती, ८. वगला, ९. मातङ्गी और १०. कमला।

१. काली :—

कालीतत्त्व से सम्बद्ध सबसे उत्कृष्ट ग्रन्थ "महाकाल संहिता" है। इसके दो खण्ड हैं—१. काम कलाखण्ड तथा २. गुह्यकालीखण्ड। काली तत्त्व से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "कालज्ञान" है। इस तत्त्व से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों के नाम हैं—कालीकुलक्रमार्चन, भद्रकालीचिन्तामणि, व्योमकेशसंहिता, कालीयामल, कालीकल्प, कालीसपर्याक्रमकल्पवल्ली, श्यामारहस्य, कालीविलास तन्त्र, कालीकुलसर्वस्व, कालीतन्त्र, कालीपरा, कालिकार्णव, विश्वसार तन्त्र, कामेश्वरी तन्त्र, कुलचूडामणि,

---

१. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त, पृ० २६४-२६५।

कौलावली, कालीकुल, कुलमूलावतार आदि। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को भी सम्मिलित किया जाता है, जो इस प्रकार है—[1]

शक्तिसङ्गमतन्त्र, का कालीखण्ड, कालिकार्चामुकुर, कालीकुलामृत, कुलमुक्तिकल्लोलिनी, कर्पूरस्तव, कालीभुजङ्गप्रयात स्त्रोत, कौलिकार्चनदीपिका, कुमारीतन्त्र, कुब्जिकातन्त्र, कुलार्णव, कालीतत्त्व आदि।

२. तारा :—

तारा-उपासना से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम ये हैं—[2] तारा तन्त्र (तारिणी तन्त्र), तारासूक्त, तोडलतन्त्र, तारार्णव, नीलतन्त्र, महानीलतन्त्र, नीलसरस्वती तन्त्र, चीनाचार, तन्त्ररत्न, ताराशाबरतन्त्र, तारोपनिषद्, एकजटीतन्त्र, एकजटाकल्प, ब्रह्मयामलस्थ महाचीनाचार क्रम, एकवीर तन्त्र, तारिणीनिर्णय आदि। इस मत से सम्बद्ध प्रकरण ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं—तारा प्रदीप, ताराभक्तिसुधार्णव, ताररहस्य, ताराभक्तितरङ्गिणी, ताराकल्पलतापद्धति, तारिणीपारिजात, महोग्रताराकल्प, ताराकर्पूर स्तोत्र, तारासहस्रनाम, शक्तिसङ्गम तन्त्र का तारा खण्ड आदि।

३. श्रीविद्या (षोडशी) :—

श्रीविद्या के तीन भेद हैं—कादि, हादि और कहादि। कादि विद्या में वाग्भव, कामराज और शक्तिकूट नामक तीन कूट हैं। वाग्भव में १८ वर्ण, कामराज में २२ वर्ण तथा शक्तिकूट में १८ वर्ण हैं। सबका योग ५८ होता है। इस विद्या में मात्रा का भी विचार होता है। वाग्भव में ७ मात्रायें, कामराज में साढ़े सात मात्रायें तथा शक्तिकूट में साढ़े चार मात्रायें हैं। सभी कूटों के साथ अवस्थित हृल्लेखा (ह्रीं) में १ लव कम ४ मात्रायें मानी जाती हैं। वाग्भवकूट में विन्दुहीन वर्णसमूह अनाहत से आज्ञाचक्र तक, कामराज कूट में वर्णसमूह मूलाधार से अनाहत तक तथा शक्ति कूट में वर्णसमूह आज्ञाचक्र से ललाट तक व्याप्त हैं।[3] कादि और हादि मत के ग्रन्थ इसके अन्तर्गत आते हैं। कादि विद्या के ग्रन्थ हैं—त्रिपुरोपनिषद् तथा भावनोपनिषद्। हादि विद्या का ग्रन्थ है—त्रिपुरातापिनी उपनिषद्। इसके अतिरिक्त कहादि विद्या के ग्रन्थ हैं—[4] तन्त्रराज, मातृकार्णव, योगिनीहृदय और त्रिपुरार्णव। श्रीविद्या से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—[5]

---

१. तान्त्रिक साहित्य, पृ० २६-२७।

२. वही, पृ० २८।

३. वही, पृ० ३१।

४. वही, पृ० ३२-३३।

५. वही, पृ० ३५।

परमानन्द तन्त्र, सौभाग्यकल्पद्रुम, नित्याषोडशिकार्णवतन्त्र, ज्ञानार्णव, श्रीक्रमसंहिता, बृहत् श्रीक्रमसंहिता, दक्षिणामूर्तिसंहिता, स्वच्छन्द तन्त्र, कालोत्तर वासना, श्रीपराक्रम, ललितार्चनचन्द्रिका, सौभाग्यतन्त्रोत्तर, सौभाग्यरत्नाकर, सौभाग्यसुभगोदय, शक्तिसङ्गम तन्त्र, (सुन्दरी खण्ड), त्रिपुरारहस्य, श्रीक्रमोत्तम, सुभगार्चापारिजात, सुभगार्चारत्न, आज्ञावतार, संकेतपादुका, चन्द्रपीठ, सुन्दरी-महोदय, हृदयामृत, नित्योत्सवनिबन्ध, लक्ष्मीतन्त्र, ललितोपाख्यान, त्रिपुरासार-समुच्चय, श्रीतत्त्वचिन्तामणि, शाक्तक्रम, विरूपाक्षपञ्चाशिका, कामकलाविलास, सौभाग्यचन्द्रोदय, वरिवस्यारहस्य, वरिवस्याप्रकाश, शाम्भवनन्दकल्पलता, त्रिपुरा-सार, संकेतपद्धति, सौभाग्यसुधोदय, परापूजाक्रम आदि।

४. भुवनेश्वरी :—

भुवनेश्वरी देवी से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम हैं—भुवनेश्वरीरहस्य, भुवनेश्वरी-स्तोत्र, भुवनेश्वरी तन्त्र तथा भुवनेश्वरी पारिजात।

५. भैरवी :—

भैरवी के अनेक प्रकार हैं—सिद्धिभैरवी, त्रिपुराभैरवी, चैतन्यभैरवी, भुवनेश्वरी भैरवी, कमलेश्वरी, सम्पत्प्रदा, कौलेशी, कामेश्वरी, षट्कूटा, नित्या, रुद्र, गद्र भैरवी आदि। इस महाविद्या से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम हैं—भैरवी रहस्य, भैरवीसपर्याविधि, भैरवीयामल आदि।

६. छिन्नमस्ता :—

इस महाविद्या से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं—शक्तिसङ्गम तन्त्र, (छिन्नमस्ताखण्ड), तथा छिन्नमस्ता तन्त्र। इस विद्या का विस्तृत विवेचन शक्तिसङ्गम तन्त्र में किया गया है।

७. धूमावती :—

धूमावती उत्तराम्नाय की देवी है। शत्रु के मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिये धूमावती की पूजा का विधान है। इससे सम्बद्ध ग्रन्थ में पूजा का विधान है। सम्बद्ध ग्रन्थ धूमावती तन्त्र है। प्राणतोषिणी तन्त्र में देवी के आविर्भाव का वर्णन किया गया है।[१]

८. वगला :—

वगला देवी से सम्बद्ध मुख्य ग्रन्थ शाङ्खायन तन्त्र है। इससे सम्बद्ध दूसरे ग्रन्थ का नाम है—वगलाक्रम कल्पवल्ली। शाक्त प्रमोद में वगलामुखी तन्त्र का संग्रह किया गया है।

---

१. तान्त्रिक साहित्य (भूमिका), पृ० ३८।

९. मातङ्गी :—

मातङ्गी को सुमुखी उच्छिष्टचाण्डालिनी अथवा महापिशाचिनी के नाम से जाना जाता है। ये दक्षिण तथा पश्चिम आम्नाय की देवी हैं। इस देवी की उपासना से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—मातङ्गी-क्रम, मातङ्गी-पद्धति और सुमुखी पूजा-पद्धति। इसके अतिरिक्त शाक्त प्रमोद में मातङ्गी तन्त्र नामक ग्रन्थ का संग्रह किया गया है, जिसमें देवी मातङ्गी के ध्यान, यन्त्रोद्धार, मन्त्रोद्धार, पूजाविधि, स्तोत्र, कवच, हृदय, शतनामस्तोत्र तथा सहस्रनाम का विवेचन है।

१०. कमला :—

'शाक्त प्रमोद' में 'कमलात्मिका तन्त्र' नामक ग्रन्थ का संग्रह किया गया है। इस तन्त्र में देवी के ध्यान, यन्त्रोद्धार, मन्त्रोद्धार, पूजाविधि, स्तोत्र, कवच, हृदय, शतनाम, सहस्रनाम के विवेचन के साथ कमलात्मिकोपनिषद् भी उद्धृत है।[१] इससे सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों में तन्त्रसार, शारदातिलक आदि ग्रन्थ मुख्य हैं।

ये दशमहाविद्यायें उस परम शक्ति के विभिन्न रूप हैं, जो परम शिव से अभिन्न होकर अनन्त आभासवैचित्र्य में अपने को अभिव्यक्त करती हैं। शक्ति विमर्श रूप है और परम शिव 'अहं' रूप है, किन्तु शिव को अपनी 'अहन्ता' का बोध शक्ति (विमर्श) के बिना सम्भव नहीं है। परम शक्ति अपने मूल रूप में अमूर्त रूप है, किन्तु आभासनकार्य के बाद वही प्रमाता, प्रमेय, प्रमा तथा प्रमाण रूप में जानी जाती है।[२] वही सूक्ष्म वाक् और अर्थ की सर्जिका है। वही परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी वाणियों के द्वारा ही सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म और स्थूल प्रपञ्च में अभिव्यक्त होती है। ब्रह्म से अतीत भूमि में संचित विशुद्ध सत्ता ही षोडशकलामय पूर्ण सत्ता है।[३]

देवता-भेद से ही तान्त्रिक वाङ्मय के अनेक वर्गीकरण किये जाते हैं। वैसे तात्त्विक दृष्टि से सभी एक हैं। शिव और शक्ति परस्पर अभिन्न हैं, तथापि साधकों के द्वारा अलग-अलग सम्प्रदायों का आचार-क्रम विकसित किया गया। शिव और शक्ति परस्पर सत् और चित् रूप हैं। शक्ति तत्त्व के द्वारा ही शिव सृष्टि-कार्य में समर्थ होता है। शिव और शक्ति दोनों नित्य रूप से परस्पर अभिन्न हैं। महाप्रलय के समय भी दोनों का युगनद्ध समाप्त नहीं होता।[४]

---

१. शाक्त प्रमोद, पृ० ३६७।

२. शाक्त मोनिज्म : द कल्ट आफ शक्ति, पृ० ५।

३. अखण्ड महायोग, पृ० ४१।

४. नान डुअलिज्म : शैव एण्ड शाक्त फिलोसोफी, पृ० १४४-१४५।

५. बौद्ध तन्त्र

अवतरण :—

तिब्बत और चीन की मान्यता के अनुसार आचार्य असंग ने तुषित स्वर्ग से तन्त्र का अवतरण किया था। असंग ने भी तन्त्र विद्या का अधिकार मैत्रेयनाथ से प्राप्त किया था, जो सम्भवत: भावी बुद्ध ही थे। उनका वास-स्थान भी पर्वत या धान्यकटक था, जो तान्त्रिक साधना का प्रधान केन्द्र था।[1] इतिहासज्ञों का मत है कि बौद्ध साहित्य में गुह्यसमाज में सबसे पहले शक्ति उपासना का प्रारम्भ हुआ। इससे लगता है कि असंग से पूर्व भी शक्ति-साधना की धारा पुष्ट थी। मातृरूप में कुमारी शक्ति की उपासना प्रचलित थी।

तान्त्रिक साहित्य :—

तिब्बत और चीन में बौद्धतन्त्र का विपुल साहित्य है। उनका प्रकाशन-कार्य कम हुआ है। बौद्धतन्त्र साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'गुह्यसमाज' है। इस प्रसङ्ग में मञ्जुश्रीमूल तन्त्र तथा हेवज्रतन्त्र का नाम उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तन्त्रों के नाम इस प्रकार हैं—[2]

१. कालचक्र तन्त्र और उसकी टीका विमल प्रभा, २. श्रीसम्पुट (योगिनी तन्त्र), ३. समाजोत्तर तन्त्र, ४. मूलतन्त्र, ५. नाम संगीत, ६. पञ्चक्रम, ७. सेकोद्देशतिलोपाकृत, ८. सेकोद्देश-टीका (नारोपाकृत) और ९. गुह्यसिद्धि। इसके अतिरिक्त ज्ञानसिद्धि, सहजसिद्धि तथा डाकार्णव आदि बौद्ध तन्त्रों का पता चलता है। बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय मुख्य रूप से हीनयान, महायान, वज्रयान और सहजयान सम्प्रदायों में विभाजित हुआ देखा जाता है।

(I) हीनयान और महायान साहित्य :—

ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद से महायान का विकास और विस्तार देखा जाता है। महायानी सन्तों की दृष्टि में बोधिसत्त्व के चक्रयान की दो श्रेणियाँ थीं —प्रज्ञापारमिता तथा मण्डल में दीक्षा और मन्त्र का अभ्यास। इससे सम्बद्ध साहित्य में पहले अतान्त्रिक पृष्ठभूमि का विवेचन करके बाद में तन्त्र की प्रधानता की चर्चा की गई है।[3] हीनयान और महायान को साहित्य की दृष्टि से नहीं विभाजित किया जा सकता।[4] हीनयान भी महायान के सिद्धान्तों से प्रभावित हुये

---

१. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त, पृ० २८०।

२. वही, पृ० २८३।

३. द बुद्धिस्ट तन्त्राज़, पृ० ४।

४. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० ३४।

देखे जाते हैं। दोनों सम्प्रदायों से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं।[1]

१. महावस्तु या महावस्तु का अवदान (द्वितीय शताब्दी)
२ ललितविस्तर (९वीं शताब्दी के पूर्व)
३. कल्पनामंडीतिका (४०५ ई०)
४. चतुःशतक स्तोत्र (द्वितीय शताब्दी)
५. मैत्रेय व्याकरण (द्वितीय शताब्दी)
६. जातकमाला (चतुर्थ शताब्दी)
७. अवदानशतक (द्वितीय शताब्दी)
८. कर्मशतक
९. दिव्यावदान (प्रथम से चतुर्थ शताब्दी)
१०. अवदान कल्पलता (१०५२ ई०)

हीनयान भी आगे चलकर दो वर्गों में विभाजित हुआ—श्रावकयान और प्रत्येक बुद्धयान। कालान्तर में बौद्ध सम्प्रदाय वैभाषिक, सौत्रान्तिक, चित्तमत्र तथा माध्यमिक—इन चार शाखाओं में विभाजित हुआ। हीनयानी सचेतन प्राणियों के कल्याणार्थ कष्ट सहन करने में असमर्थ थे तथा महायानी इस कार्य में समर्थ थे।[2]

(ii) वज्रयान साहित्य :—

इस सम्प्रदाय में तन्त्रों की कई कोटियाँ हैं—क्रिया तन्त्र, चर्यातन्त्र, योग तन्त्र, अनुत्तर योग तन्त्र, साधनासमुच्चय, साधनमाला आदि।[3] इसके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—चण्डमहारोषण तन्त्र, श्रीचक्रसंभार तन्त्र, तथागतगुह्यक या गुह्यसमाज तन्त्र, ज्ञानसिद्धि, प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि, अद्वयवज्रसंग्रह, आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प आदि।

(iii) सहजयान साहित्य :—

विश्वास और श्रद्धा के बल पर उद्देश्य तक पहुँचने वाला मार्ग 'सहजयान' है। नाम-स्मरण, नाम-जप, नाम-गायन ही सहजमार्ग है। म०म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा परवर्ती बौद्धधर्म का विकसित रूप देने वाले ग्रन्थों का सम्पादन किया गया है, जो 'बौद्ध गान वो दोहा' के नाम से प्रसिद्ध है। गानों या गीतियों को शास्त्री ने 'बौद्ध सहजिया मत के बँगला गान' नाम से सम्बोधित किया। उन्होंने 'सरोरुह-पाद' का 'दोहाकोष' भी सम्पादित किया है। इस दोहाकोष का नाम 'सहजाम्नाय-

---

१. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० ३४।
२. वही, पृ० १११।
३. वही।

'पंजिका' है। इसके अतिरिक्त 'डाकार्णव' को भी इस मत में सम्मिलित किया जाता है। राहुल सांकृत्यायन ने 'दोहाकोश' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिसमें सरहपाद के दोहों को सम्पादित किया है।[१] तिब्बत में तन्त्र की एक दीर्घ और स्वस्थ परम्परा दिखाई पड़ती है। तिब्बतीय धर्म कहने से तान्त्रिक बौद्ध धर्म का ही बोध होता है। यह उसके ऊपर बौद्ध धर्म का प्रभाव है।[२] पांचवीं और छठीं शती में बुद्ध के उपदेशों में तान्त्रिक तत्त्वों का पूर्ण समावेश प्रतीत होता है।[३] किन्तु वहाँ के बौद्धमूलक धर्म की परम्परा पर भारतीय तन्त्र का ही प्रभाव है।[४]

वस्तुतः तान्त्रिक वाङ्मय असंख्य रूप में दिखाई पड़ता है। सर जान उडरफ ने तन्त्र शास्त्र से सम्बद्ध बहुत से ग्रन्थों का समायोजन करके लगभग ३०० ग्रन्थों का संकेत किया है[५]। हिन्दू और बौद्ध दोनों तन्त्र प्रारम्भ में आध्यात्मिक और दार्शनिक चिन्तनधारा के स्थान पर विशुद्ध रूप से नाना प्रकार के 'प्रयोगों' का विधान करते हैं, जो परम लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में सहायक हैं। ये सब तन्त्र-शास्त्र विशेषकर "साधना" से सम्बद्ध है। प्रारम्भ में दर्शन का कोई निश्चित प्रारूप उन ग्रन्थों में नहीं दिखाई पड़ता।[६] बाद में इन्हीं तन्त्रों से अनेक प्रकार की दर्शन पद्धतियों का विकास हुआ। इसीलिये प्रारम्भ में विभिन्न दर्शन-पद्धतियों के नामों के साथ 'तन्त्र' शब्द को जोड़ा गया। यथा न्याय तन्त्र, सांख्य तन्त्र आदि।[७] वास्तव में तन्त्रशास्त्र एक गुह्य प्रायोगिक विज्ञान है।

—:०:—

---

१. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० १६६-१६७।
२. तिब्बेतन तान्त्रिक ट्रेडिशन, पृ० २।
३. वही, पृ० ३०।
४. वही, पृ० ७०।
५. प्रिंसिपिल्स आफ तन्त्र, पृ० ५३२-५३५।
६. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० १।
७. वहीं, पृ० २।

चतुर्थ पटल

तन्त्र : काल और रचनाधर्मित्व

नेपाल दरबार लाइब्रेरी में सुरक्षित "निःश्वास संहिता" गुप्त-लिपि में लिखी गई ८वीं शताब्दी की प्रतीत होती है।[1] ८वीं शती या इसके पूर्व जिन तन्त्रों की प्रामाणिकता स्वीकार की जानी चाहिये, उनके नाम हैं—विजय, निःश्वास, स्वायम्भुवमत, वाथुल, वीरभद्र, रौरव, माकुट, विरस (वीरेश), चन्द्रहास (चन्द्र), ज्ञान, मुखविम्बक (विम्ब), प्रोद्गीत, ललित, सिद्धि, सन्तान, सर्वोद्गीत, किरण और पारमेश्वर।[2] कम्बुज में प्राप्त Sdok Kak Thom के अभिलेख में शिरश्छेद, विनाशिख, सम्मोहन तथा नयोत्तर नामक चार तान्त्रिक ग्रन्थों का संकेत किया गया है, जिनका समय ७वीं और ८वीं शताब्दी तो माना ही जाना चाहिये।[3] इस विवरण को देने का तात्पर्य यह है कि कुछ तान्त्रिक साहित्य को ७वीं शताब्दी के बाद नहीं ले जाना चाहिये।

रूढ़िवादी विचारधारा तन्त्रों की दैवी उत्पत्ति स्वीकार करती है और तन्त्रों की अति प्राचीनता की पुष्टि करती है किन्तु सभी रूढ़िवादी आमूल रूप से इस मान्यता को स्वीकार न कर सके। इस प्रकार तन्त्रों की अति प्राचीनता सन्देह का विषय रह जाता है। ऐसा माना जाता है कि किसी भी प्रारम्भिक ग्रन्थ में एक विशेष वर्ग या सम्प्रदाय के रूप में तान्त्रिक साहित्य का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। "तन्त्राधिकारिनिर्णय" में उद्धृत "कूर्म पुराण" में तन्त्रों की उत्पत्ति का स्पष्ट विवेचन मिलता है। इसके अतिरिक्त "बृहत्परासर", "विष्णुधर्मोत्तर पुराण" तथा "याज्ञवल्क्य संहिता" की टीका "योगियाज्ञवल्क्य" में पाशुपत और पञ्चरात्र सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है।[4] इस प्रकार कुछ पुराणों में आये सन्दर्भों से तन्त्रों और पुराणों की सहप्राचीनता के विषय में भी कुछ स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थों में भी कतिपय पुराणों का समष्टि और व्यष्टिरूप से सन्दर्भ आया है। निवार्णतन्त्र में "अष्टादशपुराण" शब्द का उल्लेख हुआ है—

अष्टादशपुराणानि साङ्गं वेत्ति च यो नरः।

× × ×

पुराणानि च सर्वाणि मयैवोक्तानि पार्वति।[5]

---

१. स्टडीज़ इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० ३-४।

२. वही, पृ० ५।

३. वही, पृ० २२।

४. तन्त्राज़ : स्टडीज़ आन दियर रेलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १९।

५. नवम पटल, पृ० १८।

"मार्कण्डेयपुराण" के "देवीमाहात्म्य-प्रकरण" में वर्णित निर्दिष्ट नियमों का सन्दर्भ कात्यायनी और वाराही तन्त्रों से जोड़ा जाता है।[1] इस विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तन्त्र और पुराण साहित्य का परस्पर उल्लेख होने से कुछ सीमा तक दोनों को समकालीन माना जा सकता है। तन्त्रों की भाषा भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है। यदि उक्त तथ्य स्वीकार किया जा सके, तो कुछ प्राचीनतम तन्त्रों को ईसा की प्रथम शताब्दी तक ले जाया जा सकता है। जबकि कुछ तन्त्र-ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जो १८वीं और १९वीं शताब्दी से सम्बद्ध माने जाते हैं। तन्त्रों के विकास में चूँकि एक दीर्घ समय लगा है, इसलिये उन्हें एक विशेष काल में नहीं रखा जा सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक कर्म काण्ड पर्याप्त श्रम-साध्य साधन थे, जिनसे इष्ट की प्राप्ति का विधान था तथा औपनिषदिक ज्ञान भी सामान्य मनुष्य की बुद्धि के परे हो गया। केवल पुराणों ने ऐसी परिस्थिति में भक्तियोग के मार्ग को प्रशस्त किया, किन्तु यह सब सद्यः फल-प्राप्ति का साधन न बन सका। इस विषम स्थिति में तन्त्रों का विकास हुआ जिनमें वैदिक यज्ञ, बलि, औपनिषदिक अद्वैत चिन्तन, पुराणों की भक्ति-परम्परा, पतञ्जलि का योग तथा अथर्ववेद के मन्त्रों का समष्टि रूप एक साथ देखा गया[2]। कहा जाता है कि सत्ययुग में प्राणी वैदिक पूजा का आचरण करते थे। त्रेतायुग में यह आचार श्रम-साध्य प्रतीत हुआ[3], इसलिये उस समय प्राणियों की आध्यात्मिक जिज्ञासा और उत्कण्ठा की पूर्ति के लिये उपनिषदों का अवतरण हुआ।

द्वापर युग में औपनिषदिक चिन्तन का ग्रहण सामान्य प्राणी के लिये कठिन हो गया क्योंकि उन दिव्य ऋषियों का अभाव सा हो गया था। गूढ़ तत्त्व के विषय में मनुष्यों का चिन्तन असम्भव सा हो गया। परिणाम स्वरूप पुराणों और संहिताओं का आविर्भाव हुआ, जिससे प्राणियों की चिन्तन-पिपासा को सन्तुष्ट किया गया। कलियुग के समय चिन्तन-धारा अधोगति को प्राप्त हो गई।[4] इस समय, वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराणादि की शक्ति मनुष्यों के कल्याण के लिये क्षीण होती दिखाई पड़ी। इस परिस्थिति में ज्ञान के देव भगवान् शिव ने स्वयं प्राणियों की मुक्ति के लिये तान्त्रिक पूजा-पद्धति का आविर्भाव किया—

---

१. तन्त्राज : स्टडीज़ आन दियर रेलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १८।

२. तन्त्राज : दियर फ़िलोसोफी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स, पृ० ३।

३. महानिर्वाणतन्त्र, १/३०-३१।

४. वही, १/३७-४९।

न वेदाः प्रभवास्तत्र स्मृतीनां स्मरणं कुतः ।
नानेतिहासयुक्तानां नानामार्गप्रदर्शिनाम् ।।
बहुलानां पुराणानां विनाशो भविता विभोः ।
तदालोका भविष्यन्ति धर्मकर्मवहिर्मुखाः ।।
× × ×
सत्कथालापमात्रञ्च न तेषां मनसि क्वचित् ।
त्वया कृतानि तन्त्रानि जीवोद्धारणहेतवे ।।[1]

इस श्रृङ्खला से यह सिद्ध होता है कि तन्त्रों का लिखित रूप जब सामने आया, उससे बहुत-बहुत समय पूर्व उनका अस्तित्त्व आचरण या चर्या में अवश्य रहा होगा।

प्रत्येक साहित्य के समय का निश्चय प्रायः वाह्य और अन्तर्साक्ष्य के आधार पर किया जाता है। गुप्तकालीन लिपियों में बहुत से तान्त्रिक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। सर्वज्ञानोत्तर तन्त्र, जो अपेक्षाकृत कुछ तन्त्रों का परवर्ती माना जाता है, की एक हस्तलिखित प्रति गुप्त लिपि में नेपाल दरवारी लाइब्रेरी में उपलब्ध है। इसी प्रकार कुब्जिकातन्त्र की एक हस्तलिखित प्रति गुप्त-लिपि में "एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल" में सुरक्षित है।[2] नेपाल दरवार लाइब्रेरी में "निःश्वाससंहिता" की एक हस्तलिखित प्रति परवर्ती गुप्त-लिपि में उपलब्ध है जो ८वीं शती की प्रतीत होती है।[3] इसी प्रकार सौर संहिता की हस्तलिखित प्रति १०वीं शताब्दी, किरणतन्त्र, की ९२४ ई० तथा जयाख्य संहिता की ११८७ ई० में तैयार की गई प्रतीत होती है।[4] पल्लवराजा राजसिंह वर्मा के समय में उसके "कैलासनाथ मंदिर अभिलेख" से दक्षिण के कुछ शिव आगमों का संकेत प्राप्त होता है। जिसका समय छठीं शती माना जाता है। पी० सी० बागची के द्वारा किये गये प्राचीन कम्बुज तान्त्रिक ग्रन्थों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि कम्बोडिया के एक Sdok Kak Thom के अभिलेख में "देवराज" नामक रहस्यमय सम्प्रदाय के साथ कुछ तान्त्रिक ग्रन्थों का संकेत मिलता है, जो राजा जयवर्मा द्वितीय के शासन काल (८०२ ई०) से सम्बद्ध है।[5]

१. महानिर्वाण तन्त्र, १/३८-३९-५० ।
२. तन्त्राज़ : स्टडीज़ आन दियर रेलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० २० ।
३. स्टडीज़ इन द तन्त्राज़, पृ० ९३ ।
४. तन्त्राज़ : स्टडीच आन दियर रेलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० २० की पाद टिप्पणी ।
५. स्टडीज़ इन द तन्त्राज़, भाग १, पृ० १ ।

बौद्धतन्त्र भी पर्याप्त प्राचीन माने जाते हैं। बौद्धधारिणी को तन्त्रों का पुरोगामिनी माना जाता है। "सुरंगम सूत्र", जिसका वाचन फाह्यान ने अपनी सुरक्षा के लिये किया था, में बौद्धधारिणी की प्रायः सम्पूर्ण सूची प्राप्त होती है। ५वीं शती में फाह्यान ने इस पुस्तक को श्रद्धापूर्वक अपने अधिकार में सुरक्षित रखा था जिसके आधार पर "बील" इस पुस्तक का समय प्रथम शताब्दी के बाद का नहीं मानता।[1]

इस प्रकार ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास बौद्धतन्त्रों का समय अनुमानित है। ह्वेनसांग के अनुसार महासांघिक (ईसा की प्रथम और द्वितीय शती) के समकालीन धारिणी या विद्याधरपिटक को माना जाता है, जो मन्त्रयान से सम्बद्ध हैं।[2] इसके अतिरिक्त महायानी साहित्य महावस्तु या महावस्तु का अवदान, चतुःशतकस्तोत्र, मैत्रेयव्याकरण, अवदानशतक आदि का समय द्वितीय शताब्दी स्वीकार किया गया है।[3] कुछ अन्य बौद्ध तान्त्रिक साहित्य ५वीं शताब्दी तक भी स्वीकार किये जाते हैं, जिनमें कल्पनामंडीतिका, जातकमाला, दिव्यावदान आदि प्रमुख हैं।[4]

पता चलता है कि उत्तर भारत का अमोघवज्र नामक एक ब्राह्मण श्रमण चीन में ७४६ ई० से ७७१ ई० तक रहा, जिसने उष्णीषचक्रवर्तितन्त्र, गरुड़गर्भगतन्त्र तथा वज्रकुमार तन्त्र को सम्मिलित कर ७७ ग्रन्थों का अनुवाद किया।[5] तारनाथ ने भी कुछ बौद्ध तन्त्रों के समय पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार वसुबन्धु के अग्रज असंग ने ऐसे बौद्ध तन्त्रों का संकेत किया है, जो धर्मकीर्ति के समय (६००ई० से ६१५ ई०) से सम्बद्ध बताये जाते हैं। उन्होंने कुछ ग्रन्थों का सम्बन्ध कुछ लेखकों से किया है। यथा—बुद्धकपाल तन्त्र का सम्बन्ध "सरह" से, योगिनीसचर्या का लुइपा से, हेवज्र तन्त्र का कम्बल तथा पद्मवज्र से, सम्पुटतिलका का कृष्णाचार्य से, कृष्णयमारि तन्त्र का ललितवज्र से तथा महामाया का संबंध गम्भीरवज्र से स्थापित किया।[6] ७वीं से ११वीं शती के बीच बहुत से शैव और वैष्णव आगमों का विकास देखा जाता है, जिन पर पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव है।

---

१. तन्त्राज़ : स्टडीज़ आन दियर रेलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० २१।
२. वही।
३. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० ३४।
४. वही।
५. वही।
६. तन्त्राज़ : स्टडीज़ आन दियर रेलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० २१।

कुलाचार के आविर्भावक आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रस्तुत "महाकौलज्ञान-विनिर्णय" नामक ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति परवर्ती गुप्त-लिपि में उपलब्ध होती है। नाथ-परम्परा का समय ८ वीं शती माना जाता है।[१] तन्त्रों को पृथ्वी पर अवतरित करने वाले ९ नाथों का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है।[२]

कुछ ऐसे भी तन्त्र-ग्रन्थ देखने को मिलते हैं, जो बहुत ही आधुनिक कहे जा सकते हैं। "विश्वसार तन्त्र" का "गूढ़ावतार खण्ड" यह सूचित करता है कि श्री चैतन्य, विष्णु के रूप में अवतरित हुये। उक्त तन्त्र में बंगाल के एक महान् वैष्णव उपदेशक "नित्यानन्द" के उल्लेख का पता चलता है। "ऊर्ध्वाम्नाय संहिता" में श्री चैतन्य की गणना विष्णु के १० अवतारों में बुद्ध के स्थान पर की गई है। "ब्रह्मयामल" और "कृष्णयामल" से सम्बद्ध उपखण्डों में चैतन्य का वर्णन हुआ है। इन ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ एशियाटिक सोसाइटी तथा बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता में उपलब्ध हैं। मेरुतन्त्र में "अंग्रेज" तथा "लन्दन" का उल्लेख मिलता है—

इंरेजा नवषट्पञ्चलण्ड्रजाश्चापि भाविनः।[3]

शाबर तन्त्रों में तो संस्कृत भाषा के मन्त्रों के साथ बोलचाल की भाषा में भी मन्त्र मिलते हैं—

"ओं भ्रंगाली बंगाली अताल पताल गर्द गर्द अदार कदार फट् फट् उत्कट ओं हुं हुं ठः ठः।"[४]

उक्त मंत्र नेत्र-बाधा को दूर करता है। रविवार या मंगलवार को २१ बार मंत्र पढ़ते हुये कुश से भाड़ना चाहिये। "महानिर्वाण तन्त्र" की रचना का संबंध राजाराम मोहन राय के गुरु हरिहरानंद नाथ से स्थापित किया जाता है, यद्यपि यह संदेह का विषय है, किन्तु यह तो निश्चित है कि उक्त तंत्र के टीकाकार हरिहरानंदभारती ही हैं। मूल और टीका एक साथ प्रकाशित हुई है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ कलकत्ता में आदि ब्रह्मसमाज के पुस्तकालय तथा राजाराम मोहन राय के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। ग्रंथ के वर्ण्य विषय काफी आधुनिक प्रतीत होते हैं।[५] संप्रति बहुत से तंत्र-ग्रन्थ ऐसे उपलब्ध होते हैं, जो आधुनिक

---

१. तंत्राज़ : स्टडीज़ आन दियर०, पृ० २३।
२. तन्त्राज तन्त्र, १/७।
३. तंत्राज : स्टडीज आन दियर०, पृ० २३ पर उद्धृत।
४. बृहत् साबर मंत्र, पृ० २७
५. तंत्राज : स्टडीज आन दियर०, पृ० २४।

विद्वानों के द्वारा लिखे गये हैं, लेकिन उनका नामकरण प्राचीन ग्रन्थों के नाम पर है, उसके वर्ण्य विषय प्राचीन ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न हैं। जैसे—रुद्रयामल तंत्र[1], गुप्तसाधन तंत्र[2], रावणकृत उड्डीश तंत्र[3], परशुराम तंत्र[4], श्रीयंत्रदीपिका[5], महा-यक्षिणीसाधन[6], शिवस्वरोदय[7], श्रीबगलामुखीरहस्यम्[8] आदि। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी तांत्रिक ग्रन्थ हैं जिनके लेखक का स्पष्ट रूप से पता चलता है। और लेखक स्वयं उस ग्रन्थ के प्रणयन का कारण स्पष्ट करता है। इस प्रसङ्ग में ईशान-शिवगुरुदेवमिश्र की "ईशानशिवगुरुदेवपद्धति" उल्लेखनीय हैं—

धिस्तृतानि विशिष्टानि तन्त्राणि विविधान्यहम्।
यावत्सामर्थ्यमालोच्य करिष्ये तन्त्रपद्धतिम्॥[9]

आज भी २० वीं शती में ब्रह्मसूत्र, शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, स्वरसूत्र कौलसूत्र, यज्ञसूत्र प्रभृति ग्रन्थों के समान तंत्र-साधन से संबद्ध ग्रन्थों का प्रणयन हो रहा है। सूत्रों की उस परम्परा में स्वामी प्रत्यगात्मानंद सरस्वती का "जपसूत्रम्" मंत्रशास्त्र का विश्वकोश रूप है, जो ४ अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं। इसमें कुल ५०० सूत्र तथा २००० कारिकायें हैं।[10]

यदि पाशुपत सम्प्रदाय के संस्थापक लकुलीश अथवा नकुलीश को मानें (जबकि विश्वम्भर शरण पाठक तथा गोपीनाथ कविराज पाशुपात सम्प्रदाय का

---

१. पं० प्रयागसूनु, पं० राम चरण नंदराम शर्मा रचित, खेमराज श्री कृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से प्रकाशित।
२. संपादक—श्री भद्रशील शर्मा, कल्याण मंदिर प्रयाग से प्रकाशित।
३. गोवर्धन पुस्तकालय, मथुरा से प्रकाशित।
४. संपादक, श्री भद्रशील शर्मा (कल्याण मंदिर प्रकाशन) प्रयाग।
५. लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी द्वारा रचित दैवज्ञ भवन प्रकाशन, राजगढ़, नरसिंहगढ़, (म०प्र०)।
६. गंगादास श्रीकृष्णदास, लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण-बंबई से प्रकाशित।
७. श्रीगोपाल पुस्तकालय, मथुरा से प्रकाशित।
८. श्री पीताम्बरापीठाधीश्वर वनखण्डेश्वर महाराज द्वारा प्रणीत, श्री पीताम्बरा संस्कृतपरिषद्, दतिया से प्रकाशित।
९. ईशानशिवगुरुदेव पद्धति, १/३।
१०. जपसूत्रम्, भूमिका, पृ० २९।

संस्थापक श्रीकण्ठ को मानते हैं),[1] तो इससे सम्बद्ध तंत्र-ग्रन्थ ईसा की, प्रथम शताब्दी तक ले जाना चाहिये, क्योंकि नकुलीश का समय १०५ ई० के लगभग सिद्ध किया जाता है।[2] आ० जी० भण्डारकर तो लाकुलीश का समय द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व स्वीकार करते हैं और डी० आर० भण्डारकर ईसा की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध।[3] उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि तंत्रों का लिपिबद्ध रूप अधिक से अधिक ईसा की द्वितीय शताब्दी के पूर्व से प्रारभ हुआ माना जा सकता है। संभव है कि तांत्रिक धर्म और दर्शन के बीज वैदिक काल में या उसके पूर्व भी रहे हों।

रचनाधर्मित्व :—

आगमिक वाङ्मय के अवतरण के प्रकरण में तंत्रों की प्राचीनता पर प्रकाश डालते समय यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि तांत्रिक वाङ्मय का तत्त्व उतना ही प्राचीन है, जितना वैदिक वाङ्मय का। वेदों के ही समान तंत्रों का भी दैवी अभिहितत्व है। साक्षात् भगवान् शिव के मुख से आया हुआ शास्त्र ही "आगम" है। तांत्रिक वाङ्मय का आर्षत्व इसी से जाना जा सकता है। शिव और पार्वती, उमा और महेश्वर, भैरव तथा भैरवी के वार्तालाप के रूप में अधिकांश तंत्र-ग्रन्थ दिखाई पड़ते हैं। किंतु आधुनिक युग में बहुत से ऐसे तंत्र उपलब्ध हैं, जो आधुनिक विद्वानों के द्वारा लिखे गये हैं और वे भी ईश्वर-पार्वती-संवाद-रूप में हैं। इस तरह के ग्रन्थ कभी-कभी तांत्रिक ग्रन्थों के आर्षत्व में संदेह उत्पन्न करने लगते हैं। प्राचीन तंत्रों के रचनाधर्मित्व के विषय में हमें बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। लगता है कि उन ग्रन्थों की पवित्रता और प्राचीनता स्थापित करने के लिये ही उनकी दैवी उत्पत्ति बताई जाती है।[4] जैसे वैष्णव तंत्रों के वक्ता विष्णु हैं और बौद्ध तंत्रों के वक्ता बोधिसत्त्व हैं। इससे यह प्रतीत होता है, कुछ विद्वानों ने अपने नाम को सनत्कुमार, दत्तात्रेय, अष्टावक्र, भारद्वाज आदि ऋषियों के नामों के साथ जोड़कर ग्रन्थों की रचना कर डाली हो। ध्यातव्य है कि योग-संप्रदाय के जनक दत्तात्रेय षडभिचार प्रयोग से संबंध रखते हुये दत्तात्रेय तंत्र

---

१. शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० ४ तथा पुस्तक के संबंध में म० म० गोपीनाथ कविराज की सम्मति, आवरण पृष्ठ पर।

२. तंत्र महाविज्ञान, प्रथम खण्ड, पृ० ५२।

३. शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० ९।

४. तंत्राज़ : स्टडीज़ आन दियर रेलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० २५।

में दिखाई पड़ते हैं।[1] भास्कर राय ने तो तंत्रों के प्रवर्तकों की एक सूची ही प्रस्तुत की है, जो इस प्रकार है—परब्रह्म, स्वच्छंद भैरव, अनाश्रित ईश्वर, देवी, सदाशिव, ईश्वर, विद्येश्वर, श्रीकण्ठ आदि।[2]

ऐसी मान्यता है कि कश्मीर शैव मत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शिवसूत्र का दर्शन स्वप्न में महादेव पर्वत पर शिव के द्वारा वसुगुप्त को कराया गया था।[3] इसी प्रकार श्रीमतोत्तर तंत्र का आविर्भाव शिव के द्वारा पार्वती के लिये किया गया बताया जाता है जिसका अवतरण पृथिवी पर एक मानव लेखक श्रीकण्ठनाथ के द्वारा माना जाता है। इस तथ्य का संकेत किया ही जा चुका है कि "महाकौलज्ञानविनिर्णय" नामक ग्रन्थ के प्रणेता मत्स्येन्द्रनाथ थे। ब्रह्मयामल का "योगविजयस्तवराज" अंश पिप्पलाद मुनि के द्वारा स्वर्ग से अवतरित किया गया बताया जाता है। यद्यपि यह मूलतः शिव के द्वारा पार्वती के प्रति कहा गया है।[4] "महेश्वरीय तंत्र" को शिव के द्वारा शिवगिरि नामक एक साधक के प्रति प्रकट किया गया बताया जाता है।

ऐसे भी उदाहरण देखने को मिलते हैं कि कुछ तन्त्रों की दैवी उत्पत्ति के स्थान पर मानवीय रचनाधर्मिता प्राप्त होती है। "पूर्वाम्नाय तंत्र" की एक ऐसी हस्तलिखित प्रति नेपाल की दरबार लाइब्रेरी में उपलब्ध है, जिसकी पुष्पिका में उसे "रत्नदेव" के द्वारा प्रणीत कहा गया है।[5] इसी प्रकार "जयाख्यसंहिता" को चंद्रदत्त के द्वारा, "पारदयोगशास्त्रम्" शिवराम योगीन्द्र के द्वारा तथा "ताराविलासोदय" वासुदेव कवि कंकण के द्वारा रचित माना जाता है।[6] कूर्म पुराण के अनुसार "सात्वत अंशु" एक ऐसे शास्त्र का रचयिता था, जो निम्न वर्णों के लोगों में प्रचलित था, इसी को बाद में "सात्वत तंत्र" के नाम से जाना गया। वेदोत्तम ने अपने "पञ्चरात्रप्रामाण्य" नामक ग्रन्थ में इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि जिन तंत्रों को महेश्वर के द्वारा अवतरित माना जाता है, वह महेश्वर भगवान् रूप नहीं, अपितु मनुष्य ही हैं। नाम साम्य के कारण शास्त्र को भगवद्रूप महेश्वर से

---

१. दत्तात्रेय तंत्रम्, १/१-१८।

२. तंत्राज़ : स्टडीज़ आन दियर रेलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० २५, पाद टिप्पणी ३।

३. कश्मीर शैविज्म—जे०सी० चटर्जी, पृ० २७ पाद टिप्पणी।

४. तंत्राज़ : स्टडीज़ आन दियर रेलीजन ०, पृ० २६।

५. वही।

६. वही।

जोड़ दिया गया।[1] इसी प्रकार का आरोप वैष्णवों के प्रति भी लगाया जाता है कि वासुदेव नामक किसी व्यक्ति ने वैष्णव तंत्रों की रचना की—

वासुदेवाभिधानेन केनचिद्विप्रलिप्सुना।
प्रणीतं प्रस्तुतं तन्त्रमिति निश्चिनुमो वयम् ॥[2]

उक्त विवरण से इस तथ्य की पुष्टि हो रही है कि तांत्रिक वाङ्मय की रचना की एक दीर्घ परम्परा रही है, जो ईसा की अधिक से अधिक दो शताब्दी पूर्व से लेकर १८वीं शताब्दी बाद तक निरंतर प्रवाहित होती चली आई है। कुछ तंत्र ग्रन्थ निःसंदिग्ध रूप से प्राचीन हैं, लेकिन कुछ की आधुनिकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता तथापि इसके तांत्रिक वाङ्मय का व्यापकत्व ही सिद्ध होता है।

—:०:—

१. तंत्राज: स्टडीज आन दियर रेलीजन एण्ड लिटरेचर, पृ० २७ पाद की टिप्पणी।
२. आगमप्रामाण्यम्, पृ० २५।

द्वितीय पुष्प

आगम, यामल और तन्त्र

प्रथम पटल

आगम, यामल और तन्त्र : स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध

आगम :—

सम्पूर्ण तांत्रिक वाङ्मय के आदि और आर्ष ग्रन्थ आगम हैं। आगमों की दैवी उत्पत्ति मानी जाती है जिस प्रकार वेदों की। यदि वेद (निगम) ब्रह्म के उच्छ्वास हैं तो आगम भगवान् शिव के। निगम और आगम का उत्पत्ति-सिद्धांत समान माना जाता है। तांत्रिक मान्यता तो यह है कि निगम और आगम दोनों की उत्पत्ति भगवान् शिव के मुख से हुई है।[1]

सर्व प्रथम वासुदेव ने उस निगमागम-ज्ञान को सुना। उन्होंने गणेश को सुनाया और गणेश ने नंदीश्वर को तथा इस प्रकार पृथिवीतल पर आगम और निगम व्याप्त हो गया।[2] कहीं-कहीं निगम को वेद से भिन्न बताया गया है और वेद की उत्पत्ति यामलों से बतलाई गई है।[3]

इस दृष्टि से सर्व प्राचीन भारतीय वाङ्मय निगम हैं। उसके बाद क्रमशः आगम, यामल, वेद और पुराण आदि। शायद यह क्रम इसीलिये प्रदर्शित है जिससें वेद की अपेक्षा आगमों और यामलों की महत्ता की पुष्टि हो। इसीलिये महेश को निगमात्म स्वरूप, परमात्मा को आगम रूप, जीवात्मा को यामल रूप तथा बाह्य चैतन्य को वेद रूप कहा गया है—

निगमात्मा महेशानि परमात्मागमो ध्रुवम्।
जीवात्मा यामलं प्रोक्तं बाह्यात्मा वेदरूपकम्॥[4]

वेदों के अङ्ग रूप में पुराण और पुराण के अङ्ग रूप में स्मृति की प्रसिद्धि तंत्र स्वीकार करते हैं। अन्य सभी शास्त्र शरीर के रोमवत् हैं।[5]

यामल :—

"यामल" शब्द "यमल" का भाववाचक है (यमल+अण्)। यमल का

---

१. सर्वोल्लास तंत्र, १/१३-१५।
२. वही, १/१६-१७।
३. वही, १/२१।
४. सर्वोल्लास तन्त्र, १/२७।
५. वही, १/२८।

अर्थ है "मिथुन"। "यामल" का शाब्दिक अर्थ हुआ "मिथुन वाला"। चूंकि "यामल" शब्द एक विशेष शास्त्र के लिये प्रयुक्त हुआ है, इसलिये इसकी व्युत्पत्ति की सार्थकता इस अर्थ में हो सकती है कि जो शास्त्र दो पात्रों के कथोपकथन के द्वारा विषय वस्तु का प्रवर्तन करता है, उसे "यामल" शास्त्र कहा जा सकता है। यह अर्थ इसलिये भी न्यायसंगत लगता है, क्योंकि जितने भी यामल ग्रन्थ हैं, वे सब भैरवी-भैरव, भैरव-भैरवी, उमा-महेश्वर, शिव-ब्रह्मा, नारद-महादेव, पार्वती-महेश्वर आदि देवी-देवताओं के परस्पर वार्तालाप से विषय का प्रतिपादन करते हैं। विज्ञान भैरव के प्रथम श्लोक में प्रयुक्त "यामल" शब्द का अर्थ टीकाकार के अनुसार "रुद्र और उसकी शक्ति का सामरस्य" है।[1] लगता है कि जिस प्रकार वैदिक वाङ्मय में संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों को अलग-अलग काल की रचना स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार तांत्रिक वाङ्मय के अंतर्गत भी आगम, यामल तथा तन्त्रों की युग-परम्परा की पुष्टि होती है। सूत्र और भाष्य-काल के समान इनकी भी परम्परा रही है। आगम साहित्य बहुत ही कम उपलब्ध हैं। म०म० गोपीनाथ कविराज ने दश शिवागम और अष्टादश रुद्रागमों का संकेत किया है।[2] उन्होंने ६४ भैरवागमों के अन्तर्गत यामलाष्टक में आठ प्रकार के यामलों की गणना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने "तान्त्रिक साहित्य" में अन्य बहुत से यामल-ग्रन्थों का संकेत किया है जो या तो स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध हैं अथवा किसी तान्त्रिक ग्रन्थ में उल्लिखित हैं।

वाराही तन्त्र के अनुसार जिस शास्त्र में सृष्टि, ज्योतिष्, नित्य-कृत्य का उपदेश, क्रम, सूत्र, वर्ण-भेद, जाति-भेद और युगधर्म—इन आठ विषयों की चर्चा की गई हो, उसे "यामल" कहते हैं—

सृष्टिश्च ज्योतिषाख्यानं नित्यकृत्यप्रदीपनम्।
क्रमसूत्रं वर्णभेदो जातिभेदस्तथैव च॥
युगधर्मश्च संख्यातो यामलस्याष्टलक्षणम्।[3]

सर्वोल्लासतन्त्र में सर्वानन्दनाथ ने यामलोत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि परम शक्ति सूक्ष्म रूप में निर्मल तथा स्थूल रूप में "यामल" रूप (मिथुन रूप) है। उस देवी का विग्रहरूप ही "यामल" है। सभी शास्त्रों का ज्ञान रूप "यामल" है—

---

१. विज्ञानभैरव, पृ० १।
२. तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ५९-६०।
३. तन्त्रकल्पतरु, पृ० ६६ पर उद्धृत।

सूक्ष्मेऽपि निर्मला या च स्थूले सा यामलः शिवे।
यामलोक्तं स्थूलरूपं सर्वशास्त्रस्य बोधनम् ॥[1]

तन्त्र :—

"तन्त्र" शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने से हमें यह पता चलता है कि "तन्त्र" शब्द तन् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय लगाने से बना है, जिसका अर्थ "विस्तार" है—तन्यते विस्तार्यंते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्।[2] अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाय, उसे "तन्त्र" कहते हैं। तन्त्र शब्द का सम्बन्ध तन् धातु के अतिरिक्त तत्र् या तन्त्र् धातु से भी है जिसका अर्थ "व्याख्या करना" है।[3] म०म० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार तन्त्र, बीजगणित के सूत्र के समान अति सूक्ष्म सूत्र रूप हैं जिनमें मन्त्रों के अनेक वर्णों की समष्टि निहित है। मानव-जीवन के मनोभाव तथा वासना आदि समस्त क्षेत्र के व्यावहारिक प्रयोग का साधन तन्त्र शास्त्र है। तन्त्र के द्वारा काम शक्ति चेतना, मनोवैज्ञानिक स्वस्थता तथा मानस प्रभुत्व के विभिन्न स्तर में निहित की जा सकती है। यह व्यवहार, विनम्रता, शुद्धता, शारीरिक तथा यौन-आकर्षण का साधन है।[4] "तन्त्र" शब्द व्यापक अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे—ज्योतिष् के अंग विशेष को तन्त्र कहते हैं। सांख्य-दर्शन को भी "तन्त्र" कहा गया है।[5] आचार्य शङ्कर "तन्त्र" नामक एक स्मृति का संकेत करते हैं।[6] म०म० गोपीनाथ कविराज ने "तन्त्र" शब्द की उक्त व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हुये "तन्त्र" का अर्थ "विस्तारपूर्वक रक्षा करना" स्वीकार किया है। उसके साथ ही उन्होंने "तन्त्र" शब्द का अर्थ "विज्ञान सहित ज्ञान" माना है।[7] तन्त्र परा आनन्द का विज्ञान है। यह नाद, बोध और यौन संसर्ग का मार्ग है।[8] 'तन्', तन्त्र् का ही मूल रूप है जिसका अर्थ "व्याख्या करना" है। ईशानशिवगुरुदेव मिश्र तत् (जानने अर्थ में) से तन्त्र की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं और तन्त्र को शैव सम्प्रदाय के पशु, पाश, पति, शक्ति, विचार और क्रियाचार

---

१. सर्वोल्लास तन्त्र, १-१९।
२. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ५४ पर उद्धृत।
३. तन्त्राज : स्टडीज आन दियर रेलीजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १।
४. तन्त्र दि इरोटिक कल्ट, पृ० ३०-३१।
५. सांख्यकारिका, ७०।
६. ब्रह्मसूत्र, २-१-१ का शाङ्करभाष्य।
७. तन्त्रकल्पतरु, पृ० ६२।
८. तन्त्र : द सीक्रेट पावर आफ सेक्स, पृ० ५।

आदि छः तत्त्वों की व्याख्या करने वाला शास्त्र मानते हैं।[१] "पिङ्गलामत" के अनुसार सब ओर से या हर प्रकार से वस्तु या प्रमेय का ज्ञान कराने वाला शास्त्र "आगम" और विस्तार, त्राण तथा व्याख्या करने वाला शास्त्र "तन्त्र" कहलाता है—

आज्ञा वस्तु समन्ताच्च गम्यत इत्यागमो मतः।
तनुते त्रायते नित्यं तन्त्रमित्थं विदुर्बुधाः॥[2]

"त्र" वर्ण "रक्षा" अर्थ में हैं। तात्पर्य यह है कि जिससे ज्ञान का विस्तार हो तथा जो रक्षा करे उस शास्त्र का नाम "तन्त्र" है—

तनोति विपुलान् अर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥[3]

इससे स्पष्ट होता है कि कष्टों से प्राणियों की रक्षा करने वाला तथा उनमें ज्ञान का विस्तार करने वाला शास्त्र "तन्त्र" कहलाता है। कहा जाता है कि "तन्त्र" शब्द का अंग्रेजी भाषा में सर्व प्रथम प्रयोग १७९९ ई० में हुआ, जब मिशनरियों ने भारत में आकर तन्त्रों का अन्वेषण किया।[४] पाश्चात्य विद्वानों ने "तन्त्र" को संस्कृत "प्रबन्ध" की संज्ञा दी, जिसका अर्थ उन्होंने "नैरन्तर्य" स्वीकार किया। उनके मत में "क्रिया तन्त्र", "चर्या तन्त्र", "योग तन्त्र" तथा "महायोग तन्त्र" के रूप में तन्त्रशास्त्र स्वीकार किये गये।[५] यह पाश्चात्य विचार है कि "तन्त्र" का शाब्दिक अर्थ "संघटन" है, जिससे उनका तात्पर्य है—व्यक्तित्व के विकास में निहित विभिन्न प्रकार के वैशिष्टय तथा पद्धतियों का एकीभवन।[६] ज्ञान और आनन्द की पद्धति के भेद से तन्त्र आचार—दक्षिण और वाम—दो मार्गों में विभक्त हुये।[७]

पारस्परिक सम्बन्ध :—

आगम, यामल या तन्त्र कहने से एक विशेष शास्त्र का बोध होता है।

---

१. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, भाग ३, पृ० २८।
२. तन्त्राज : स्टडीज आन दियर रेलीजिन एण्ड लिटरेचर, पृ० २ पर उद्धृत।
३. कामिकागम (तन्त्रान्तर पटल), शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ५५ पर उद्धृत।
४. द डान आफ तन्त्र, पृ० १ तथा बुद्धिस्ट फिलोसोफी इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, पृ० १५५।
५. द डान आफ तन्त्र, पृ० २-४।
६. बुद्धिस्ट फिलासोफी इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, पृ० १५६।
७. श्री अरविन्दो आन तन्त्र, पृ० १।

वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से तीनों शास्त्र "तन्त्र" के अर्थ को ही द्योतित करते हैं। यह तो रचना-परम्परा की धर्मिता है, उस शास्त्र को आगम, यामल या तन्त्र कहा गया। तीनों शास्त्रों की अभिन्नता इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि कहीं-कहीं "यामल" ग्रन्थ के साथ "तन्त्र" शब्द भी जुड़ा देखा गया है। जैसे "रुद्रयामल उत्तरतन्त्र। सर्वानन्दनाथ ने ६४ आगमों[1] का संकेत किया और जिनका नाम—संकीर्तन करते समय कालीतन्त्र, वीरतन्त्र, नीलतन्त्र आदि तन्त्रों का उल्लेख किया है।[2] आगम, यामल और तन्त्र साहित्य में रचना-शैली की दृष्टि से पौर्वापर्य हो सकता है किन्तु स्वरूप की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। हाँ, एक बात अवश्य है कि कुछ आगम अभेदपरक, कुछ भेदपरक तथा कुछ भेदाभेदपरक हैं। यह भेद शिव की भेद, भेदाभेद तथा अभेद दशाओं पर आधारित है। यह क्रम या व्यवस्था आगमों में अधिक पुष्ट है। शिव की दश भेद दशाओं के आधार पर दश शिवागम, १८ भेद दशाओं के आधार पर १८ रुद्रागम तथा शिव के अद्वयरूप दक्षिणीमुख से ६४ भैरवागमों की उत्पति मानी जाती है। आगम, यामल और तन्त्र परस्पर पर्याय के समान हैं। इसकी भी पुष्टि "रुद्रयामल उत्तरतन्त्र" से की जा सकती है। यह ग्रन्थ शिव के योगिनी वक्त्र से आविर्भूत ६४ भैरवागमों के अन्तर्गत है। यह ग्रन्थ आगम, यामल और तन्त्र—तीनों विद्या की समष्टि रूप है। ६४ भैरवागमों में—भैरवाष्टक, यामलाष्टक, मताख्याष्टक, मंगलाष्टक, चक्राष्टक, शिखाष्टक, बहुरूपाष्टक तथा वागीशाष्टक की गणना की जाती है। प्रत्येक "अष्टक" में आठ-आठ ग्रन्थ हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तन्त्रशास्त्र आगम, यामल और तन्त्र—तीनों रूपों में आविर्भूत हुआ देखा जाता है—

तन्त्रशास्त्रं तु प्रधानस्त्रिधा विभक्तं आगम-यामल-तन्त्रभेदत.।[3]

आगम, यामल और तन्त्र परस्पर सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त आम्नाय तथा डामरशास्त्र भी तन्त्र के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है। तन्त्रशास्त्र मानव जीवन के यथार्थ के अनुभव से अनुप्राणित है। ये शास्त्र कालान्तर की असंख्य दर्शन-पद्धतियों के मूल स्रोत हैं।[4] दर्शन-जगत् के अछूते विषयों को तन्त्र ने ग्रहण किया। तन्त्र शास्त्र, गहरे, स्पष्ट तथा उच्च चिन्तन का भण्डार है। जीव के कटु सत्य को भी तन्त्रों ने अभिव्यक्त किया। सम्प्रति "तन्त्रवाद" का अर्थ प्रायः शक्ति और काम (वासना) अर्थ में लिया जाता है।[5]

—: ० :—

१. सर्वोल्लासतन्त्र, १/२०।
२. वही, २/६-१८।
३. मातृकाभेदतंत्र, भूमिका, पृ० २ (तंत्रकल्पतरु, पृ० ६४ पर उद्धृत)।
४. युगनद्ध (द तान्त्रिक व्यू ऑफ लाइफ), पृ० ४।
५. द तान्त्रिक व्यू ऑफ लाइफ, पृ० १।

द्वितीय पटल

आगमिक वाङ्मय में रुद्रयामल उत्तरतन्त्र

शैव और शाक्त आगम परम शिव के पञ्चमुखों से निःसृत हुये माने जाते हैं। ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर—शिव के ये पाँच मुख हैं। इन मुखों से सिद्ध, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया—ये पाँच शक्तियाँ प्रकट होती है। सदाशिव के पञ्चमुख के संघटन से भेद, भेदाभेद तथा अभेद दशाओं का अविर्माव होता है। महेश्वर की भेद प्रधान दश, भेदाभेद प्रधान अठारह तथा अभेद प्रधान ६४ अवस्थायें मानी जाती हैं। इन अवस्थाओं की संख्या के अनुकूल आगमों की संख्या भी है। भेद, भेदाभेद तथा अभेद दशाओं के अलग-अलग अधिष्ठातृ-देवता स्वीकार किये गये हैं। परम शिव ही भेद दशा में शिव, भेदाभेद दशा में रुद्र तथा अभेद दशा में भैरव रूप हैं। इनसे सम्बद्ध आगमों को क्रमशः शैवागम या शिवागम, रुद्रागम और भैरवागम कहा जाता है।

शिवागम या शैवागम

सदाशिव की दश भेद दशाओं के आधार पर दश प्रकार के शिवागम बताये गये हैं। कहा जाता है कि जगत् की सृष्टि के बाद परमेश्वर ने सर्वप्रथम दश शिवों की सृष्टि करके उनमें से प्रत्येक को अपने अविभक्तमहाज्ञान का एक-एक भाग दिया। यही मूल शिवागम है। स्वरूप भेद से यह अनेक रूपों में परिणत हुआ है। दश शैवागम इस प्रकार हैं—

१. कामिक आगम :—

दस शिव में सबसे पहला नाम है प्रणवशिव। परमेश्वर से उन्हें प्राप्त आगम "कामिक" हैं। इस आगम को प्रणवशिव से त्रिकल ने प्राप्त किया और त्रिकल से हर ने। किरणागम और कामिकागम में "कामिक" नाम ही मिलता है, किन्तु जयरथ द्वारा उद्धृत श्रीकण्ठसंहिता के अनुसार इसका नाम "कामज" है।[1]

२. योगज आगम :—

इसके श्लोकों की संख्या एक लाख बताई जाती है। इसके पाँच भेद हैं। परमेश्वर से इस आगम को सबसे पहले "सुधा" नामक शिव ने प्राप्त किया। सुधा से भस्म और भस्म से प्रभु के माध्यम से यह परम्परा आगे बढ़ी।

३. चिन्ता आगम :—

इसमें भी श्लोकों की संख्या एक लाख बताई जाती है। परमेश्वर से इस ज्ञान को सबसे पहले दीप्त ने, दीप्त से गोपति और गोपति से अम्बिका ने प्राप्त किया।

---

१. तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ६० पर उद्धृत।

४. कारण आगम :—

इसका परिमाण एक करोड़ बताया जाता है। इसके सात भेद हैं। इस आगम-ज्ञान को सबसे पहले "कारण" ने पाया। कारण से शर्व और शर्व से प्रजापति ने प्राप्त किया।

५. अजित आगम :—

इसका परिमाण एक लाख है। इसके चार भेद हैं। यह परम्परा सुशिव, उमेश तथा अच्युत से क्रमशः आगे बढ़ती गई।

६. सुदीप्तक :—

इसका भी परिमाण एक लाख है। इसके नौ भेद बताये गये हैं। इसे सबसे पहले "ईश" ने प्राप्त किया। ईश से त्रिमूर्ति और त्रिमूर्ति से हुताशन ने प्राप्त किया।

७. सूक्ष्म आगम :—

इसका परिमाण एक लाख बताया गया है। यह आगम क्रमशः सूक्ष्म, भव, प्रभंजन के माध्यम से अवतरित हुआ।

८. सहस्र आगम :—

इसके दस भेद बताये गये हैं। इसे सबसे पहले काल ने प्राप्त किया। काल से भीम और भीम से खग ने प्राप्त किया।

९. सुप्रभेद आगम :—

इसका परिमाण तीन करोड़ बताया जाता है। इसका कोई भेद नहीं मिलता। यह आगम धनेश, विश्वेश तथा शशि से विकसित हुआ।

१०. अंशुमान आगम :—

इसके बारह भेद बताये जाते हैं। इसे पहले अंशु ने पाया। अंशु से अग्र, अग्र से रवि ने प्राप्त किया।

श्रीकण्ठीसंहिता की सूची में "सुप्रभेद" के स्थान पर मुकुट आगम का नाम है।[1]

२. रुद्रागम

सदाशिव की भेदाभेद या द्वैताद्वैत दशा पर आधारित रुद्रागमों की अठारह संख्या बताई गई है। यहाँ पर हम रुद्रागमों के नाम तथा उनके प्रथम तथा द्वितीय श्रोता का नामोल्लेख भी कर रहे हैं—

---

१. तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ५९-६०।

१. विजय—अनादिरुद्र और परमेश्वर ।

२. निःश्वास—दशार्ण और शैलजा ।

३. पारमेश्वर—रूप और उशना ।

४. प्रोद्‌गीत—शूली और कच ।

५. मुखबिम्ब—प्रशान्त और दधीचि ।

६. सिद्ध—बिन्दु और चण्डेश्वर ।

७. सन्तान—शिवलिङ्ग और हंसवाहन ।

८. नरसिंह—सौम्य और नरसिंह ।

९. चन्द्रांशु या चन्द्रहास—अनन्त और बृहस्पति ।

१०. वीरभद्र—सर्वात्मा और वीरभद्र महागण ।

११. स्वायम्भुव—निधन और पद्मज ।

१२. विरक्त—तेज और प्रजापति ।

१३. कौरव्य—ब्रह्मणेश और नन्दिकेश्वर ।

१४. माकुट या मुकुट—शिवाख्य या ईशान और महादेव ध्वजाश्रय ।

१५. किरण—देवपिता और रुद्र भैरव ।

१६. गणित—आलय और हुताशन ।

१७. आग्नेय—व्योमशिव ।

१८. वातुल—(किसी ग्रन्थ में १८ की संख्या पूरी मिलती हैं, किन्तु सर्वत्र नहीं) ।

श्रीकण्ठी संहिता में विरक्त, कौरव्य, माकुट तथा आग्नेय के स्थान पर रौरव, विमल, विसर तथा सौरभेय का नाम आया है । मुकुटतन्त्र से रुद्रभेद द्विविध हैं । इसलिये रुद्र-ज्ञान छत्तीस आगमों में विभक्त मालूम होता है । दशशिवागम को लेकर द्विविध रुद्रभेद का योग करने पर ३० शिव भेद होते हैं और इस प्रकार कुल सिद्धान्त-ज्ञान की संख्या ६६ मानी जा सकती है ।[1]

निःश्वास संहिता में[2] रुद्रागमों के नाम इस प्रकार हैं—निःश्वास स्वायम्भुव, वातुल, वीरभद्र रौरव, मुकुट, विरस, चन्द्रहास, ज्ञान, मुखबिम्ब, प्रोद्‌गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोद्‌गीत, किरण और पारमेश्वर । इसी प्रकार वहाँ दस शिव तन्त्रों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—कामिक, योगज, दिव्य (चिन्ता), कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, साहस्र, अंशुमान तथा सुप्रभेद । उक्त कुल २८ आगमों का आविर्भाव शिव के पाँच मुखों से बताया जाता है ।

---

१. तन्त्र और आगम-शास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ६१ ।

२. वही, पृ० ६२ पर उद्धृत ।

१. सद्योजात—कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण और अजित—५ शिवागम।

२. वामदेव—दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमत और सुप्रभेद —५ शिवागम।

३. अघोर—विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, आग्नेय और वीर—६ रुद्रागम।

४. ईशान—रौरव, मुकुट, विमल, चन्द्रकान्त और विम्ब—५ रुद्रागम।

५. तत्पुरुष—प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोक्त, परमेश्वर।

किरण और वातुल—आठ रुद्रागम। इन १८ आगमों के १९८ विभाग की चर्चा कहीं-कहीं मिलती है।[1]

३. भैरवागम

परम शिव की अभेद दशा से ६४ प्रकार के भैरवागमों का अविर्भाव माना जाता है। शिव के दक्षिणी वक्त्र का नाम "योगिनी" है जो शिव का अद्वय-रूप है। अन्यान्य वक्त्रों में प्रत्येक के—उद्भवोन्मुख, उद्भूत, तिरोधानोन्मुख तथा तिरोहित आदि चार-चार रूप हैं। इस प्रकार उन चार वक्त्रों के कुल १६ रूप हैं। चारों वक्त्रों के अन्तर्लीन होकर परस्पर मिलने से ६४ प्रकार की अद्वय भैरव अवस्थायें प्रकट होती हैं। जब दक्षिण मुख (योगिनी वक्त्र) में एक ही समय में उक्त चारों मुखों का लय होता है, तब भैरव आगमों का आविर्भाव होता है। चूंकि ये आगम परम शिव के "योगिनी" नाम मुख से आविर्भूत हैं इसलिये इन्हें शाक्त आगम कहते हैं।

कौलमार्ग शिव की अद्वयदशा से सम्बद्ध है जहाँ शिव और शक्ति का ऐक्य स्वीकार किया जाता है। कौलमार्ग में ६४ भैरवागमों की गणना की जाती है जो भैरवाष्टक, यामलाष्टक आदि आठ "अष्टकों" में विभक्त हैं—

१. भैरवाष्टक—स्वच्छ, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, असितांग, महोच्छूष्म तथा कंकालीश (आठवें का पता नहीं चलता)।

२. यामलाष्टक—ब्रह्म, विष्णु, शक्ति, रुद्र, आथर्वण, रुरु, वेताल और स्वच्छन्द।

३. मताख्याष्टक—रक्ताख्य, लम्पटाख्य, लक्ष्मी, मत, चालिका, पिंगल, उत्फुल्लक तथा विश्वाद्य।

४. मंगलाष्टक—भैरवी, पिचुतंत्र, समुद्भव, ब्राह्मीकला, विजया, चन्द्राख्या, मंगला और सर्वमंगला।

---

१. तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ६४।

५. चक्राष्टक—मन्त्र, वर्ण, शक्ति, कला, बिन्दु, नाद, गुह्य, और ख चक्र।
६. शिखाष्टक—भैरवी, वीणा, वीणामणि, सम्मोह, डामर, आर्थवक, कबन्ध और शिरश्छेद। "वीणाशिखा" के स्थान पर प्रबोध चन्द्र बागची[1] ने "विनासिख" नाम दिया है।
७. बहुरूपाष्टक—अन्धक, रुरुभेद, अज, मल, वर्णकण्ठ, विडंग, ज्वालिन् और मातृरोदन।
८. वागीशाष्टक—भैरवी, चित्रिका, हंसा, कादम्बिक, हृल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्युल्लेखा और विद्युन्मान।

उक्त ६४ भैरवागम तथा शुभागम की ५ संहितायें शाक्त आगमों के अन्तर्गत स्वीकार की जाती हैं। सम्मोहनतंत्र (अध्याय ६) के अनुसार ६४ तंत्रों, ३२७ उपतंत्रों, यामल, डामर तथा संहिताओं को शाक्ततंत्र के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।[2]

यामल शास्त्र और रुद्रयामल उत्तरतन्त्र

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि निगम से आगम, आगम से यामल, यामल से वेद, वेद से पुराण, पुराण से स्मृति तथा स्मृति से अन्य शास्त्रों की उत्पत्ति हुई।[3] सर्वानन्द नाथ ने आगमों की संख्या ६४, निगमों की ५ और यामलों की संख्या ४ बतलाई हैं—

चतुष्षट्यागमः प्रोक्तः पञ्चधा निगमस्तथा।
यामलञ्च चतुर्धोक्तं तस्माच्छास्त्रं प्रकाशितम्॥[4]

यह भी संकेत किया गया है कि सत्य युग में श्रुति, त्रेता में स्मृति, द्वापर में पुराण तथा कलियुग में आगम की अवस्थिति मानी जानी चाहिये।[5] वहाँ यह भी स्वीकार किया गया है कि वेदों की उत्पत्ति के स्रोत्र यामल शास्त्र ही हैं—

ब्रह्मयामलसम्भूतं सामवेदमतं शिवे।
रुद्रयामलसंजातम् ऋग्वेदं परमं महत्॥
विष्णुयामलसम्भूतं यजुर्वेदं कुलेश्वरि।
शक्तियामलसम्भूतमथर्वं परमं महत्॥[6]

---

१. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० ११।
२. शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ६० पर संकेतित।
३. सर्वोल्लासतंत्र, १/२१-२२।
४. वही, १-२०।
५. वही, १-२३।
६. वही, १-२९-३०।

यह बड़ा विचित्र सा लगता है कि सत्ययुग में श्रुति, त्रेता में स्मृति, द्वापर में पुराण और कलियुग में आगम का अवतरण बताया गया है, जबकि यामलों के बाद पुराणों की उत्पत्ति का भी संकेत सर्वानन्द नाथ ने स्वयं किया है। इसी प्रकार उनके इस कथन में भी विचित्रता लगती है कि सत्ययुग में सामवेद, त्रेता में ऋग्वेद, द्वापर में यजुर्वेद तथा कलियुग में अथर्ववेद की अवस्थिति है।[1]

यामलों के भेद :—

भैरवागम के अन्तर्गत यामलाष्टक में ब्रह्म, विष्णु, शक्ति, रुद्र, आथर्वण, रुरु, वेताल और स्वच्छन्द—इन आठ यामलों की गणना की गई है। ब्रह्मयामल की एक पाण्डुलिपि (नेपाल दरबार लाइब्रेरी में उपलब्ध) में रुद्र, स्कन्द, ब्रह्म, विष्णु, यम, वायु, कुबेर तथा इन्द्र—इन आठ यामलों का उल्लेख किया गया है और इनके वक्ता क्रमशः स्वच्छन्द, क्रोध, उन्मत्त, उग्र, काली, झंकार, शेखर तथा विजय को माना गया है।[2] विद्यानन्द ने यामलाष्टक के अन्तर्गत ब्रह्मयामल, उमा-यामल, लक्ष्मीयामल, गणेशयामल विष्णु, रुद्र, जयद्रथ और स्कन्दयामल को स्वीकार किया है।[3] भास्करराय ने भी इसी संख्या को स्वीकार किया है। विद्यापीठ के अनुसार रुद्रयामल, स्कन्दयामल, ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, यमयामल, वायुयामल, कुबेरयामल और इन्द्रयामल—इन आठ यामलों का संकेत किया गया है। श्रीकण्ठी-संहिता में ब्रह्म, विष्णु, स्वच्छन्द, रुरु, अथर्वण, रुद्र तथा वेताल आदि सात यामलों का उल्लेख हैं। जयद्रथयामल में ब्रह्म, रुरु, स्कन्द, गौतमी, रुद्र तथा हरि आदि छः यामलों का संकेत है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि उक्त छः यामल जयद्रथयामल के पूर्ववर्ती हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि रुद्रयामल जयद्रथयामल का पूर्ववर्ती है। रुद्रयामल के पूर्ववर्ती यामल ग्रन्थ श्रीयामल, विष्णुयामल, शक्तियामल और ब्रह्मयामल हैं। श्री, विष्णु, शक्ति और ब्रह्मयामल का उल्लेख रुद्रयामल उत्तरतंत्र के प्रारम्भ में होने से रुद्रयामल उत्तरतंत्र को इनका परवर्ती कह रहे हैं, किन्तु इसे अधिक प्रामाणिकता से इसलिये भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि "ब्रह्मयामल" में तो आठ यामलों का उल्लेख है, जिनमें "रुद्रयामल" भी है—

रुद्रयामलम् अन्यञ्च तथा वै कन्दयामलम्।
ब्रह्मयामलकं चैव विष्णुयामलम् एव च॥

---

१. सर्वोल्लासतन्त्र, १-३१।
२. तंत्रकल्पतरु, पृ० ६६।
३. नित्याषोडशिकार्णवतंत्र, १/१५ की अर्थरत्नावली टीका, स० ब्रजवल्लभ
४. द्विवेदी, पृ ४३।
स्टडीज़ इन द तंत्राज़, भाग-१, पृ० १११ पर उद्धृत।

यमयामलकं चान्यं वायुयामलम् एव च ॥
कुवेरयामलञ्चैव इन्द्रयामलम् एव च ।
यामलानि तथा चाष्टौ निर्गतानि न संशयः ॥[1]

इसलिये इनके परस्पर पूर्वापर पर भी कुछ निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि जयद्रथयामल और पिङ्गलामत को ब्रह्मयामल का ही पूरक माना जाता है।[2]

रुद्रयामल पाचवां यामल ग्रन्थ है।[3] रुद्रयामल के परवर्ती हरियामल, गौतमीयामल, जयद्रथयामल, उमायामल, स्कन्दयामल, गणेशयामल और अन्य यामल ग्रन्थ हो सकते हैं। सम्मोहनतंत्र में दो शैवयामल, एक वैष्णवयामल, दो सौरयामल तथा एक चन्द्रयामल का उल्लेख है। "आगमतत्त्वविलास" में ब्रह्म, आदि, रुद्र, वृहद् तथा सिद्धयामल का ऊल्लेख किया गया है।

म० म० गोपीनाथ कविराज ने "तान्त्रिक साहित्य" में बहुत से यामल ग्रन्थों का संकेत किया है, जिनमें कुछ तो लिखित रूप में या प्रकाशित रूप में हैं और कुछ नाना ग्रन्थों में उल्लिखित मात्र हैं। उनका विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. अघोरयामलतंत्र (लिखित), २. आदित्ययामल (तंत्रसार तथा पुरश्चर्यार्णव में उल्लिखित), ३. इन्द्रयामलतंत्र (ताराभक्ति सुधार्णव में उल्लिखित), ४. उमायामल (लिखित), ५. कालीयामल (कुलपूजन चन्द्रिका में उल्लिखित), ६. कृष्णयामल (लिखित), ७. गणेशयामल (लिखित), ८. गौरीयामल (ताराभक्ति सुधार्णव तथा पुरश्चर्यार्णव में उल्लिखित), ९. ग्रहयामल (लिखित), १०. चन्द्रयामल (ताराभक्ति सुधार्णव में उल्लिखित), ११. जयद्रथयामल (लिखित), १२. पञ्चयामल (कुलप्रदीप में उल्लिखित), १३. विन्दुयामल (लिखित), १४. वृहद्रुद्रयामल (लिखित), १५. ब्रह्मयामल (लिखित), १६. ब्रह्माण्डयामल (लिखित), १७. भैरवयामल (लिखित), १८. रुद्रयामल (लिखित), १९. रुद्रयामल उत्तर षट्क (लिखित), २०. लक्ष्मीयामल (लिखित), २१. विष्णुयामल (लिखित), २२. वीरतंत्रयामल (प्राणतोषिणी तथा विज्ञान भैरव में उल्लिखित), २३. वीरभद्रयामल (लिखित), २४. वीरयामल (विज्ञान भैरव की शिव उपाध्याय कृत टीका में उल्लिखित), २५. संकेतयामल (लिखित), २६. सिद्ध (सिद्धि) यामल

१. स्टडीज इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० ७ पर उद्धृत।
२. वही।
३. रुद्रयामल उ०त०, १-१-३

(लिखित), २७. स्कन्दयामल (प्राणतोषिणी में उल्लिखित), २८. स्वच्छन्दयामल-तंत्र (योगिनीहृदय में उल्लिखित), २९. हंसयामल (लिखित)।

इसके अतिरिक्त और भी यामल ग्रन्थों का अस्तित्व हो सकता है, जिनका संग्रह यहाँ नहीं किया जा सका है। एम० कृष्णमाचारी ने तन्जौर पैलेस लाइब्रेरी में उपलब्ध ३२ यामल-ग्रन्थों का संकेत किया है।[1]

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र

जयद्रथयामल प्रथम षट्क की हस्तलिखित प्रति का समय ८४३ ई० के आसपास का माना जाता है और चतुर्थ षट्क की हस्तलिखित प्रति का समय १२वीं शती का उत्तरार्द्ध।[2] चूंकि जयद्रथयामल में "रुद्रयामल" का उल्लेख किया गया है, इससे यह सोचा जा सकता है कि "रुद्रयामल" का समय ८वीं शती के पूर्व होना चाहिये। इसकी भाषा आदि को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह शास्त्र ईशा की प्रथम शताब्दी के आस-पास आविर्भूत हुआ होगा।[3] तंत्रों का काल वहीं से प्रारम्भ होता है। हस्तलिखित प्रति की दृष्टि से भी इसका समय ८वीं शताब्दी के पूर्व होना चाहिये। यामल ग्रन्थों की एक परम्परा ही दिखाई पड़ती है।

१. बृहद्रुद्रयामल :—

लिखित रूप में इसके दो प्रकार उपलब्ध होते हैं। एक प्रति एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के सूचीपत्र में और दूसरी नोटिसेज आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स—हरप्रसाद शास्त्री में प्राप्त है। प्रथम प्रति चार खण्डों में हैं। यह श्री कृष्ण-नारद-संवाद रूप है। इसके द्वितीय खण्ड में ३० और चतुर्थ में ५ अध्याय है। द्वितीय प्रति भी इसी प्रकार की है, जिसमें पञ्चानन का जन्म, ब्राह्मण पर दण्ड, ब्राह्मण का शोकोपशमन, पूजा-प्रकाश, मालिकोपाख्यान, मृतपुत्रदान, द्विजागमन, वर-प्रार्थना, नरध्वज की पुत्रोत्पत्ति, नरध्वज का परम आनन्द, यात्रा का आरम्भ, दूत-वध, वीरसेन-वध आदि वर्णित हैं।[4]

२. रुद्रयामल या रुद्रयामल तन्त्र :—

(।) इस ग्रन्थ की एक लिखित प्रति एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के

---

१. हिस्टरी आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७८।

२. स्टडीज़ इन द तन्त्राज, भाग १, पृ० ११०।

३. तन्त्राज : स्टडीज आन दियर रेलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १९।

४. तान्त्रिक साहित्य, पृ० ५६१।

सूचीपत्र में उपलब्ध है। यह भैरव-भैरवी (उमा-महेश्वर) के संवाद-रूप में है। इसके दो भेद हैं—अनुत्तरतंत्र और उत्तरतंत्र। इसमें ५४ पटल हैं।

(II) नेपाल दरबार लाइब्रेरी में यह ग्रन्थ दो स्वरूपों में उपलब्ध है। दोनों भैरव-भैरवी-संवाद रूप हैं, किन्तु एक में ९३ पटल तथा दूसरे में ३२ पटल है। प्रथम में भैरव प्रश्नकर्त्ता और भैरवी उत्तर देने वाली हैं। श्रीयामल, विष्णु-यामल, शक्तियामल और ब्रह्मयामल—इन सबका उत्तरकाण्ड रूप यह रुद्रयामल है।[1] ठीक यही स्थिति[2] इस शोध प्रबन्ध के आधारभूत "रुद्रयामल उत्तरतंत्र" की है, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि इसमें ९३ के स्थान पर ६६ पटल हैं।

(III) म० म० हरप्रसाद शास्त्री के "नोटिसेस आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स" में ६४ पटलों वाले एक रुद्रयामल का संकेत है। यह आनन्दभैरव और आनन्द-भैरवी का संवाद रूप है। इसमें "यामल" शब्द की व्युत्पत्ति, तंत्र-माहात्म्य, भावशब्द का निर्वचन, सुरा-पानविधि, दिव्य-वीर-पशुभाव, वर्णित हैं।[3]

(४) इस ग्रन्थ की एक प्रति त्रिवेन्द्रम् पुस्तकालय के सूचीपत्र में महादेव-पार्वती संवाद रूप में हैं। इसमें गायत्री महाचक्र का प्रतिपादन किया गया है। इसकी श्लोक संख्या १३५ है।

(५) राजेन्द्र लाल मित्र के नोटिसेज़ आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स में एक ऐसी प्रति का विवरण मिलता है, जो भैरव-भैरवी संवाद रूप है। इसमें ९००० श्लोक, तथा ६७ पटल हैं। इसमें प्रतिपादित मुख्य विषय इस प्रकार है—सिद्धमन्त्र-प्रकरण, भावनिर्णय-प्रकरण, चक्रानुष्ठान-प्रकरण, कुमारी उपचर्याविन्यास-प्रकरण, कुमारी पूजनादि निरूपण, कुमारी कवच, कुमारी के अष्टोत्तर शत तथा सहस्रनाम, पशुभाव-विचार, आज्ञाचक्र, संगतिसिद्ध मन्त्र-प्रकरण, आज्ञाचक्रसार संकेत-कथन, भरणी आदि २७ नक्षत्रों के फलाफल का कथन, वेद प्रकरण, वेदभाषा परिच्छेद, अथर्ववेद प्रकरण, चतुर्वेदोल्लास आदि। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के आधार रूप रुद्रयामल उत्तर के ठीक समान है। अन्तर इतना ही है कि शोध-प्रबन्ध वाले ग्रन्थ में ६७ पटल के स्थान पर ६६ पटल हैं। सम्भव है कि जो ग्रन्थ शोध-प्रबन्ध का आधार है, उसकी हस्तलिखित प्रति में ६६ पटल ही रहे हों, जिसे पं० जीवानन्दविद्यासागर ने सम्पादित किया तथा उनके आत्मज श्री आशुबोध विद्याभूषण और श्री रत्नबोध विद्यारत्न ने १९३७ ई० में प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ के श्लोकों की संख्या ५५९१ है। उक्त दोनों रुद्रयामलतंत्र में दूसरा अन्तर यह

---

१. रुद्रयामल उत्तरतंत्र, १-१-३।

२. तान्त्रिक साहित्य, पृ० ५९२।

भी है कि राजेन्द्रलाल मित्र के सूचीपत्र वाले रुद्रयामलतंत्र की श्लोक संख्या ६००० है तथा इसकी ५५६१ है। श्लोकों की संख्या में लगभग दूने का अन्तर है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि उक्त प्रथम ग्रन्थ में विषयवस्तु का अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया गया है, क्योंकि प्रत्येक पटल में लगभग दूनी श्लोक संख्या होनी चाहिये।

(६) बीकानेर पुस्तकालय के सूचीपत्र में जिस प्रति का उल्लेख है, वह एक मौलिकतंत्र है तथा उसमें सम्पूर्ण शाक्त-सिद्धान्त, ज्ञान, धर्म, समाज, विधि, जाति, तीर्थ, व्रत और उत्सव आदि का विवेचन हुआ है।

(७) जम्मू-कश्मीर के महाराजा के निजी पुस्तकालय की सूची में जो प्रति उपलब्ध है, वह भैरव-प्रोक्त है तथा "उत्तरकाण्ड" रूप में सम्पूर्ण है।

(८) रघुनाथ मन्दिर पुस्तकालय, जम्मू के सूचीपत्र में उपलब्ध प्रति में श्लोकों की संख्या ६३२७ है।

(९) संस्कृत विश्वविद्यालय पुस्तकालय, वाराणसी के सूचीपत्र के अनुसार इस ग्रन्थ की तीन प्रतियाँ उपलब्ध है। एक में श्लोकों की संख्या १०००, दूसरे में ७५० तथा तीसरे में १४० है। प्रथम पूर्ण तथा अन्तिम दो अपूर्ण लगते हैं।

(१०) खेमराज श्रीकृष्णदास के द्वारा श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित "रुद्रयामलतंत्र" के नाम से एक पुस्तक प्राप्त होती है। इसके रचयिता पं० प्रयागसूनु, पं० रामचरण नंदराम शर्मा हैं। इसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इसकी रचना सम्वत् १८५९ में हुई। इसमें कुल चार पटल हैं। इसकी कुल श्लोक संख्या २८२ है। इसके मुख्य विषय वशीकरण, स्तम्भन, उच्चाटन, निर्लज्ज-करण, षंढकरण, भगबन्धन, अदृष्टकरण, पादुकासाधन, बह्वाहारकथन आदि हैं।

इसके अतिरिक्त रुद्रयामलतंत्र का उल्लेख सौन्दर्यलहरी-टीका (लक्ष्मी-धरा), कुलप्रदीप, तारारहस्यवृत्ति, ताराभक्तिसुधार्णव, आगमतत्त्व-विलास, सर्वोल्लास, कालिकासपर्याविधि, तत्त्वबोधिनी (आनन्द लहरी की टीका) तथा तंत्रासार में हुआ है।[1]

३. रुद्रयामल (उत्तर षट्क) –

(।) मद्रास राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र में रुद्रयामल (उत्तर षट्क) की एक लिखित प्रति उपलब्ध है। यह उमा-महादेव-संवाद रूप है तथा अनुत्तर और उत्तर—दो षट्कों में विभक्त है। उत्तर षट्क छः पटलों में पूर्ण है। उसमें

---

१. तान्त्रिक साहित्य, पृ० ५६२।

षट्चक्रध्यान, त्रिपुरा-मन्त्र-निर्णय, कामतत्त्व-साधन, त्रिपुरा-ध्यान, सिद्धियों तथा विद्याकोष आदि का विवेचन किया गया है। ऐसा सुना जाता है कि मूल रुद्रयामल में श्लोकों की संख्या सवा लाख है।

(ii) तंजौर राजमहल पुस्तकालय के सूचीपत्र में "रुद्रयामलतंत्र" की एक प्रति उपलब्ध है जो धातु कल्प का प्रतिपादक तंत्र है। इसके अन्त में सुवर्ण-प्रशंसा की गई है।

४. रुद्रयामल महोत्सवतन्त्र :—

एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के सूचीपत्र में यह उपलब्ध है जो उमा-महेश्वर संवाद रूप है।

रुद्रयामलतन्त्र में अंशभूत ग्रन्थ

तान्त्रिक वाङ्मय में बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन्हें मूलरूप से रुद्रयामलतंत्र से सम्बद्ध बताया गया है। यहाँ पर एक विशेष तथ्य ध्यातव्य है कि उन ग्रन्थों में से किसी का भी सम्बन्ध प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के आधारभूत "रुद्रयामल उत्तरतंत्र" से नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि उनका सम्बन्ध किसी अन्य "रुद्रयामलतंत्र" से है। अब तक उपलब्ध समस्त रुद्रयामलतंत्र में "नेपाल दरबार लाइब्रेरी" में प्राप्त रुद्रयामलतंत्र सबसें अधिक विशालकाय है। इन ग्रन्थों का सम्बन्ध इसी तंत्र से हो सकता है। अब हम उन ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनका सम्बन्ध "रुद्रयामलतन्त्र" से बताया जाता है। सूची में उनके उपलब्ध स्थानों का भी संकेत किया गया है। सूची इस प्रकार है—

रुद्रयामलतन्त्र के अंशभूत ग्रन्थों की सूची

क्र०सं० ग्रन्थ का नाम	प्राप्ति-स्थान
१. देवी रहस्य	इण्डिया आफिस पुस्तकालय, लन्दन का सूचीपत्र २५४६
२. शारिकाभगवतीपंचाङ्ग	इण्डिया आफिस पुस्तकालय, लन्दन का सूचीपत्र २५४९
३. त्रैलोक्य मोहन कवच	एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल का सूचीपत्र ५८१५
४. मतोत्सव	उपर्युक्त सूचीपत्र ५८६८
५. चण्डी नवार्ण पटल	उपर्युक्त सूचीपत्र ५८६९
६. रसार्णवकल्प	उपर्युक्त सूचीपत्र ५८७०
७. रसकल्प	उपर्युक्त सूचीपत्र ५८७१

क्र० सं० ग्रन्थ का नाम	प्राप्ति-स्थान	
८. रुद्रचण्डी	एशियाटिक सोसाइटी आफ वंगाल का सूचीपत्र	५८७२
९. देवी चरित्र	उपर्युक्त	५८७९
१०. त्रिकूटा रहस्य	,,	५८८२
११. नवदुर्गापूजा रहस्य	,,	५८८५
१२. रामनामलिखन विधि	,,	५८८६
१३. अयोध्या माहात्म्य	,,	५८८७
१४. सूर्य पटल	,,	५८८८
१५. नवग्रहसिद्धयन्त्रपूजाविस्तार	,,	५८८९
१६. मंगलविधि	,,	५८९१
१७. देवीरहस्यतन्त्र	,,	६००१
१८. सुमुखी पटल	,,	६३०९
१९. उग्र तारा कवच	,,	६३३२
२०. त्रिपुरापूजापद्धति	,,	६३७२
२१. उच्छिष्टचाण्डालीकल्प	,,	६३८९
२२. गायत्री पद्धति	,,	६४२३
२३. प्रत्यंगिरा पंचाङ्ग	,,	६४३०
२४. गणेश पंचाङ्ग	,,	६५०८
२५. उच्छिष्ट गणेशस्तोत्र	,,	६५०९
२६. परमहंसपंचाङ्ग	,,	६५१६
२७. दक्षिणकालिकास्तोत्र	,,	६६३७
२८. श्यामास्तोत्र	,,	६६६५
२९. भवानीस्तवराज	,,	६७०२
३०. गायत्रीकवच	,,	६७२१
३१. रजस्वला स्तोत्र	,,	६७३२
३२. शिवसहस्रनामावलि	,,	६७४३
३३. रामसहस्रनाम	,,	६७६५
३४. हनुमत्कवच	,,	६७८०
३५. वज्रपंजरसूर्यकवच	,,	६७८६
३६. त्रिपुरास्तव	नेपाल दरबार पुस्कालय का सूचीपत्र	१-१३७६

क्र०सं० ग्रन्थ का नाम	प्राप्ति-स्थान
३७. पात्रवन्दननवस्तोत्र	नेपाल दरबार पुस्तकालय का सूचीपत्र २-२०७
३८. विज्ञानभैरव	उपर्युक्त २-२४६ डी
३९. षष्ठीविद्याप्रशंसा	,, २-३६१ डी
४०. बालभैरवी सहस्रनाम	संस्कृत पुस्तकों पर म० म० हरप्रसाद शास्त्री के विवरण १-२४६
४१. गायत्री पंचाङ्ग	उपर्युक्त २-५१
४२. दत्तात्रेय हृदयस्तोत्र	,, २-९६
४३. दुर्गापंचाङ्ग	,, २-१०२
४४. शिवासहस्रनामस्तोत्र	,, ३-३०३
४५. योगेशीसहस्रनामस्तोत्र	राजेन्द्रलाल मित्र के संस्कृत पुस्तकों पर विवरण ८७८
४६. गकारादिगणपति सहस्रनास्तोत्र	,, ८८९
४७. शत्रुविमोचननामक वगलामुखीकवच	,, ९९०
४८. राधासहस्रनाम	,, ३१२४
४९. चन्द्रोन्मीलन	बीकानेर पुस्तकालय का सू० १२६३
५०. धूमावतीदीपदानपूजा	,, १३११
५१. गुरुपादपद्मप्राप्ति	,, १३१२
५२. मातङ्गीदीपदानविधि	,, १३१३
५३. सर्वज्वरविपाक	,, १३१५
५४. त्रिपुरसुन्दरीदीपदान विधि	,, १३१६
५५. वगलामुखीदीपदान	,, १३१७
५७. महागणपति विधान	राजस्थान पुरातत्त्व ग्रन्थसूची ५०४९
५७. वरदगणेशपंचाङ्ग	,, ५१२९
५८. गायत्रीपद्धति	,, ६३४८
५९. सुमुखीविधान	,, ७६९२
६०. सुमुखीपंचांग	परिशिष्ट ९६ (क)
६१. बालाखड्गमाला	त्रिवेन्द्रम पुस्तकालय का सू० ११०६ ख
६२. बालात्रिपुरसुन्दरीस्तवराज	उपर्युक्त ११०६
६३. छिन्नमस्ताकल्प	बड़ौदा पुस्तकालय का अकारादि सू० १६९२

क्र०सं० ग्रन्थ का नाम	प्राप्ति-स्थान
६४. बालात्रिपुरापटल	वड़ौदा पुस्तकालय का अकारादि सू० १६६४
६५. देवीसूक्त	,, ,, ३४५८
६६. नित्यदीपविधि	,, ,, ३४५९
६७. जगन्मंगलकवच	,, ,, ५१०१
६८. पंचमीस्तवराज	,, ,, ५१४३
६९. षोढान्यास	,, ,, ७१४१
७०. बालात्रिपुरसुन्दरी नित्यपूजापद्धति	,, ,, ८०५४
७१. भैरवी कवच	,, ,, ८०७१
७२. सेवित्सेविनी मन्त्र	,, ,, ८३३४
७३. शक्ति पूजन विधि	,, ,, ९५८०
७४. त्रिपुरसुन्दरीपंचाग	,, ,, ९७५८
७५. योगिन्वी दशा	,, ,, १०२५९
७६. वगलारहस्य	,, ,, १०६६१
७७. दुर्गापंचाङ्ग	,, ,, ११२९५
७८. बाला कवच	,, ,, ११४२०
७९. दक्षिणकालिकापंचाङ्ग	,, ,, १३७८२
८०. त्रैलोक्यविजय कवच	,, ,, ५०२९६
८१. चक्र निरूपण	मद्रास राजकीय पुस्तकालय सू० ५६११, १२
८२. दुर्गानाम माहात्म्य	बंगीय साहित्य परिषद् सू० ३८३(ख) कलकत्ता १
८३. चैतन्य कल्प	,, ,, ५७५
८४. वंश कवच	,, ,, ४३३
८५. वगलामुखी कवच	,, ,, ८०१
८६. सदाशिव कवच	,, ,, ८९२
८७. रुद्रचण्डी कवच	,, ,, ११४८
८८. षट्चक्र प्रपंच	,, ,, १२१२
८९. त्रिपुरसुन्दरीतत्त्वविद्या-मन्त्रगर्भसहस्रनाम	रघुनाथ मन्दिर पुस्तकालय जम्मू सू० ९७०
९०. जगच्चिन्तामणिनामकत्रिपुर-सुन्दरी कवच	,, ,, ९९१

क्र०सं०	ग्रन्थ का नाम	प्राप्ति-स्थान
९१.	भवानी कवच	रघुनाथ मन्दिर पुस्तकालय जम्मू सू० १०९४(क)
९२.	महाकाली प्रस्ताररराज कवच	,, ,, ११२५
९३.	बकारादि बालात्रिपुरासुन्दरीरहस्य	,, ,, ११३३
९४.	महाराज्ञी कवच	,, ,, ११५४
९५.	मातृका शकुनावली	,, ,, ११७५
९६.	सुदर्शन चक्र	,, ,, २९७३
९७.	शकुन	,, ,, ४०४१
९८.	लक्ष्मीनारायणपंचाग	,, ,, ४८१२
९९.	नरसिंह पंचांग	,, ,, ४८१७
१००.	नवार्णचण्डीपंचांग	,, ,, ४८१८
१०१.	भवानी पंचांग	,, ,, ४८१९
१०२.	बालापंचांग	,, ,, ४८१९
१०३.	शिवपंचांग	,, ,, ४८२२
१०४.	राज्ञीपंचांग	,, ,, ४८४६
१०५.	शारदापंचांग	,, ,, ४८४७
१०६.	बटुक भैरव पंचांग	,, ,, ४८५०
१०७.	बगलामुखी पंचांग	,, ,, ४८५१
१०८.	भवानी पूजा पद्धति	,, ,, ४८६६
१०९.	सर्वमंगलमन्त्र पटल	,, ,, ४९४४
११०.	देवीसूक्त वर्णन	,, ,, ५०२८
१११.	महाकाली सूक्त	डेकन कालेज पूना का सूचीपत्र ३९५
११२.	उड्डामेश्वरतन्त्र	जम्मू कश्मीर के महाराजा के निजी पुस्तकालय का सूची पत्र ९८६
११३.	प्रच चक्र पूजन	कलकत्ता संस्कृत कालेज पुस्तकालय का सूची पत्र ५२
११४.	ज्वाला कवच	,, ,, ७८
११५.	ज्वाला सहस्रनाम	,, ,, ८१
११६.	मेघमाला	,, ,, ८२
११७.	बाला सहस्रनाम	,, ,, ९२
११८.	त्वरित रुद्रविधान	संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी सू० २३८५०

क्र०सं० ग्रन्थ का नाम	प्राप्ति-स्थान		
११९. राममन्त्र विधि	संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी सू० २३९७१		
१२०. महागणपतिपंचांग	,,	,,	२४००५
१२१. बटुकदीपदानप्रकार	,,	,,	२४००८
१२२. पात्रस्तवविधि	,,	,,	२४०३३
१२३. दुर्गापूजन पटल	,,	,,	२३८५०
१२४. पार्थिव पूजा	,,	,,	२४३३३
१२५. योगिनीदशाविभाग	,,	,,	२४३३६
१२६. देवीदूती पूजाविधि या नव दुर्गा पूजाविधि	,,	,,	२४३९०
१२७. शिवाम्बुकल्प	,,	,,	२४५५३
१२८. प्रत्यङ्गरा पटल	,,	,,	२४६४४
१२९. रामनामलिखनविधि प्रयोग चक्र	,,	,,	२४७६६
१३०. पार्थिव पूजा विधि	,,	,,	२४७७३
१३१. षड्चक्र विवरण	,,	,,	२४६४९
१३२. रजस्वला मन्त्रोद्धार	,,	,,	२५०६०
१३३. बटुकभैरव पूजा प्रयोग	,,	,,	२५०७७
१३४. त्रिपुरा पटल	,,	,,	२५१३७
१३५. समाष्टक	,,	,,	२५३८३
१३६. सूर्य पंचांग	,,	,,	२५२२४
१३७. परादेवी रहस्य (तन्त्र)	,,	,,	२५४३३
१३८. नीलसरस्वती प्रयोग विधि	,,	,,	२५४८०
१३९. जयार्चन पुरश्चरण विधि	,,	,,	२५८४८
१४०. चक्रभेद	,,	,,	२६१५६
१४१. हनुमत्कल्प	,,	,,	२६१८१
१४२. तारापंचांग	,,	,,	२६४२२
१४३. गणपति पूजा विधि	,,	,,	२६६५७
१४४. भवानी सहस्रनाम पटल	,,	,,	२६६७५
१४५. अन्नपूर्णा कल्प	कैटलॉगस कैटोलोगोरम् (ऐन अल्फाबेटिकल—रजिस्टर आफ संस्कृत वर्क्स एण्ड आथर्स इन थ्री पार्ट्स १-१९		
१४६. उड्डामरतन्त्र	,,	,,	१-६२

क्र०सं० ग्रन्थ का नाम	प्राप्ति-स्थान		
१४७. कालिका कवच	कैटलॉगस कैटोलोगोरम् (ऐन अल्फा-बेटिकल—रजिस्टर आफ संस्कृत वर्क्स एण्ड आथर्स इन थ्री पार्ट्स		१-९८
१४८. गणपति पंचांग	,,	,,	१-१४१
१४९. गणेशसहस्रनाम	,,	,,	१-१४४
१५०. गुरु पंचांग	,,	,,	१-१५६
१५१. जानकी त्रैलोक्य मोहन	,,	,,	१-२०५
१५२. ज्वालामुखी पंचांग	,,	,,	१-२१४
१५३. पंचमी वरिवस्या रहस्य	,,	,,	१-३१५
१५४. पंचाक्षरी यन्त्रोपदेश	,,	,,	१-३१७
१५५. बटुकभैरव सहस्रनाम	,,	,,	१-३६६
१५६. महाकाल कवच	,,	,,	१-४३३
१५७. अन्नपूर्णा सहस्रनाम	,,	,,	२-४
१५८. गायत्री सहस्रनाम	,,	,,	२-३०
१५९. त्रिपुरा हृदय	,,	,,	२-५१
१६०. महाकाल पंचांग	,,	,,	२-९९
१६१. गायत्री पटल	,,	,,	३-३२
१६२. दक्षिण काली कवच	,,	,,	३-५२
१६३. दत्तात्रेय हृदय	,,	,,	३-५३
१६४. बालभैरवसहस्रनाम	,,	,,	३-७८

—:०:—

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र : नामकरण और पूर्वभाग पर चर्चा

नामकरण :—

"यामल" शब्द की व्युत्पत्ति पर चर्चा की जा चुकी है। "रुद्रयामल उत्तर-तन्त्र" नाम सुनने से यह प्रतीत होता है कि यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो "रुद्र" के वर्णन से युक्त है तथा इसमें कथोपकथन या वार्तालाप के माध्यम से विषय वस्तु का प्रवर्तन हुआ है। भैरव और भैरवी के मिथुन के परस्पर वार्तालाप से ग्रन्थ की विषय वस्तु विवेचित हुई है। जिज्ञासु या प्रश्नकर्ता भैरव हैं और भैरवी जिज्ञासा का समाधान करती है। भैरवी का कहीं-कहीं श्रीभैरवी, आनन्दभैरवी तथा महाभैरवी नाम आया है। इसी प्रकार भैरव का आनन्दभैरव के नाम से भी उल्लेख किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में भैरव कहते हैं कि पराश्री परमेशानी रूप तुम्हारे मुख-कमल से श्रीयामल, विष्णुयामल, शक्तियामल और ब्रह्मयामल निःसृत हुआ और अब श्रीरुद्रयामल उत्तरकाण्ड के विषय में कहो—

पराश्रीपरमेशानी वदनाम्भोजनिःसृतम्।
श्रीयामलं महातन्त्रं स्वतन्त्रं विष्णुयामलम्॥
शक्तियामलमाख्यातं ब्रह्मणः स्तुतिहेतुना।
ब्रह्मयामलवेदाङ्गं सर्वञ्च कथितं प्रिये॥
इदानीमुत्तराकाण्डं वद श्रीरुद्रयामलम्।
यदि भाग्यवशाद्देवि ! तव श्रीमुखपङ्कजे॥[1]

इस पर भैरवी भैरव को विविध साधन-संग्रह का श्रवण कराती हैं। वे भैरव को शम्भु, महात्मदर्पघ्न, कामहीनकुलाकुल, चन्द्रमण्डलशीर्षाक्ष, हलाहलनि-षेवक, अद्वितीयघोरमूर्ति, रक्तवर्णशिखोज्ज्वल, महाऋषिपति आदि नामों से सम्बो-धित करती है।[2] ग्रन्थ में रुद्राणीस्तोत्र (४७वाँ पटल), रुद्राणी और रुद्र का पूजाप्रकरण, रुद्र के ५१ नाम तथा रुद्राणी के नाम (४८वाँ पटल) आदि विषय पर प्रकाश डाला गया है। सम्भव है, इस आधारे पर ग्रन्थ का नाम "रुद्रयामल" पड़ा हो। जहाँ तक "रुद्रयामल" के साथ "उत्तरतन्त्र" का सम्बन्ध है, उसके लिये यही कहना समीचीन हो रहा है कि सम्भव है "रुद्रयामल" का पूर्व काण्ड या "पूर्व तन्त्र" नामक कोई पूर्वभाग हो। यह उल्लेख किया जा चुका है कि मद्रास राजकीय पुस्तकालय के सूची पत्र में जिस प्रकार रुद्रयामल अनुत्तर तथा उत्तर षट्कों में

१. रुद्रयामल उ०त०, १-१-३।
२. वही, १-७-८।

उपलब्ध होता है, उसी प्रकार "रुद्रयामल उत्तरतन्त्र" का भी कोई "पूर्वभाग" हो सकता है।

पूर्वभाग :—

"रुद्रयामल उत्तरतन्त्र" का जो स्वरूप उपलब्ध है उसे देखते हुये तथा उसके अंशभूत अनेकशः ग्रन्थों के अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि "रुद्रयामल उत्तरतन्त्र" का कोई पूर्वभाग अवश्य होना चाहिये। सर जान उड्रफ ने "इन्ट्रोडक्शन टु तन्त्रशास्त्र" नामक पुस्तक में गुरु-शिष्य के लक्षणों का विवेचन करते हुये शिष्य की अयोग्यता पर चर्चा करते समय एक सन्दर्भ दिया है, जिसमें उन्होंने "महारुद्रयामल प्रथम खण्ड तथा द्वितीय खण्ड" को उद्धृत किया है।[1] उस द्वितीय खण्ड का सन्दर्भ शोध-प्रबन्ध के आधारभूत रुद्रयामल उत्तरतन्त्र से मिल जाता है जिसमें उन्होंने यह निर्देश किया है कि शिष्य यदि कामुक है, परादारातुर है,, पापक्रियायुक्त है, अज्ञानी है, वेदक्रियाविवर्जित है, तो उसको दीक्षा के लिये नहीं स्वीकार करना चाहिये।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि यह महारुद्रयामल द्वितीय खण्ड, रुद्रयामल उत्तरतन्त्र ही है। इस ग्रन्थ के पूर्वभाग के रूप में "महारुद्रयामल प्रथम खण्ड" को ही मानना चाहिये। सम्भव है उसी से अंशभूत वे ग्रन्थ सम्बद्ध हों, जिनकी सूची दी जा चुकी है। म० म० गोपीनाथ कविराज ने अपने "तान्त्रिक साहित्य" में "महारुद्रयामल प्रथम भाग" और "महारुद्रयामल द्वितीय खण्ड" नामक किसी ग्रन्थ का संकेत नहीं किया है। केवल "रुद्रयामल (उत्तर षट्क) की चर्चा उन्होंने की है और यह स्वीकार किया है उक्त ग्रन्थ अनुत्तर और उत्तर—दो षट्कों में विभक्त है, जिसका पता मद्राम राजकीय पुस्तकालय से चलता है। चूँकि यह उमा-महेश्वर संवादरूप है, इसलिये यह उस "महारुद्रयामल प्रथम खण्ड तथा द्वितीय खण्ड" से भिन्न है। "महारुद्रयामल प्रथम खण्ड" को भैरव-भैरवी-संवाद रूप होना चाहिये, क्योंकि द्वितीय खण्ड या उत्तरतन्त्र भैरव-भैरवी-संवाद रूप ही है। उड्रफ ने उसी ग्रन्थ में "पूजा" के प्रकरण में यह कहा है कि स्त्री को केवल मन्त्र ग्रहण करने का ही अधिकार नहीं, अपितु वह गुरु भी हो सकती है। इसका सन्दर्भ उन्होंने पुनः "रुद्रयामल द्वितीय भाग (पटल २) तथा प्रथम भाग (पटल १५)" का उल्लेख किया है।[3] पाश्चात्य विद्वान् के द्वारा "रुद्रयामल द्वितीय भाग" का जो सन्दर्भ दिया गया है, वह शोध-प्रबन्ध के आधारभूत "रुद्रयामल उत्तरतन्त्र" में

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु तन्त्रशास्त्र, पृ० ६७।
२. रुद्रयामल उ०त० २-७८-८२।
३. इन्ट्रोडक्शन टु तन्त्रशास्त्र, पृ० ७६।

ठीक उसी स्थान पर उपलब्ध होता है।[1] उड्रफ ने अपनी उसी पुस्तक में (पृ० १२६) "रुद्रयामल" के एक श्लोक को उद्धृत किया है, किन्तु इस बार उन्होंने प्रथम या द्वितीय खण्ड का उल्लेख नहीं किया।

जे० सी० चटर्जी ने "आगमशास्त्र" का परिचय देते हुए कतिपय प्रमुख तन्त्रों का उल्लेख किया है—[2] मालिनी विजय, स्वच्छन्द, विज्ञानभैरव, उच्छुष्मभैरव, आनन्दभैरव, मृगेन्द्र, मतंग, नेत्र, नैश्वास, स्वायम्भुव और रुद्रयामल। आपने यह स्वीकार किया है कि "परात्रिंशिका" नामक ग्रन्थ रुद्रयामल से निःसृत है। शायद वे इसका कारण यह समझते हैं कि "परात्रिंशिका" भी भैरव-भैरवी के संवाद रूप में हैं। उक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक "रुद्रयामलतन्त्र" के कई प्रकार के संस्करण उपलब्ध होते हैं। "रुद्रयामल उत्तरतन्त्र" नामक ग्रन्थ एक पूर्ण ग्रन्थ प्रतीत होता है, किन्तु यह सम्भव है कि उसके पूर्वभाग के रूप में कोई ग्रन्थ अवश्य हो क्योंकि उसके अंशभूत लगभग १६५ ग्रन्थों की सूची उपलब्ध होती है जिससे पूर्व तन्त्र या पूर्वभाग की प्रामाणिकता स्पष्ट होती है।

"विज्ञानभैरव" के प्रथम श्लोक में "रुद्रयामल" शब्द आया है। भैरवी कहती है कि "रुद्रयामल तथा अन्य शास्त्रों से सम्भूत तत्त्व को सुनने के बाद भी मेरा संशय दूर नहीं हुआ। ग्रन्थ के अन्त में पुनः देवी कहती हैं कि "आज मैंने रुद्रयामल तन्त्र के सार को समझ लिया है"—

श्रुतं देव ! मया सर्वं रुद्रयामलसम्भवम्।
त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः॥
अद्यापि न निवृत्तो मे संशयः परमेश्वर।[3]
× × ×
देव देव महादेव परितृप्तास्मि शङ्कर।
रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम्॥[4]

उक्त विवरण से यह माना जा सकता है कि रुद्रयामलतन्त्र का सार रूप "विज्ञानभैरव" है। अभिनवगुप्त ने विज्ञानभैरव को "रुद्रयामलसार" के नाम से

---

१. रुद्रयामल उ०त० २-११०।
२. कश्मीरशैविज्म, पृ० ८।
३. विज्ञानभैरव, श्लोक १-२।
४. वही, श्लोक १५९-१६०।

अभिहित किया है।[१] सम्भव है कि देवी को विशालकाय रुद्रयामलतन्त्र को सुनकर विषयवस्तु का सम्यक् ज्ञान न हुआ हो, इसलिये भैरव से पुनः परम ज्ञान को सुनकर रुद्रयामल के सार को समझ जाती हैं, किन्तु आश्चर्य यह है कि रुद्रयामल-तन्त्र में भैरवी स्वयं भैरव की शङ्काओं का निवारण करती हैं। वहाँ भैरवी जिज्ञासु नहीं हैं। तब उन्हें "रुद्रयामल से सम्भूत तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ"—कहना कहाँ तक समीचीन है, यह गवेषणा का विषय है यह भी सम्भव है कि कोई "रुद्रयामल" नामक ग्रन्थ ऐसा हो, जो भैरव-भैरवी के सम्वाद रूप में हो तथा भैरवी ही जिज्ञासु रूप में हों, तब देवी के सम्यक् बोध के लिये भैरव ने "विज्ञानभैरव" का अवतरण किया हो।

—: ० :—

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १, पृ० २८५।

तृतीय पुष्प

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र का दार्शनिक परिवेश

प्रथम पटल

दर्शन : व्युत्पत्ति, स्वरूप और भेद

"दर्शन" शब्द दृश् धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय के संयोग से बना है, जिसका अर्थ होता है—जिसके द्वारा देखा जाय (दृश्यते अनेन इति) यहाँ पर "देखने" से अभिप्राय "ज्ञान प्राप्त करने" से है। तात्पर्य यह हुआ कि जिस उपाय या साधन से ज्ञान की प्राप्ति की जाय वह दर्शनशास्त्र है। ज्ञान-प्राप्ति के साधन के विषय में स्यात् प्राचीन तत्त्ववेता ऋषियों में वैमत्य रहा है, इसीलिये ज्ञानमार्ग से सम्बद्ध अनेक पद्धतियों का प्रादुर्भाव हुआ। ज्ञान-प्राप्ति का साधन ही "प्रमाण" कहलाता है (प्रमाकरणं प्रमाणम्)। इस प्रमाण की संख्या के वैमत्य के आधार पर अनेक प्रकार की दार्शनिक धाराओं का विकास होता देखा जाता है। इस शृङ्खला में चार्वाक-प्रत्यक्ष, बौद्ध-प्रत्यक्ष, और अनुमान, सांख्य-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, न्याय-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान, मीमांसा-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति, वेदान्त-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि तथा इसी प्रकार कुछ दार्शनिकों के द्वारा इन प्रमाणों के अतिरिक्त सम्भव तथा ऐतिह्य प्रमाणों की मान्यता स्वीकार की गई। प्रमाणों की संख्या की भिन्नता के साथ-साथ दार्शनिकों के परम लक्ष्य के स्वरूप में भी भिन्नता दिखाई पड़ने लगी। जैसे-जैसे चिन्तन की सूक्ष्मता तथा गूढ़ता की वृद्धि होती गई वैसे-वैसे परमतत्त्व का स्वरूप भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता गया। इस शृङ्खला में शरीर, बाह्य पदार्थ, प्रकृति-पुरुष, परमाणु-ईश्वर, अपूर्व-स्वर्ग, ब्रह्म-मोक्ष, शिव, विष्णु शक्ति आदि तत्त्वों को क्रमशः परम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया। चिन्तन के विकास-क्रम में ही परम तत्त्व के अतिरिक्त जगत्, जीव, अज्ञान, अविद्या, माया, मल अथवा पाश, तत्त्वविज्ञान (पञ्चभूत, तन्मात्रा, इन्द्रिय, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, स्कन्ध, आयतन, धातु, प्रवृत्तिविज्ञान, आय विज्ञान, संवृतिसत्य, परमार्थसत्य, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, अवयव, भाव, चित्त, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, समाधि, पञ्चकञ्चुक, शुद्धाविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति, शिव आदि) जैसे विषयों पर पर्याप्त चर्चा विभिन्न दार्शनिक धाराओं में की गई है।

प्रायः सभी दार्शनों का परम लक्ष्य एक होते हुये भी उनका अनेक वर्गीकरण दिखाई पड़ता है। इन दर्शनों के मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय, तान्त्रिक वाङ्मय या

आप्त पुरुषों के चिन्तन हैं, फिर भी उनके वर्गीकरण की आधारशिला प्रतिवादियों की बुद्धि-मलिनता, कट्टरता और तर्क-प्रवीणता ही कही जायेगी। इस परम्परा का सूत्रपात छान्दोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय में नारद और सनत्कुमार के संवाद में दिखाई पड़ता है, उनका विभाजित रूप उपनिषद्-काल का परवर्ती है। इसी समय "सूत्र-युग" का प्रादुर्भाव हुआ। न्यायसूत्र, मीमांसासूत्र, ब्रह्मसूत्र, सांख्यसूत्र, आयारंग सुत्त (आचारांग सूत्र), भगवती सूत्र, सुत्तपिटक, वैशेषिक (सूत्र) दर्शन, योग सूत्र, शिव सूत्र आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं।

इन दार्शनिक पद्धतियों की संखया के विषय में कोई निश्चित परिधि नहीं बनाई जा सकती। यह अवश्य है कि "षड्दर्शन" का नाम प्रायः विद्वानों के द्वारा लिया जाता है, किन्तु यह भी निश्चित नहीं किया जा सकता है कि "षड्दर्शन" के अन्तर्गत किन-किन दर्शनों को स्वीकार किया जाय, क्योंकि जिस विद्वान् को जो दर्शन प्रमुख लगे उनका उद्देश्य कथन कर दिया। उदाहरणार्थ पुष्पदन्त के "शिव-महिम्नस्तोत्र" में सांख्य, योग, पाशुपत तथा वैष्णव, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सांख्य, योग तथा लोकायत; गुरुगीता में गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, व्यास तथा जैमिनि; शङ्कराचार्य के "सर्वसिद्धान्तसंग्रह" में लोकायत, आर्हत, बौद्ध, वैशेषिक, न्याय, भाट्ट, प्राभाकर मीमांसा, सांखय, पतञ्जलि, वेदव्यास तथा वेदान्त, इसी क्रम में मध्वाचार्य के "सर्वदर्शनसंग्रह" में चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीश, पाशुपत, शैव, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनि, पाणिनि, सांख्य, पातञ्जल और शंकर आदि का नामोल्लेख हुआ है।[1] इसलिये दार्शनिक धाराओं को संख्या की सीमा में बाँधना समीचीन नहीं प्रतीत होता। सारांश यह हुआ कि जिस शास्त्र के द्वारा परम तत्त्व की अनुभूति की जा सके वह "दर्शन शास्त्र" है।

—: ० :—

---

१. भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र, पृ० १७।

द्वितीय पटल

अद्वैत भूमि में रुद्रयामल उत्तरतन्त्र

शक्ति संगम तन्त्र (५.९२.९३) में वैष्णव, गाणपत्य, शैव, स्वायम्भव, चान्द्र, पाशुपत, चीन, जैन, कालमुख तथा वैदिक आदि सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है।[1] यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आर० जी० भण्डारकर ने पाशुपत, शैव-सिद्धांत, कापालिक, कालामुख, काश्मीरी शैव, वीरशैव या लिङ्गायत आदि छः शैव सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।[2] स्वामी तत्त्वानन्द ने वीर शैव, शिव-ज्ञान-सिद्धि सम्प्रदाय, श्रीकण्ठ मत (दक्षिणी भारत), त्रिक, पाशुपत, लिङ्गायत आदि शैव सम्प्रदायों का विवेचन किया है।[3] उन्होंने शैव मत के कुछ यौगिक सम्प्रदायों की चर्चा की है जिनमें कनफट, औघड़ योगी, मच्छेन्द्री, वतृहारी, सारंगीवहार, दूरिहार, कनीफा, अघोरपन्थी योगी, योगिनी और संजोगी आदि योगी प्रमुख हैं।[4] गुणरत्न ने भरट, भक्त, लैङ्गिक आदि कुछ उप सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया है।[5] काकातीय राजा रुद्रदेव के समय के मल्कापुरम् अभिलेख में शैव, कालानन, वीर शैव और पाशुपत नामक चार शैव सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है।[6] "आगम प्रामाण्य" भी कापालिक, कालामुख, पाशुपत तथा शैव नामक चार शैव-सम्प्रदायों का उल्लेख करता है।[7] शिव पुराण में पाशुपत, सिद्धान्त, महाव्रतधर तथा कापालिक—इन चार शैव सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है।[8] कुछ दक्षिणी भारत के अभिलेखों में छः प्रकार के शैव सम्प्रदायों का संकेत किया गया है—भैरव, वाम, कालामुख, महाव्रत, पाशुपत और शैव।[9]

ऊपर के विवरण से शैव सम्प्रदाय की अनेक शाखाओं का सामान्य परिचय प्राप्त हो जाता है। इन सम्प्रदायों की दार्शनिक भूमि प्रायः अभेदपरक है। प्रायः सभी तान्त्रिक सम्प्रदाय किसी न किसी प्रकार से शक्तिवादी थे, भले ही वे शैव, पाशुपत आदि सम्प्रदायों में विभक्त हुये हों। उदाहरणार्थ क्रम दर्शन काश्मीरीय

---

१. तन्त्राज़ : स्टडीज़ आन दियर रैलीजन एण्ड लिटरेचर, पृ० ५०।
२. वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत (हिन्दी), पृ० १३९-१५०।
३. दि वैंणव सेक्ट्स दि शैव सेक्ट्स मदर वर्शिप, पृ० ४२, ४४, ५३, ८३।
४. वही, पृ० ८६-८९।
५. शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० ३।
६. वहीं पर उद्धृत।
७. वही, पृ० ४६।
८. वायवीय संहिता २९ (शैव कल्ट्स०, पृ० ३ पर उद्धृत)
९. शैव कल्ट्स०, पृ० ४।

शैव सम्प्रदाय से सम्बद्ध है, किन्तु वह शक्तिमूलक भी है।[1] अद्वैत काश्मीरीय शैव में शाक्त की प्रवृत्तियाँ भी पाई जाती हैं। सभी तान्त्रिक सम्प्रदाय दो रूप में ही विकसित होते दिखाई पड़ते हैं—एक शिव को परम तत्त्व की मान्यता देते हुये तथा दूसरा शक्ति को।[2] ये सम्प्रदाय न्यूनाधिक्य रूप में परस्पर समान सिद्धान्त वाले होते हुये भी अपने में स्वतन्त्र अस्तित्त्व वाले हैं। म० म० गोपीनाथ कविराज ने विभिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायों में कुछ का उल्लेख इस प्रकार किया है।[3]

१. कुल मार्ग या कौलमत
२. पाशुपत
३. लाकुल
४. कापालिक
५. सोम
६. महाव्रत
७. जंगम
८. कारुणिक
९. कालानन
१०. कालामुख
११. भैरव
१२. वाम
१३. भट्ट
१४. नन्दिकेश्वर
१५. रसेश्वर
१६. सिद्धान्त शैव
१७. सिद्धान्त रौद्र

कुलमार्ग प्रधान :—

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र कुलमत का प्रमुख आगम है। यह विशुद्ध रूप से अद्वैत भूमि प्रधान है। यद्यपि महाशक्ति कुण्डलिनी तथा उसके साथ षट्चक्रों की डाकिनी, राकिणी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी, हाकिनी और अन्य भेदिनी, छेदिनी, कन्दवासिनी, रुद्राणी आदि अनेक शक्तियों के स्वरूप, स्तव, सहस्रनाम, ध्यान के विषय में पर्याप्त चर्चा की गई है जिससे उसे शाक्त मत का स्वीकार करने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, किन्तु कुलाचार ग्रन्थ का प्राण है। यहाँ सबसे प्रमुख और ध्यान देने वाली बात यह है कि तान्त्रिक साहित्य में "कुल" शब्द शक्ति का तथा "अकुल" शब्द शिव का वाचक माना जाता है।[4] कुल से अकुल का सम्बन्ध-स्थापन ही "कौल" मार्ग हैं। इसलिये कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना ही कौल साधना का लक्ष्य है। कुल और अकुल का

---

१. क्रम तान्त्रिसिज्म आफ कश्मीर, पृ० ३।
२. वही, पृ० ३-४।
३. तन्त्र वो आगमशास्त्रेर् दिग्दर्शन (हिन्दी), पृ० ४३।
४. पूजा तत्त्व, पृ० १७७।

सामरस्य की कौलज्ञान है।[1] चूँकि शक्ति सृष्टि का हेतु और समस्त प्रपञ्च की प्रवर्तिका है, इसीलिये उसे "कुल" (वंश) कहते हैं। इसी प्रकार शिव चूँकि अनन्त, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, धर्महीन और निरंग हैं, इसलिये उन्हें "आकुल" कहा जाता है। इस मार्ग में परम शिव से लेकर परम गुरु तक चली आती हुई ज्ञान-परम्परा का ही प्राधान्य होने से इस विद्याक्रम को ही "कुल" कहा जाता है।[2] कुल शब्द शक्ति का वाचक होने के कारण कुण्डलिनी महाशक्ति को मूलाधार में कुलकुण्डलिनी कहते हैं। "कुल कुण्डलिनी" शब्द से शक्ति की कुण्डलित या वक्रावस्था ज्ञात होती है।[3] मच्छन्द्र या मत्स्येन्द्रनाथ को कुलमार्ग का प्रवर्तक माना जाता है। इन्हें "तुरीयनाथ" के नाम से भी जाना जाता है। यह कुलमार्ग, कौलमार्ग, अतिमार्ग, कालीनय, अर्धत्र्यम्बकमार्ग के रूप में प्रसिद्ध हुआ है।[4] कुलमार्ग के दैवी अवतरण पर चर्चा करने पर हमें ज्ञात होता है कि इस मार्ग का अविर्भाव भैरवी के द्वारा हुआ। भैरवी से अवतरित होकर यह मार्ग भैरव या स्वच्छन्द में अवस्थित हुआ और वहाँ से अवरोह-क्रम में मत्स्येन्द्रनाथ तक आता है।[5] यहाँ से गुरुशिष्य परम्परा प्रारम्भ होती है। श्री ज्ञानेश्वर चरित में मत्स्येन्द्रनाथ के भी पूर्व आदिनाथ का नाम आता है। इसी परम्परा में गोरक्षनाथ, चौरंगीनाथ, गाहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ तथा ज्ञाननाथ के नाम आते हैं।[6] सम्भव है, यह परम्परा कुलाचार्यों की परम्परा से भिन्न हो। यदि आदिनाथ को शिव का पर्यायवाची[7] मानें तो कुलमार्ग की परम्परा का प्रादुर्भाव इन मत्स्येन्द्रनाथ से माना जा सकता है। मानव गुरु-परम्परा में सर्वप्रथम मत्स्येन्द्रनाथ का नाम लिया जाना चाहिये। ये कौलाचार के सिद्ध पुरुष थे। इनके चार ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं—कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीर तन्त्र, कुलानन्द और ज्ञानकारिक। इन ग्रन्थों की पुष्पिका में इनका मच्छघ्नपाद, मच्छेन्द्रपाद या मत्स्येन्द्रपाद, मीनपाद, मत्स्येन्द्र तथा मच्छिन्द्रनाथपाद नाम मिलता है।[8] इनके विषय में विस्तृत विवरण के लिये "नाद

---

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६१-६२।
२. वही, पृ० ६४।
३. पूजा तत्त्व, पृ० १७७।
४. तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ४४।
५. वही।
६. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३२।
७. वही, पृ० ३८।
८. वही, पृ० ३९।

सम्प्रदाय" नामक द्रष्टव्य है।[1] मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप पीठ के अधीश्वर थे। इनके शिष्य सुमतिनाथ दक्षिण पीठ के एक सिद्ध पुरुष गुरुपद पर अधिष्ठित हुये। सुमतिनाथ के शिष्य सोमदेव और सोमदेव के शिष्य शम्भुनाथ थे। शम्भुनाथ के शिष्य अभिनवगुप्त थे। अभिनवगुप्त ने कुलमार्ग की दीक्षा, शम्भुनाथ से ही पाई थी।[2] कौल मत का अविर्भाव अर्धत्रैयम्बक से भी बताया जाता है। तन्त्रालोक-विवेक में जयरथ ने सम्पूर्ण तन्त्रालोक के विषय को तन्त्र-प्रक्रिया और कुलप्रक्रिया में विभक्त किया है। वे तन्त्र-प्रक्रिया का मूल त्रैयम्बक तथा कुल-प्रकिया का मूल अर्धत्रैयम्बक में निहित मानते हैं।[3] इस सम्प्रदाय को "मठिका" कहा जाता था। मूल रूप से त्रैयम्बक ही दो अद्वैत सम्प्रदायों से सम्बद्ध थे। एक तो साक्षात् त्रैयम्बक मठिका और दूसरे जो उनके पुत्री के पक्ष से आगे बढ़ा, अर्धत्रैयम्बक मठिका से भी उनका सम्बन्ध माना जाता है।[4] इन्हीं को क्रमशः "तन्त्र और कुल-प्रक्रिया" कहा गया। जहाँ कुल मत को अद्वैत भूमि के अन्तर्गत अर्धत्रैयम्बक से सम्बद्ध माना गया वहीं दूसरी ओर अद्वैतभूमि परक तन्त्र-प्रक्रिया के अन्तर्गत त्रिक, क्रम और प्रत्यभिज्ञा को त्रैयम्बक से सम्बद्ध स्वीकार किया जाता हैं।[5] कुल मार्ग को "क्रम" की तुलना में श्रेष्ठ माना गया है।[6]

दार्शनिक पक्ष :—

कौलमार्गी के दो प्रकार बताये गये हैं—पूर्व और उत्तर। पूर्व कौलमत में भगवती आनन्द भैरवी हैं। यह भगवान् शिव या आनन्द भैरव की देह स्वरूप हैं। सूर्य और चन्द्र इनके दो स्तन हैं। नवात्मक शिव इनकी आत्मा हैं। आनन्दभैरव नवव्यूहात्मक हैं। शिव और शक्ति में शेषशेषि भाव सम्बद्ध हैं। दोनों में पराशक्ति और परमानन्द का सामरस्य है।[7] भगवती ही मन, आकाश, वायु, अग्नि, पृथिवीं है। इसके परिणाम से भिन्न कुछ नहीं है। भगवती ने ही अपने को परिणत करनें के लिये चिदानन्दाकार को विराट देह रूप में व्यक्त किया है।[8] नवव्यूह इस प्रकार हैं—[9]

---

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३८-७६।
२. तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ४४।
३. तन्त्रालोक विवेक, १, पृ० २७।
४. क्रम तान्त्रिसिज्म आफ कश्मीर, पृ० ३२।
५. वही, पृ० ३२-३३।
६. वही, पृ० ५५।
७. सौन्दर्य लहरी, श्लोक ३४।
८. वही, श्लोक ३५।
९. तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ४८-४९।

१. काल व्यूह— निमेषादि कला पर्यन्त अविच्छिन्न काल की धारा "काल व्यूह" है। सूर्य और चन्द्र काल-अवच्छेदक हैं।

२. कुल व्यूह— नीलादि रूप कुल-व्यूह है।

३. नाम व्यूह— संज्ञा स्कन्ध का नामान्तर है।

४. ज्ञान व्यूह— इसे विज्ञान स्कन्ध कहते हैं। इसका दूसरा नाम भागव्यूह है। सभाग शब्द विकल्प का और विभाग निर्विकल्प का वाचक है।

५. चित्त व्यूह— अहङ्कार, चित्त, बुद्धि, महत् और मन—यह पञ्चस्कन्ध चित्त-व्यूह है।

६. नाद व्यूह— राग, इच्छा, कृति और प्रयत्न—यह चार स्कन्ध, जो मातृका के चार रूप हैं, नाद व्यूह के अन्तर्गत हैं। परावाक् वह रूप है जो अन्तःकरण में तर्क के साथ स्फुटित होता है। परावाक् ही जब अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती है, तब वह "पश्यन्ती" नाम से जानी जाती है। युक्त अवस्था में अतिसूक्ष्म रूप में इसका अनुभव होता है। परा और पश्यन्ती से मध्यमा का उदय होता है जिसके दो भेद हैं—सूक्ष्म और स्थूल। वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बिका की समष्टि अवस्था सूक्ष्मा मध्यमा है तथा व्यष्टि अवस्था स्थूला मध्यमा है।

७. बिन्दु व्यूह— यह षट्चक्र संघ का नामान्तर है।

८. कला व्यूह— यह वर्णात्मक पचास कलाओं का समूह है।

९. जीव व्यूह— यह भोक्तृवृन्द का नामान्तर है।

ये नव व्यूह भोक्ता, भोग और भोग्य रूप में तीन प्रकार के हैं। भोक्ता-आत्म व्यूह है, भोग ज्ञान व्यूह तथा भोग्य-काल व्यूह है। इस प्रकार परमेश्वर नव व्यूहात्मक हैं। इसीलिये भैरव और भैरवी में नौ प्रकार का ऐक्य अङ्गीकृत होता है। सृष्टि की दशा में महाभैरवी रूप प्रकृति की प्रधानता रहती है इसलिये वह शेषिरूप है और आनन्दभैरव शेषरूप। संहार के समय आनन्दभैरवी स्वात्मा में अन्तर्भूत होती है और प्रकृति तन्मात्रा में। इस समय आनन्दभैरव शेषिरूप और आनन्दभैरवी शेष रूप।

उत्तर कौल इस 'शेषशेषि" भाव को नहीं मानते। उनके मत में प्रधान ही जगत्-कर्त्री हैं। शिव तो सृष्टिदशा में पञ्चतत्त्व रूप में परिणत हो गया रहता है। सम्पूर्ण तत्त्ववर्ग शक्ति का स्वरूप परिणाम है। यही शक्ति प्रलय दशा में जब सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपने में आरोपित कर कारण रूप में अवस्थित होती है, तब वह

"आधार कुण्डलिनी" की संज्ञा प्राप्त करती है।[1] इस दृष्टि से रुद्रयामल उत्तरतन्त्र उत्तरकौल मत का प्रस्थान ग्रन्थ है। जिसमें महाशक्ति कुण्डलिनी का अति विस्तृत विवेचन किया गया है।

इस मत में सृष्टि का आदि कारण "त्रिपुरा" को भी माना जाता है जो ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृरूप त्रिपुटीकृत जगत् की पुरोवर्तिनी आदिभूता होने के कारण "त्रिपुरा" संज्ञा को प्राप्त करती है। इस दर्शन में ३६ तत्त्वों की प्रधानता है—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धा माया (५), माया, अविद्या, कला, राग, काल, नियति (६), जीव (पुरुष), प्रकृति, बुद्धि, मन, अहङ्कार (५), ज्ञानेन्द्रियाँ (५), कर्मेन्द्रियाँ (५), तन्मात्रायें (५) तथा महाभूत (५)।[2] कौलसाधना का परम लक्ष्य कुण्डलिनी महाशक्ति को जागृत करना है, जिसका सैद्धान्तिक और प्रायोगिक विवेचन शोध प्रबन्ध के पञ्चम पुष्प (अध्याय) में किया जायगा।

—:०:—

१. तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० ५०।
२. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६८।

तत्त्व-विचार

तन्त्र-साहित्य प्रायः शिव-शक्ति के विवेचन से आपूरित है। अधिकांश यामल ग्रन्थ भैरव-भैरवी, शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी के कथोपकथन से युक्त है। युगल देव शक्तियाँ परस्पर प्रश्नोत्तर के द्वारा विषय प्रवंतन करती हैं। वार्तालाप के ही प्रसङ्ग में ब्रह्म ज्ञान, अध्यात्म ज्ञान, जीव (भाव), सृष्टि, स्थिति और संहार, मोक्ष या निर्वाण तथा पराशक्ति के विषय में विवेचन होता रहता है। रुद्रयामल में पराशक्ति के रूप में कुण्डलिनी महाशक्ति पर चर्चा की गई है, जो मूलाधार-चक्र में निवास करती है तथा षट्चक्रभेदन होने पर सहस्रार में जाकर शिव का सायुज्य और सामरस्य प्राप्त करती है। प्रकरणवशात् यह महाशक्ति प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पञ्चम पुष्प में विस्तार के साथ विवेच्य है। इस महाशक्ति की डाकिनी, राकिणी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी, हाकिनी, भेदिनी, छेदिनी आदि शक्तियाँ भी हैं। शाक्त प्रधान ग्रन्थ होने के कारण शक्ति के रूप में कुमारी-चर्चा आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। साधना का सर्वोच्च स्तर कुण्डलिनी-विज्ञान है, जिसका लक्ष्य महाशक्ति कुण्डलिनी को जागृत करना है।

(क) ब्रह्मज्ञान :—

ब्रह्मज्ञान के दो स्वरूप बताये गये हैं—१. प्राणायामज, २. अव्यय। अव्यय ब्रह्मज्ञान भक्तिपरक वाक्य का शब्द रसस्वरूप है। शब्द स्यात् अक्षर रूप है, इसलिये वह ब्रह्म का प्रतीक है। प्राणायामज ब्रह्मज्ञान प्राणायाम से उत्पन्न होता है। प्राणायाम भी निर्गर्भ और सगर्भभेद से दो प्रकार का होता है। जप, ध्यानादि से युक्त प्राणायाम सगर्भ कहलाता है तथा जप, ध्यान विवर्जित प्राणायाम निर्गर्भ। यह प्राणायाम मात्राओं में तथा जप क्रम में होता है। इसके तीन विभाग होते हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। जो क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के अधिष्ठान है। पूरक, कुम्भक और रेचक में १, ४ और २ के समय का अनुपात होना चाहिये। मात्रावर्ति प्राणायाम में १ से १२ तक की सङ्ख्या की गणना पूरक में, १ से ४८ तक की सङ्ख्या की गणना कुम्भक में तथा १ से २४ तक की सङ्ख्या की गणना रेचक में की जानी चाहिए। जपक्रम के अन्तर्गत पूरक में प्रणव (ॐ) का सोलह बार मानस उच्चारण, कुम्भक में चौसठ बार तथा रेचक में बत्तीस बार होना चाहिये। प्राणायामज ब्रह्मज्ञान परात्पर माना गया है। ब्रह्मज्ञान के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है। ब्रह्मज्ञानी की सिद्धि में किसी प्रकार का संशय नहीं होता। ब्रह्मज्ञान से जो फल मिलता है, वह कोटि कन्यादान तथा कोटि मन्त्रजप से भी नहीं मिलता। ब्रह्मज्ञान की तुलना में कोटि ब्राह्मणभोग तथा कोटितीर्थ भी व्यर्थ है।[1]

---

१. रुद्रयामल उ०त०, २५-३५-४४।

(ख) अध्यात्मज्ञान :—

अद्वैत वेदान्त के ब्रह्मज्ञान और अध्यात्मज्ञान की अपेक्षा रुद्रयामलोक्त ब्रह्मज्ञान और अध्यात्मज्ञान भिन्न है। वेदान्त की अद्वैत भूमि में ब्रह्मानुभूति तथा जीव और ब्रह्म के ऐक्य का बोध ही ब्रह्मज्ञान है और "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" की अनुभूति अध्यात्मज्ञान है। यहाँ पर प्राणायाम के अभ्यास द्वारा कुण्डलिनी का जागरण ब्रह्मज्ञान है। कुण्डलिनी-जागरण के ही प्रसङ्ग में षट्चक्र के भेदन का ज्ञान अध्यात्मज्ञान कहलाता है। स्थूलदृष्टि से बिना किसी मूर्ति का अवलम्ब लिए परमात्मा के नखचन्द्रशोभित, सुनिर्मल और महासत्त्वस्वरूप श्रीचरणों में मन, चित्त, इन्द्रिय और अन्तर्दृष्टि की स्थिरता को अध्यात्मज्ञान का पथ कहा जाता है। बिना किसी निरोध के वायु को स्थिर करना अध्यात्म मार्ग है॥ ऐसे साधक खेचरी अवस्था को प्राप्त करके वायु का पान करते हुए पाप से मुक्त हो जाते हैं। यह उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार बच्चों की निद्रारहित चेष्टायें शनैः शनैः निद्रा की ओर प्रयाण करती हैं। जो पथापथ ज्ञान से रहित हैं तथा धर्म, अर्थ, काम आदि से विवर्जित हैं, वे बिना किसी अवलम्ब के प्रसन्न होकर यदि विचरण करते हैं तो यह शाङ्करी विद्या का प्रभाव माना जाता है। आज्ञा-चक्र में स्थित शिव तत्त्व का ज्ञान अध्यात्म ज्ञान कहा जाता है। अध्यात्मज्ञान के द्वारा योगी की सिद्धि में किसी प्रकार का संदेह नहीं होता। स्वाधिष्ठान चक्र में मण्डित शिव की भावना करने वाला कोटि चन्द्र तुल्य शान्ति को प्राप्त करता है। वही साधक ज्ञानी, योगी तथा साक्षात् महेश्वर होता है। उसे यह बोध हो जाता है कि जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् चेतनात्मक शक्तिमय है। वह योगिराट् सृष्टि, स्थिति और प्रलय की अवस्था को जानने वाला होता है। केवल नाना शास्त्रों में प्रकाशित अध्यात्मविद्या के अध्येता मात्र शास्त्रजालयुक्त कहे जाते हैं। इसलिये वेदाभ्यास-लीन साधक को भी शक्तिपूर्वक नाना शास्त्रों को त्यागकर शक्ति की भावना करनी चाहिए। नाना शास्त्रों और वेदों के अभ्यास में महाशक्ति की भावना करनी चाहिए। वह शक्ति निराश्रित (स्वतंत्र), कामरूपा, व्यापिका, व्यक्ताव्यक्त रूपा, स्थिरपदा तथा वायवी है। वह अतुल आनन्दानुभूति से युक्त है। उस शक्ति का फलाफल योगियों का निश्चय ज्ञान है, जिसके प्रभाव से साधक परम तत्त्व की चिन्ता में लीन हो जाता है। उस सूक्ष्मरूपा, वायवी शक्तिरूपा, आनन्दरसिका, गौरी, श्वास-प्रच्छ्वास में निवास करने वाली महासर्पिणी का ध्यान करना चाहिये। तत्त्व शरीर में व्यवस्थित आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है। उसको अभिव्यक्त करने वाले साधनों का ग्रहण योगियों के द्वारा किया जाता है। वह महादेवी सद्द्रव्य में स्थित, नीलोत्पलदल की प्रभा वाली, परम मानवी और अठारह भुजाओं वाली है। चेतना कान्ति वाली, चैतन्य, परदेवता, आनन्दभैरवी,

नित्या, घोरहासा, वायु को वश में करने वाली, मदिरा-सिन्धु से उद्भूत प्रमत्त, रौद्री, अभयवरप्रदा, योगिनी, यागजननी, ज्ञानरूपा, मोहिनीरूपा, सर्वभूतरूपा, सर्वपक्षरूपा, महोज्ज्वला, षट्चक्रभेदिका, नित्या, विमला तथा निर्मला देवी का मूलाधार चक्र में ध्यान करना चाहिये। धर्मज्ञ ऊर्ध्वरेता योगी ज्ञान-सिद्धि के लिये विचरण करता रहता है। ज्ञान से ही मोक्ष होता है। समाधि का लक्ष्य मोक्ष ही है। प्राणायाम के द्वारा मन्त्र-जप की वृद्धि करते हुए वायु का संरोध करते हुये धारण शक्ति अर्जित करनी चाहिये। पापराशि का क्षय करने के लिए प्राणायाम से श्रेष्ठ अन्य कोई साधन नहीं है। सम्पूर्ण पापों का क्षय होने पर पृथिवीतल पर कौन सी सिद्धि नहीं हो सकती ? महत्तेजोमय प्राणवायु को जीतकर साधक योगोत्तम अवस्था को प्राप्त करता है। प्राणायाम सर्वसिद्धि क्रियाओं का सार है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक रूपी त्रिवेणी में स्थित साधक बार-बार प्राणायाम का अभ्यास करके योगियों में प्रिय तथा अष्टाङ्ग योग की समृद्धि से युक्त होता है।[1]

(ग) जीव या भाव :—

जो रुद्रयामल का पाठ न कर सकने से बुद्धिहीन, मेधाहीन, मन्दभाग्य, धूर्त, मूढ, आपद्ग्रस्त पुरुष हो, वे किस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर सकेंगे, या कैसे अद्वैत ज्ञान की अनुभूति कर सकेंगे—इसी के समाधान हेतु भैरव के पूछने पर भावत्रय के निरूपण की आवश्यकता महानन्द भैरवी ने समझी।[2] सावना जगत् में भाव एक स्तर है जिससे जीव की निर्मल कोटियों का ज्ञान होता है। वस्तुतः भाव से परे कुछ नहीं है—

भावात्परतरं नास्ति भावाधीनमिदं जगत्।[3]

भैरवी के अनुसार जो मन्दभाग्य है, उनकी शरण में नहीं जाता उसे पशुयोनि प्राप्त होती है जो उनमें भावत्रय की भावना करता है वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। भाव से देव दर्शन सुलभ होता है। भाव से ही परम ज्ञान की प्राप्ति होती है। सभी शास्त्रों का मूल तत्त्व भाव ही है। जब साधक सर्वमूलभूत देवी भाव को प्राप्त कर लेता है, तब उसे सर्वसिद्धि की उपलब्धि होती है और उसका ध्यान दृढ़ हो जाता है। भाव से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। अनुग्रह से सुख मिलता है, सुख से पुण्य और पुण्य के प्रभाव से शिव का दर्शन होता है।[4]

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २५/१०१-१२६।
२. वही, १/१०७-१०९।
३. वही, १/२२०।
४. वही, १/१२०-१२१।

(१) दिव्यभाव

दिव्यभाव विवेक को उत्पन्न करने वाला है। यह सर्वगत, अपूर्व और अखण्ड है। इसी से देव दर्शन होता है। विवेक को उत्पन्न करने के कारण इसे उत्तम माना गया है। पशु और वीरभाव में स्थित होने पर ही दिव्यभाव की साधना करनी चाहिए। चित्त की प्रत्यक् प्रवणता के साथ समाहित मन वाला होकर, शुचिभूत होकर इस भाव की भूमिका में चरण रखना चाहिये। इसी से धर्म का उदय होता हैं। देवतुल्य होने के कारण ही इसका नाम दिव्य भाव रखा गया है। यह सभी भावों का मूल है। शब्द ब्रह्मस्वरूप इस विवेक ज्ञान द्वारा साधक शिव स्वरूप को प्राप्त करता है। सभी शास्त्रों का अध्ययन करके सन्त विवेक का आश्रय लेते हैं।

भावविद्या :—

दिव्य और वीरभाव में स्थित साधक महावीर संज्ञा-युक्त होकर ज्ञान चक्षुवाला होकर दिव्य दृश्य का दर्शन करता है। तर्कादि शास्त्र अनेक हैं, आयु अल्प है, विघ्न करोड़ों हैं—इस स्थिति में साधक को सार वस्तु का ग्रहण उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार हंस जल में से दुग्ध को ग्रहण कर लेता है। दिव्य वीरभाव में स्थित महाभक्त कलियुग में महाविद्या के परमपद का दर्शन करते हैं।[1] इन्हीं दोनों भावों के द्वारा मौनशील साधना में तत्पर मुनि भैरवी पदकमल का दर्शन करते हैं। सत्फल की आकांक्षा करने वाले ब्राह्मण या अवधूतों को दिव्य-वीरभाव का वरण करना चाहिये। दोनों भावों के प्रभाव से व्यक्ति महायोगी हो जाता है और मूर्ख श्रेष्ठ वाक्पति हो जाता है। दोनों भावों में स्थित साधक भैरवी द्वारा बताये गये इस तन्त्र साधना द्वारा रुद्रस्वरूप हो जाते हैं। उन्मत्त और जड व्यक्ति भी इस तन्त्र के पारङ्गत होने पर योगेन्द्र पद को प्राप्त करता है।

इस भाव से ही उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है। इसे आनन्द का समुद्र कहते हैं।[2] सुदृढ़ चित्त वाला विवेकसूत्रग्राही सभी भावों में समबुद्धि रखे। चराचर जगत् में भैरवी के श्रीचरणों का ही दर्शन करे। वही अखण्डज्ञान से समन्वित चित्त वाला होकर निर्मल आनन्द की अनुभूति करे। यही दिव्यभाव का लक्षण है। दिव्यभाव चक्र में ही अन्य दोनों भाव विश्रमित होते हैं।[3] भावसोपानक्रम

---

१. रुद्रयामल उ० त०, १/२०१-२०४।
२. वही, ११-८।
३. वही, ११/२२-२५।

से जो दिव्यभाव का आश्रय ग्रहण करता है, उस उत्तम साधक को महासिद्धि की प्राप्ति होती है बिना दिव्यभाव की साधना में प्रविष्ट हुए कोई यदि श्री भैरवी के चरण कमलों का दर्शन करने की इच्छा करता है, तो वह साधक मूढ समझा जाता है।[1]

दिव्यभाव में भी तीन प्रकार के साधक होते हैं १. वे प्रमाता जो भावत्रय की विशेषताओं को जानने वाले होते हैं। २. ऐसे प्रमाता जो षड्विकार का भेदन करने वाले होते हैं। ३. जो प्रमाता पञ्चतत्त्वों (क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योम) के अर्थों के ज्ञाता हैं। दिव्यभाव की आचार विधि में रत साधक सिद्धों में श्रेष्ठ समझा जाता है। वह शिव-स्वरूप होकर विचरण करता है तथा आठ ऐश्वर्य से समन्वित होता है। जो दिव्यभाव में स्थित हो प्रातः से मध्याह्न तक आनन्दजनक पशुभाव की साधना से च्युत नहीं होता, वह सिद्ध हो जाता है।[2] मध्याह्न से सायं पर्यन्त निर्जन और एकान्त स्थान में वीरभाव की साधना करके रात्रि में गन्धादि से युक्त हो ताम्बूल से मुख को आपूरित करके साधक विजया (भांग) के आनन्द से युक्त होवे। तब आनन्द के उद्रेक से समन्वित एकाग्रचित्त से कुमारी की पूजा का विधान तथा मन्त्र का जप करें। निर्भीक हो रात्रि भर जप करने से साधक दिव्य प्रमाताओं में भी उत्तमोत्तम होकर कालिका का दास हो जाता है।[3] वह सर्वज्ञ की स्थिति में पहुँच जाता है और निश्चित रूप से अष्टैश्वर्यवान् हो जाता है।[4]

(२) वीरभाव

यह मध्यम कोटि का भाव है।[5] यहीं कार्य की सिद्धि होती है। मन्त्र सिद्धि का पद यही है। अद्वैताचार के स्वरूप का स्रोत यही भाव है। दुष्टचित्त वाले इस भाव का आश्रय नहीं ले सकते। रुद्र के स्वरूप के ध्यान से अवच्छिन्न समाहित मानस व्यापार ही वीरभाव है। वीरभाव की साधना में शक्ति करुणा से ओत-प्रोत हो जाती है। इस भाव की साधना की चरम परिणति में साधक रुद्रस्वरूप हो जाता है।

पशुभाव में स्थित साधक सिद्ध विद्या को प्राप्त करने के बाद वीरभाव में

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ११/२६-२८।
२. वही, ११/३०-३३।
३. वही, ११/३७-३९।
४. वही, ११/४०।
५. वही, ११/९, ६/७०।

प्रवेश करता है।[१] वीरभाव की साधना सम्पन्न करने के बाद दिव्यभाव में प्रवेश किया जाता है। जो नरोत्तम वीर और दिव्यभाव को ग्रहण करते हैं वे कल्पतरू की लतारूपी कामना की प्राप्ति करते हैं। ध्याननिष्ठ, मन्त्र-तन्त्र विशारद, आश्रम में निवास करने वाला सद्ज्ञानी होकर साधक महापीठ में ध्यान करें। यदि भाव-साधनारत कोई अधिकारी है, तो अन्य फल-प्राप्त करने की आकांक्षा व्यर्थ है। वह प्रमाता हृदय पर प्रभाव डालने वाली वाणी से सुशोभित होकर वाक् सिद्धि को प्राप्त करता है। उसके मन मन्दिर में लक्ष्मी का वास होता है। वही साधक भैरवी की कृपा से विशिष्ट शरीर को धारण करता हुआ सर्वसिद्धि के आनन्द की अनुभूति करता है।[२] भावों में अतिदुर्लभ वीरभाव है। कुलागम में ही इस भाव का ज्ञान होता है। आकस्मिक मृत्यु का निवारण करने में यही भाव समर्थ है।[३] विना वीरभाव के सिद्धि की ओर उन्मुख होना कठिन है।

वीरभाव तथा दिव्यभाव के उत्तम किन्तु भ्रष्ट साधक के हित के लिए ब्रह्मविद्या का पथ श्रेयस्कर होता है। ब्रह्मविद्या से सम्बद्ध जप, होम और अर्चना द्वारा ब्रह्मज्ञान होता है। चक्र-रहस्य प्रकरण में वर्णित षट्चक्रभेदन की क्रिया को सम्पन्न कर, उसके फल को प्राप्त कर वीरभाव में प्रविष्ट वीर प्रमाता सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। जब तक योग की सिद्धि नहीं होती, तब तक साधक वीराचारी नहीं कहला सकता।[४]

वीरभाव साधक के निषिद्ध कार्य :—

वीर-प्रमाता को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि षट्विकारों का विनाश करना चाहिए। इसी प्रकार निद्रा, तन्द्रा, भय, आलस्य, दीर्घसूत्रता का भी संहार कर देना चाहिए।

कुल क्रिया तथा महामन्त्र को गुप्त करना चाहिए। मुद्रा, अक्षसूत्र, तन्त्रार्थ, भैरवों का अत्याचार, योगिनी साधक और नाड़ी-भेदन को गूढ़ रखना चाहिए। प्राण निकलने पर देवता, गुरु और ईश्वर की निन्दा नहीं करनी चाहिए। सुरा, विद्यापीठ और योगादि की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। प्राण संस्थिति की अवस्था में योगिनी, जड़, उन्मत्त, जन्म, कर्म, कुलप्रिया, धर्म के प्रयोगकर्ता की

१. रुद्रयामल उ० त०, ६/६१।
२. वही, ६/६२-६६।
३. वही, ११/११।
४. वही, ११/२२-३१।

निन्दा नहीं करनी चाहिए। ज्येष्ठ भाई की स्त्री, योगियों के बौद्धाचार तथा शुभाशुभ कर्म निन्दनीय नहीं होने चाहिए।[1]

कन्या की योनि, दिन की रति-क्रीड़ा, पशुरति-क्रीड़ा, वस्त्र रहित और प्रकट स्तन वाली स्त्री को नहीं देखना चाहिए। द्यूत-क्रीड़ा विशिष्ट शरीर, नपुंसक, विष्ठा, अप्रमत्त की कारण-क्रिया को नहीं देखना चाहिए। परा भक्ति द्वारा देव, गुरु और ईश्वर की पूजा करनी चाहिए तथा प्रयत्नपूर्वक आत्मस्वरूप स्थूला और सूक्ष्मा शक्ति का ध्यान करना चाहिए।[2]

इसी प्रकार सिद्ध-मन्त्र की सुसिद्धि के लिए माता-पिता तथा सिद्ध की पराभक्ति के द्वारा पूजा करनी चाहिए। साधक श्रद्धा से युक्त होवें। उसे सन्तोक्त योग साधन, गुरु के वाक्य और उपदेश, स्वधर्म, तीर्थ के देवता, कुलाचार (गुरुपूजा और महादेवी स्तोत्र-पाठ) परमेष्ठी, तन्त्रों की सिद्धि-विधि का एकाग्र चित्त से मनन और ध्यान करना चाहिए। अगम्य स्थान में गमनागमन, धूर्त-सङ्गति, वञ्चकसंग, प्रलापी, मिथ्यावादी और अशुभ व्यक्तियों का साथ, पापगोष्ठी, आलस्य, बहुजल्पन, अवेदमूलक कार्य करने वाले ब्राह्मण का परित्याग कर देना चाहिए। कपाल का हरण करने वाले, किसी अङ्ग के हीन होने से निकले हुए मांस वाले से घृणा नहीं करनी चाहिए। सुरा, अपना पाप, शत्रु का भय त्याज्य है।[3]

(३) पशुभाव

भावों में पशुभाव अधम कोटि का माना जाता है।[4] लेकिन ज्ञान की सिद्धि यहीं होती है। पशुभाव को प्राप्त करके रात्रि में पूजा, स्नान, अन्य नित्य क्रियायें नहीं करनी चाहिए। पुरश्चरण आदि दिन में ही शुचि पूर्वक करना चाहिए। पशुभाव में प्रविष्ट होने के पूर्व साधक को शमादि षट्साधनसम्पत्ति से युक्त हो जाना चाहिए। इन्द्रिय दमन, मननिग्रहण, कामना रहित (उपरति) तितिक्षा, गुरुवाक्य में श्रद्धा[5], समाधान (समाधि), वाला साधक ही भावत्रय की साधना में पदार्पण कर सकता है। पशुभाव द्वारा ज्ञानी होकर वीरभाव तथा दिव्यभाव की साधना में अवतरण किया जाता है। इस भाव में स्थित साधक को पीठों (तीर्थ स्थानों) में निवास करना चाहिए। पशुभाव में स्थित हीन जाति के साधक ज्ञान चक्षु से

---

१. रुद्रयामल उ०त०, २२/४१-४७।
२. वही, २२/४८-५१।
३. वही, २२/५२-५६।
४. वही, ११/६।
५. वही, ११/१३६, १४३, १४०।

वञ्चित रह जाते हैं। शास्त्र से वञ्चित चित्त वाले सहस्र वर्षों तक शास्त्र का ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाते।[1]

पशुभाव में अवस्थित साधक भगवती चरण-कमल का दर्शन कैसे कर सकते हैं ? भैरव के ऐसा पूछने पर भैरवी पशुभाव के स्वरूप को बताती हुई भगवती-चरण के दर्शन के उपाय का वर्णन करती हैं। प्रातः अरुणोदय काल से लेकर अष्ट दण्ड निशा पर्यन्त पशुभाव का समय माना जाता है।[2] प्रभात वेला में उठकर पशुभाव में स्थित साधक दैनिक कृत्य करके पुनः शय्यास्थित होकर यज्ञोपवीत के समय पशुभाव का आश्रय प्राप्त करे।[3]

सहस्रदल-कमल के शीर्ष भाग में गुरु का चिन्तन करना चाहिए।[4] इसके बाद तरुण आदित्य के सन्निकट महागुरु मन्त्र [ॐ ऐं (गुरु नाम) आन्दनाथाय गुरवे नमः ॐ] का १०८ या १००८ बार जप करके ऐकान्तिक भक्ति द्वारा आयु और आरोग्य की वृद्धि के लिए गुरु को प्रणाम करना चाहिए। इसके अनन्तर अर्पण क्रिया और ऐं बीज मन्त्र के द्वारा प्राणायाम (३) करना चाहिए। गुरुमन्त्र के जप के द्वारा साधक को वाक्सिद्धि की प्राप्ति होती है। पशुभाव में स्थित साधक को गुरुवन्दना[5], गुरुस्तोत्र[6], महाशक्ति स्तुति[7] का पाठ करना चाहिए। साधक नित्य गुरु के निकट रहकर प्रातः, मध्याह्न और सायं गुरुवन्दना और गुरुस्तोत्र का पाठ करके सिद्धि प्राप्त करता है।[8] महाशक्तिस्तुति का प्रतिदिन—प्रातः पाठ करने से मनुष्य देवरूप को प्राप्त होता है, वह धन-धान्य, कीर्ति, आयु से सुखसम्पन्न हो जाता है और कल्पद्रुम रूप श्रेष्ठ साधक के पद को प्राप्त करता है। पशुकल्प प्रमाता स्तवन से वागीशत्व को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं।[9] यही साधक प्रातः पशुभाव में, मध्याह्न के समय वीरभाव में और सायं दिव्यभाव में अवस्थित होता

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ११/२०, २०२।
२. वही, ११/४५, २/१०।
३. वही, २२/३१।
४. वही, २/११।
५. वही, २/२०-३३।
६. वही, २/३७-४१।
७. वही, २/४२-४४।
८. वही, २/३४-३६।
९. वही, २/४५-४६।

है। गुरु सभी भाववर्गों और वेदान्त में पारङ्गत होता है।[1] गुरु-माहात्म्य प्रकरण में दिये गये लक्षणों से विशिष्ट व्यक्ति ही गुरु संज्ञा को प्राप्त करता है और उन्हीं गुणों से विशिष्ट होने पर शिष्य भी गुरुत्व पद का आश्रयत्व प्राप्त कर पाता है।

साधक प्रातः उठकर गुरु की पूजा करे, तत्पश्चात् न केवल स्तुति द्वारा अपितु उपहार द्वारा भी महाशक्ति कुण्डलिनी के श्रीपाद का ध्यान और स्तुति करे।[2] नारायणोत्तम पशु प्रमाता महादेवी की वन्दना, पूजा और ध्यान करके अकस्मात् सिद्धि को प्राप्त करता है तथा स्वर्गलोकगामी होता है। यह चतुर्भुज, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करने वाले, गरुड़-वाहन वाले विष्णु के स्वरूप को प्राप्त करता है। इसलिये पशुभाव को महाभाव कहा गया है, क्योंकि अन्य दोनों भावों का आधार यही है। पशुभाव की साधना के बाद ही सर्वभावोत्तम महावीर-भाव में प्रवेश किया जाता है और वीरभाव के बाद अति सौन्दर्य-आस्पद महाफल देने वाले, दिव्यभाव की साधना में उन्मुख हुआ जाता है।[3]

यह साधक विद्या, धन, रत्न और मोक्ष का इच्छुक सभी प्राणियों के हित में लीन रहता है। इस भाव में स्थित साधक यदि इष्ट देवता का पूजन-यजन जीवन-पर्यन्त करता रहे तो महासिद्धि को प्राप्त कर सकता है। दिन-प्रतिदिन ऐश्वर्य को प्राप्त करता हुआ गुरु-स्वभाव वाला हो जाता है और मधुमती महादेवी के श्रीपद को प्राप्त करता है।[4] ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाला वनवासी या गृहस्थ, ब्राह्मण पीठ में रहने वाला साधक पशुभाव में स्थित सिद्धविद्या को प्राप्त करता है।[5] यद्यपि पशुभाव सर्वनिन्दनीय भाव है, क्योंकि अज्ञानग्रस्त प्रमाता ही इसमें प्रवेश करते हैं, तथापि निरन्तर देवाराधना से इस भाव में भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है।[6] इस भाव में स्थित ही वेदार्थ का चिन्तन करने वाला, वेद-पाठ की ध्वनि का प्रेमी, सर्वनिन्दा से रहित, हिंसा और आलस्य से विवर्जित साधक सिद्धि प्राप्त करता है। षट्विकार (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य) विहीन प्रमाता सिद्धिभागी बनता है। पशुभाव के महत्त्व को जानने वाले के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। सम्पूर्ण जगत्, देवता, महामन्त्र, परतप तथा पशुभाव का कुलाचार भी

---

१. रुद्रयामल उ०त०, १/४७-४८।
२. वही, ६/१२-१३।
३. वही, ६/४७-२१।
४. वही, ६/५६-५७।
५. वही, ६/५९।
६. वही, ११/१३।

श्रम के अधीन है। वेदाथ का ज्ञान करके, स्मृति-आगम-पुराण का अध्ययन करके तथा अन्य शास्त्रों के नियमों का अभ्यास करके, कौलों के प्रिय पशुभाव का भी अभ्यास करके, तत्त्वज्ञान प्राप्त करके बुद्धिमान् साधक को भाव के सार तत्त्व का आश्रय प्राप्त करना चाहिए। वध किये गए पशु के मांस के अर्थी को शास्त्रज्ञान से दूर रहना चाहिए।[1] भैरवी के आदेशों का पालन करने वाला साधक वैदिक कार्यों की उपेक्षा न करे। यही पशुभाव का लक्षण है।

(घ) सूक्ष्म सृष्टि, स्थिति और संहार :—

शिव तत्त्व का विलास सृष्टि, स्थिति तथा संहार—कार्यों में देखा जाता है। तीनों कार्यों में शिव ही मात्र अधिष्ठातृ देव हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार यद्यपि शिव से सम्बद्ध है, तथापि उक्त कार्यों की स्थूलता से यहाँ अभिप्राय नहीं है। पुराणों में तो स्थूल सृष्टि, स्थिति और संहार की बात कही जाती है, जिसमें ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता, विष्णु को पालनकर्ता तथा शिव को संहारक माना जाता है, किन्तु यहाँ पर सृष्टि, स्थिति तथा संहार तीनों ही कार्य सूक्ष्म हैं जिसे शिव ही सम्पन्न करता है।

मेरुदण्ड में सबसे आन्तरिक नाड़ी को सुषुम्णा कहते हैं। उस सुषुम्णा-मूल (मूलाधार चक्र) में कुण्डलिनी की सुप्तावस्था में अवस्थिति है। इसे ही "सृष्टि" कहते हैं। इस कुण्डलिनी का जागरण ही "पालन" है। प्रकृति के गुणों का जब विस्तार हो जाता है तो उन्हें प्रलयोन्मुख करने के लिये संहार-रूप कार्य का जन्म होता है।[2]

सृष्टि, स्थिति और संहार भय आदि का कारण है। उस भय के नाश के लिये प्रणव (ॐ) ही समर्थ है। गुणातीत, अनन्त तथा अक्षर रूप की भावना करने वाला योगी साधक होता है। अव्यक्त रूप प्रणव से सृष्टि होती है और वही प्रणव अपनी दीप्ति से व्यक्त शरीरों में समाहित भी रहता है। सूक्ष्म अकारादि (अ, उ, म) से दिव्य आकाश में प्रणव का आभासन होता है, स्थूल निरक्षर (मातृका) से (वैखरी वाणी का विषय बनने से) वह अव्यक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। संसार की यह विचित्र लीला है कि लोकवासी जनों को "हंस" के आश्रित जानकर मनुष्य मूर्त का आश्रय नहीं लेते।[3]

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ११/१४-१६।
२. वही, २५/५, ६।
३. वही, ७-६।

(ङ) निर्वाण :—

तन्त्रशास्त्र में निर्वाण का स्वरूप अनेक रूपों में वर्णित है। कहीं पर मूलाधारस्थ कुण्डलिनी का जागृत होकर सहस्रार में परमशिव से सम्मिलन को "मोक्ष" कहा गया है और कहीं पर कुलमार्ग के ज्ञान को मोक्ष-साधन बताया गया है। शिव और शक्ति के ऐक्य की अनुभूति मुक्तावस्था है। पुनः पुनः जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेना भी मोक्ष है। अष्टाङ्ग योग तथा भक्ति के आठ भेदों को मोक्ष का साधन बताया गया है। मनोमहाप्रलय मोक्ष की ही अवस्था है जिसमें योगी परमतत्त्व में मन को विलीन किये रहते हैं। समाधि के ही समान मोक्ष की भी दो अवस्थायें मानी गई हैं—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। मोक्ष के विभिन्न साधनों को अपना लेने वाला जीवन्मुक्त होता है तथा वही प्रमाता देहपात के बाद विदेहमुक्ति की अवस्थिति का अनुभव करता है।

मोक्ष के विभिन्न साधनों में सुषुम्णा-साधन, डाकिनी-साधन, भेदिनी-साधन, छेदिनी-साधन, राकिणी-साधन तथा श्रीकृष्ण-साधन रुद्रयामल उत्तरतन्त्र में वर्णित है। शिव में चित्त को इस तरह एकाग्र करना चाहिये जिससे जीव और ब्रह्म (शिव) के ऐक्य की अनुभूति हो सके। इस समय साधक तन्मय (ब्रह्ममय) हो जाता है।[1] साधक निरन्तर परम तत्त्व के नख-पराग युक्त चरण कमल में मन को एकाग्र करे। वह परम तत्त्व के प्रत्येक अवयव का ध्यान करे। इस ध्यान की स्थिति में साधक का चित्त विशुद्ध होना चाहिए। वैष्णवों की मुक्ति के लिये यह निर्देश है कि वे स्वाधिष्ठान चक्र में अपने मन को स्थिर करें, साथ ही मन्त्र, जप आदि (हवनादि) का भी अभ्यास उसे करना चाहिये। पृथ्वीतल पर इससे परं कोई भी कृत्य नहीं है। परतत्त्व की अनुभूति होने पर अनुष्ठान का आचरण अनपेक्षित हो जाता है। जिस प्रकार अन्धकार से आच्छादित गृह मे दीप के द्वारा घट-ज्ञान होता है उसी प्रकार अज्ञानादि से आच्छादित आत्मा मन्त्र के द्वारा गोचर होता है। इस योग के द्वारा साधक को समस्त पाप तथा दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। विषयासक्त जनों के लिये यह योगमार्ग दुर्लभ है। केवल योगियों के लिये ही यह मार्ग सुलभ है। ब्रह्मज्ञान, योगध्यान, मन्त्र-जप तथा नेति आदि नाना प्रकार की क्रियायें मुक्ति मार्ग की सीढ़ियां हैं। शिव के प्रति असाधारण भक्ति श्रीविद्या-रूपा है। भक्ति के मनन, कीर्तन, ध्यान, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य-भाव, सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन—ये दश अङ्ग हैं। इस भक्ति की कृपा से साधक निश्चित ही जीवन्मुक्त होता है। वह योगी समाधि में स्थित होकर अन्य

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २८/८७।

योगियों में प्रिय होता है।[1]

निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये कर्मों का क्षीण होना अपरिहार्य है। शरीरधारी मनुष्य सामान्यतया कर्म के बिना रह ही नहीं सकते। जब उनमें निष्काम कर्म का प्राधान्य हो जाता है, सकाम कर्म पूर्णरूपेण नष्टप्राय हो जाते हैं तब जीव मोक्ष की ओर उन्मुख हुआ माना जाता है। जीव के कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। अशुभ कर्मों से जीव भीषण यातना को प्राप्त करता है तथा शुभ कर्म से जागतिक या भौतिक आकर्षणरूप फलों के साथ अमुत्र (स्वर्ग) की प्राप्ति होती है तथा पुण्य के क्षींण हो जाने पर पुनः इस संसार में जीव का आगमन होता है।[2]

ब्रह्मादि तृण पर्यन्त सम्पूर्ण आभास-वैचित्र्य मायाजन्य है। एक मात्र सत्य रूप ब्रह्म को जानकर मनुष्य सुखी होता है। जो नामरूपात्मकता का परित्याग करके नित्य ब्रह्म में याथार्थ्य को निश्चित करने वाला है वह कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। मन्त्र-जप, होम तथा सैकड़ों व्रत से भी मुक्ति नहीं मिल सकती। शरीरधारी को "ब्रह्मैवाहम्" (मैं ब्रह्म ही हूँ) की अनुभूति होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। जो आत्मा को साक्षी, विभु, पूर्ण, सत्य, अद्वैत, देहस्थ तथा अदेहस्थ जानता है वह निश्चित ही मुक्त होता है। जो सम्पूर्ण नामरूप को बाल-क्रीडन (खिलौना) समझकर उनसे अनासक्त हो जाता है, वही मुक्त होता है। यदि मनुष्य मूर्ति को मोक्ष की साधयितृ समझता है तो वह स्वप्न में प्राप्त राज्य, राज-पद के समान है। मृत्तिका, शिला, धातु और काष्ठ में मूर्ति की भावना करने वाले कष्टित होते हैं क्योंकि तपस्या द्वारा प्राप्त ज्ञान के बिना मुक्ति असम्भव है। जिनका आहार संयमित नहीं है वे ब्रह्म-ज्ञान से रहित प्राणी मुक्ति के अधिकारी नहीं हो सकते। यदि वायु-पान, पर्ण, कण तथा मात्र जल के व्रत का पालन करने वाले को मुक्त समझा जायगा, तब तो सर्प, पशु, पक्षी, जलचर प्राणी भी मुक्त हुये कहलायेंगे। परब्रह्म में निष्ठा रखना उत्तम साधना है, ध्यान-योग मध्यम, स्तुति-जप आदि अधम तथा बाह्य पूजा अधमाधम है। जीव और ब्रह्म का ऐक्य "योग" कहलाता है तथा सेवक-ईश का ऐक्य "पूजन"। "सर्वंब्रह्म" इस प्रकार का ज्ञान रखने वाले के लिये न तो योग का महत्त्व है और न पूजन का। जिसे ब्रह्म ज्ञान जैसा पर ज्ञान प्राप्त हो गया है, उसके लिये जप, यज्ञ, तप, नियम, व्रत आदि व्यर्थ हैं। "सत्यं विज्ञानमानन्दमेकं ब्रह्म" इस प्रकार ब्रह्मभूत

---

१. रुद्रयामल उ०त०, २८/८८-१०४।
२. वही, ६३/६-१९।
३. महानिर्वाण तन्त्र, १४/१०४-१०८।

साधक के लिये पूजा, ध्यान और धारणा से क्या प्रयोजन ? उसके लिये न पाप है, न पुण्य है, न स्वर्ग है, न पुनर्जन्म है, न कोई ध्येय है और न ध्याता। उसके लिये "सब कुछ ब्रह्म" है। इस प्रकार सभी वस्तुओं में निर्लिप्त जीव के लिये कैसा बन्धन और कैसी मोक्ष की इच्छा ? आत्मा ही अपने ही रूप में नाना पदार्थों में विद्यमान है। आत्मा का न बाल्यभाव हैं, न वृद्धभाव और न युवाभाव। वह सर्वदा चिन्मात्र तथा विकाररहित है। जन्म, यौवन तथा वार्धक्य शरीर से सम्बद्ध है, आत्मा से नहीं यह तथ्य स्पष्ट है, किन्तु माया से आवृत्त बुद्धि वालों को इसका भान नहीं होता।[1]

—:०:—

१. महानिर्वाण तन्त्र, १४/११३-१३१।

चतुर्थ पुष्प

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और योगदर्शन

प्रथम पटल

योग-रहस्य

योग :—

योग शब्द की निष्पत्ति "युजिर् योगे" तथा "युज् समाधौ" दो प्रकार से मानी जाती है।[1] "युजिर् योगे" से निष्पन्न "योग" पद "संयोग" अर्थ में प्रयुक्त माना जाता है। पातञ्जल योग दर्शन में "योग" पद से जो अर्थ अभिप्रेत है, वह "युज् समाधौ" से निष्पन्न "योग" पद का वाच्य है।[2] भाष्यकार व्यास की दृष्टि में "योग" और "समाधि" परस्पर पर्यायवाची हैं।[3] वस्तुस्थिति यह है कि योग की परिपक्वावस्था ही समाधि का रूप धारण करती है, जो आगे चलकर सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से दो प्रकार की कही गयी है। कुछ आचार्य ऐसी चित्त की वृत्ति के निरोध को "योग" कहते हैं, जो योग के विरोधी तत्त्वों क्लेश, कर्म तथा विपाकाशय को उत्पन्न करने वाली होती है,[4] किन्तु किसी के मत में चित्त की वृत्ति का वह निरोध "योग" कहलाता है, जो द्रष्टा (साधक) को वास्तविक स्वरूप में अवस्थित कराने का हेतु बने।[5]

जीव और आत्मा के मिलन या ऐक्य को योग कहा जाता है—योगो जीवात्मनोरैक्यम्।[6] "योग" शब्द को जर्मन भाषा में "जाश", लैटिन में "इंगून", अरबी में "सुलूक" कहते हैं।[7] ऐसा विश्वास है कि योग की प्रथम दीक्षा श्री हिरण्यगर्भ को शिव ने प्रदान की थी।[8]

वस्तुतः "योग" जीवात्मा और परमात्मा के साक्षात्कार का मार्ग है—

---

१. धातुपाठ, ७/७।
२. तत्त्ववैशारदी, पृ०-३।
३. व्यासभाष्य, पृ०-१।
४. क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थाचित्तवृत्तिनिरोधः।—त० वै०, पृ०-१०।
५. द्रष्टास्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधः।—योगवार्तिक, पृ०-११३।
६. महानिर्वाणतन्त्र, १४/१२३।
७. कुण्डलिनी योगतत्त्व, पृ०-१६।
८. महाभारत, १२/२४२/२६, श्रीमद्भागवत, ५/१६/१३।

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥[1]

आगमवादी शक्ति के ज्ञान को योग कहते हैं तथा प्रकृतिवादी शिव और शक्ति के ऐक्यं को योग नाम से अभिव्यक्त करते हैं।[2] कुलार्णव तन्त्र भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है—

न पद्मासनतो योगी न नासाग्रनिरीक्षणम् ।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥[3]

महर्षि पतञ्जलि ने तो चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है—"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"[4] चित्तवृत्तियों के निरोध से साधक की स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये ही योग साधनों की आवश्यकता पड़ती है। चित्त वृत्तियों का निरोध न होने से साधक अपना स्वरूप चित्त की वृत्ति के अनुरूप ही समझता रहता है, उसे अपने सहज रूप का ज्ञान नहीं होता है।

योग के प्रमुख विभाग :

योग के अन्तर्गत मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, लययोग को स्वीकार किया जाता है—

(१) मन्त्रयोग :—

जब साधक अपनी मुक्ति हेतु अपने इष्ट देव का नाम जपते-जपते उसके रूप में लीन होकर अपने आप को भूलकर समाधिस्थ हो जाता है, तो यह स्थिति "महाभाव" कहलाती है। यही मन्त्रयोग है। इस प्रथम योग के आचार्य नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि माने जाते हैं।[5]

(२) हठयोग :—

जब साधक स्थूल शरीर के माध्यम से कठोर यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करता हुआ प्राणायाम (वायुनिरोध) द्वारा सूक्ष्म शरीर पर अधिकार कर ज्योतिर्मय

---

१. कुलार्णवतन्त्र, ९/१५।
२. वही, पृ० १८४।
३. वही, ९/३०।
४. पातञ्जल योगदर्शन, १/२।
५. कुण्डलिनी योगतत्त्व, पृ० २२।

रूप में समाधि लाभ करता है, तो इस अवस्था को "महाबोध" कहा जाता है। इस योग के आचार्य के रूप में मार्कण्डेय, भारद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पाराशर, विश्वामित्र, मन्थान, भैरव, कंथड़ि, सिद्धिपाद, गोरक्षनाथ आदि महर्षियों का उल्लेख किया जाता है।[1]

(३) राजयोग :—

विवेक की पूर्णता के द्वारा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त पर विजय करके स्वरूप का प्रकाशबोध करना "राजयोग" है। इस योग के चार पाद और सोलह अङ्ग हैं। इसकी समाधि के चार अङ्ग हैं—२ सविचार, २ निर्विचार।

(४) लययोग :—

लययोग को "कुण्डलिनीयोग", "शिव-शक्तियोग" या "महाराजाधिराज-योग" कहते हैं। जब साधक षट्चक्र-भेदन की साधना का अभ्यास करता हुआ कुण्डलिनी शक्ति को सहस्रार स्थित परमात्मा के साथ सुषुम्णा मार्ग से मिलन कराता है, तो यही "लययोग" कहलाता है। इसे "महायोग" भी कहते हैं। इस योग में स्थूल और क्रमशः सूक्ष्म क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेद, व्योमवञ्चकजय, बिन्दु ध्यान सिद्धि, महालयसमाधि, सिद्धि तथा आत्मसाक्षात्कार होता है।[2]

लययोग संहिता में लययोग के ९ अङ्ग बताये गये हैं—यम, नियम, स्थूलक्रिया (आसन), सूक्ष्मक्रिया (प्राणायाम), प्रत्याहार (नादानुसन्धान), धारणा (षट्चक्रभेदन), ध्यान, लय-क्रिया और समाधि।[3]

योग का अधिकारी :

शारीरिक और मानसिक शुद्धि रखने वाला, स्ववीर्य पर नियन्त्रण रखने वाला, प्राणि मात्र का भला चाहने वाला, आलस्य रहित, अपने ऊपर नियन्त्रण रखने वाला ही योग-दीक्षा का अधिकारी हो सकता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर, अतिभोजन, व्रत, उपवास, अति निद्रा, अति जागरण—ये सब योगमार्ग के विघ्न कहे गये हैं।

योग रहस्य :

साधना की उत्कृष्ट अवस्था में आज्ञा चक्र में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव-

---

१. कुण्डलिनी योग तत्त्व, पृ० २२।

२. वही, पृ० २३।

३. वही, पृ० २३।

स्वरूपा शक्ति के सत्त्व, रजस् और तमस् रूप का ध्यान करना गूढ़ योग है। शरीर की अवस्थिति केवल एक गुण से सम्भव नहीं। इसीलिये वह शक्ति त्रिगुणात्मिका है। शनैःशनैः रजस् तथा तमस् के ऊपर विजय प्राप्त करके सत्त्वगुण-विशिष्ट व्यक्ति गुणवान्, ज्ञानवान्, वाग्मी, सुखी, धर्मी, जितेन्द्रिय, योगीश्वर तथा मुक्त होता है। सत्त्व गुण से आवृत होने के लिये जरा-मृत्यु रहित पुरुष को काल नहीं देखता। सात्त्विक पुरुष परम शान्त, निर्मल, द्वैतभावरहित तथा त्यागी है और उसकी रक्षा काल स्वयं करता है। जल, पर्वत, महारण्य, रणस्थल, भूगर्त में भी वह सुरक्षित रहता है। महायोग को जानने वाले कभी भी मृत्यु को नहीं प्राप्त होते।

—:०:—

द्वितीय पटल

योगतत्त्व-विचार

योगतत्त्व के अन्तर्गत विचार करते समय हम रुद्रयामल उ० त० में वर्णित तत्त्वों की अभिव्यक्त करेंगे, जिनमें प्रमुख हैं—अष्टाङ्गयोग, हठयोग, कायवश्य, पञ्चस्वरादि योग, अमरापञ्चक साधन और योगियों के सूक्ष्म तीर्थ।

(क) अष्टाङ्ग-योग :

योग के अङ्गों के विषय में योग के आचार्यों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। दक्ष स्मृति के अनुसार[1] प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा तर्क और समाधि योग के ये छः अङ्ग स्वीकार किये गये हैं—

प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥

विष्णु पुराण में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि —योग के ये छः अङ्ग निर्दिष्ट हैं।[2]

गोरक्ष संहिता और गोरक्षपद्धति के अनुसार योग के यही छः अङ्ग आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि स्वीकार किये गये हैं—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥[3]

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अङ्ग स्वीकार किये गये हैं—

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।"[4]

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इनको "अष्टाङ्गयोग" कहते हैं। इस ग्रन्थ (रुद्रयामल) में अष्टाङ्ग योग के प्रारम्भिक दो अङ्गों को छोड़कर शेष छः अङ्गों—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की क्रमशः २४वें तथा २७वें पटल में विस्तृत चर्चा की गयी है।

साधना भूमि में उतरने वाले साधकों के अभ्यास-सौकर्य की दृष्टि से यह अष्टाङ्गयोग दो भागों में विभक्त किया गया है—बहिरङ्गयोग और आन्तरयोग।

---

१. गीता अध्याय ७, श्लोक २।
२. विष्णु पुराण, ३७/१३।
३. गोरक्ष संहिता, १/६।
४. पातञ्जल योगदर्शन, २/२९।

बहिरङ्गयोग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार को स्वीकार किया जाता है, तथा अन्तरङ्ग योग में धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीन अङ्ग निर्दिष्ट हैं। योग के ये आठ अङ्ग साधना की पराकाष्ठा के क्रमिक सोपान हैं। धारणा, ध्यान और समाधि के लिये बहिरङ्गयोग का पुष्ट अभ्यास अपरिहार्य माना जाता है। अष्टाङ्गयोग की चरम परिणति सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियां हैं, जिन्हें सविकल्पक और निर्विकल्पक समाधि भी कहा जाता है। यहाँ पर हम योग के आठों अङ्गों पर चर्चा करना चाह रहे हैं—

(१) यम :

यम की संख्या के विषय में भी आचार्यों में वैमत्य है। भागवत पुराण में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, असङ्गता, लज्जा, संग्रह न करना, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय ये दस यम माने गए हैं।[1] पाराशर संहिता के अनुसार सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, सरलता, थोड़ा आहार और पवित्रता—ये १० यम हैं। इसी प्रकार हठयोग प्रदीपिका में यम के १० भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच।[2] महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम स्वीकार किया है। (१) मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देना अहिंसा है। अहिंसा के अन्तर्गत परदोषदर्शन का सर्वथा त्याग भी होना चाहिये। (२) इन्द्रिय और मन के द्वारा दृष्ट, श्रुत तथा अनुमित अनुभावों को उसी रूप में प्रकट करना सत्य है। इसके अन्तर्गत प्रिय, हितकर तथा दूसरे को उद्वेग न पहुंचाने वाली वाणी होनी चाहिये। (३) दूसरे के स्वत्व का अपहरण न करना, छल से या किसी अन्य उपाय से अन्यायपूर्वक दूसरे के पदार्थ को अपना न बना लेना अस्तेय कहलाता है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्रकार चौर-कार्य नहीं करना चाहिये। (४) मन, वाणी और शरीर से सम्पन्न होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सभी अवस्थाओं में सर्वथा परित्याग करके वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। (५) अपने स्वार्थ के लिये ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति और भोगसामग्री का संचय करना परिग्रह है। इसका अभाव अपरिग्रह कहलाता है।

(२) नियम :

नियम की संख्या के विषय में भी योग के आचार्यों में वैमत्य है। हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार—तप, सन्तोष, ईश्वर और वेद में विश्वास, दान, ईश्वर

---

१. बहिरङ्गयोग, पृ० ४ पर उद्धृत।

२. हठयोग प्रदीपिका, १/१७

पूजा, सिद्धान्त वाक्यों का सुनना, लज्जा, बुद्धि, तप और अग्निहोत्र ये दस नियम स्वीकार किए गए हैं। भागवत पुराण में नियमों की ११ संख्या स्वीकार की गयी है—शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि सत्कार, ईश भक्ति, तीर्थ-भ्रमण, परकल्याण की भावना, संतोष और गुरुचरणों में निवास।[1] महर्षि पतञ्जलि ने पाँच प्रकार के नियमों को स्वीकार किया है—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥[2]

(१) **शौच**—बाह्य और आभ्यन्तरिक दो प्रकार की शुद्धि होती है। शरीर की शुद्धि जल से, मन की सत्याचरण से, बुद्धि की विपर्ययविकल्पादि रहित ज्ञान से तथा आत्मा की शुद्धि तपश्चरण के द्वारा निर्मलचित्त में जीवात्मा की स्वरूप-स्थिति के द्वारा होती है। शौच वस्तुतः बौद्धिक, वाचिक और शारीरिक होनी चाहिये। जप, तप और शुद्ध विचारों के द्वारा तथा मैत्री आदि की भावना से अन्तःकरण के राग, द्वेष आदि मलों का नाश करना भीतरी पवित्रता है।

(२) **सन्तोष**—शरीर से पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त धन से अधिक की लालसा न करना, न्यूनाधिक की प्राप्ति पर शोक और हर्ष न करना, प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त अवस्था तथा परिस्थिति में प्रसन्नता से रहना, किसी प्रकार की कामना या तृष्णा न करना सन्तोष है।

(३) **व्रत**—अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जिस सीमा तक शारीरिक या मानसिक कष्ट प्राप्त हो, उसे सहर्ष सहन करना तप कहलाता है। व्रत-उपवास आदि भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

(४) **स्वाध्याय**—अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का बोध कराने वाले शास्त्रों का पठन-पाठन और इष्ट देवता का स्मरण आदि स्वाध्याय कहलाता है। विवेक के द्वारा अपने दोषों को भी परिमार्जित करते रहना चाहिये।

(५) **ईश्वर-प्रणिधान**—ईश्वर में शरणागति प्राप्त करना ईश्वर-प्रणिधान है। इसके अन्तर्गत सर्वदा ईश्वर के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम आदि का श्रवण, कीर्तन और मनन करते हुये अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर-प्रणिधान के अङ्ग हैं। तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति को क्रिया योग कहते हैं।

---

१. भागवत, ११/२०/३४।
२. पातञ्जलि योग दर्शन, २/३२।

(३) आसन :

साधक अपनी योग्यतानुसार जिस रीति से बिना हिले-डुले स्थिर भाव से सुखपूर्वक बिना किसी प्रकार के कष्ट के कुछ समय तक बैठ सके वही आसन है—'स्थिरसुखमासनम्[१]' आसन की सिद्धि से शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों का आघात नहीं होता। वे द्वन्द्व चित्त को चञ्चल बनाकर साधना में विघ्न नहीं डाल सकते सर जान उड्रफ ने विचारों के परिमार्जन के लिए आसन को एक सहायक तत्त्व माना है।

कहा जाता है कि इस धरती पर जितने जीव हैं उनकी संख्या के अनुसार उनके लिये—८४ लाख आसनों की चर्चा भगवान् शिव ने की है। उनमें से ८४०० और कम से कम ८४ आसन श्रेष्ठ है, जिनकी गणना घेरण्ड संहिता में की गयी है—सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृदासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, सङ्कटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुडासन, वृषभासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन और योगासन।[२]

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र के २३वें और २४वें पटल में ६४ आसनों की संक्षिप्त चर्चा की गयी है।[३] उनमें से कुछ के तो मात्र नाम-निर्देश किये गये हैं। इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट आसनों का यथासम्भव परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है—

अधोमुण्डासन :—

इस आसन को शीर्षासन भी कहते हैं। इसे सभी आसनों में श्रेष्ठ कहा गया है। इससे वायवी कला रूप महती सिद्धि की प्राप्ति होती है। यह सभी प्राणियों के सुख का हेतु है।[४] इसकी विधि इस प्रकार है—[५]

(१) कई तह किया मोटा वस्त्र अथवा छोटा तकिया भूमि पर रख कर हाथ की अंगुलियों को हथेलियों की ओर फँसा कर दोना सा बनाकर तकिये पर

---

१. पातञ्जल योगदर्शन, २/४६।

२. घेरण्डसंहिता, २/१-६।

३. रुद्रयामल उ० त०, २३-३५।

४. वही, २३/२४-२५।

५. बहिरङ्ग योग, पृ० १३५-१३६।

रखें। उस पर सिर को रखकर पैरों को उठाते हुए शरीर का भार धीरे-धीरे कोहनियों और हथेलियों पर डालते हुए पैरों को आकाश की ओर ले जाकर सिर के बल शरीर को तान कर खड़ा करने का यत्न करें। इस तरह शरीर का भार कुहनियों, हथेलियों और सिर पर आ जाता है।

(२) हथेलियों पर सिर न रखकर केवल भूमि पर सिर को रखो। दोनों हथेलियाँ सिर के दायी-बायीं ओर भूमि पर रहें। प्रथम की अपेक्षा यह कुछ कठिन है। इससे सिर पर अधिक जोर पड़ता है। इसे वृक्षासन भी कहते हैं।

(३) इसमें सब क्रिया पूर्ववत् करें। अन्त में दक्षिण पैर वाम जंघा पर रख कर खड़े रहें। इस शीर्षासन को विपरीतकरणी मुद्रा भी कहते हैं।

पद्मासन :

प्राणवायु की सिद्धि के लिये यह आसन उपयोगी है।[1] पद्मासन के अभ्यास की विधि इस प्रकार है।[2] बायें पैर को दक्षिण—जंघामूल में तथा दायें पैर को वामजंघामूल में ऐसे लगाये कि नाभि के नीचे पेडू के मध्य में दोनों एड़ियाँ आ जुड़े और दोनों पाद-तल कमलपत्रवत् दोनों जाघों पर ठहर जाएँ। अब मेरुदण्ड, ग्रीवा, सिर को सीधा रखकर दक्षिण हाथ को दक्षिण एड़ी पर और वाम हस्त को वाम एड़ी पर "ज्ञान मुद्रा" अथवा ब्रह्माञ्जलि बनाकर रखें, जिससे दोनों जानु समरूप से भूमि से मिले रहें। दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर करके शान्त बैठ जाएँ।

बद्ध पद्मासन :

सर्वप्रथम पद्मासन में बैठें। इसके पश्चात् दोनों हाथों को पीठ की ओर से ले जाकर दक्षिण हाथ से दक्षिण पैर का अँगूठा और वाम हस्त से वाम पैर का अँगूठा दृढ़ता से पकड़ लें।[3] दोनों स्कन्ध तने रहें, पूरक करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर कर दें। घेरण्डसंहिताकार इसे भी पद्मासन ही कहते हैं।[4]

स्वस्तिकासन :

वाम पादतल के ऊपर दक्षिण पाद रखकर इस आसन का प्रारम्भ करना चाहिये। यह आसन नारीरमण के समान सुखकारक होता है।[5] इसकी विधि इस प्रकार है—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २३/२६।
२. बहिरङ्गयोग, पृ० ७८।
३. रुद्रयामल उ० त०, २३/२७-२९।
४. घेरण्डसंहिता, २/८।
५. रुद्रयामल उ०त०, २३/३२-३३।

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पाद तले उभे ।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते ॥[1]

यह स्वास्तिक आसन का लक्षण है। जानु और जङ्घा के मध्यस्थल में पादतलों को भली प्रकार स्थापित करके ग्रीवा, छाती और मेरुदण्ड को सीधा करके बैठने से यह "स्वास्तिकासन" बनता है। इसकी एक विधि और है। दोनों बाहुओं को फैलाकर "ज्ञान मुद्रा" में बांधकर दोनों घुटनों पर रख लें।

कार्मुकासन :—

भूमि पर उदर के बल लेटकर दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर घुटने से मुड़े हुए पैरों को भी पीठ की ओर बढ़ाकर दाहिने हाथ से दाहिने पैर के और बायें हाथ से बायें पैर के टखने को पकड़कर इस प्रकार ऊपर की ओर तानें कि पैरों की अगुलियाँ भुजाओं की ओर हो जायें। इस आसन को करते हुए पूरक करना चाहिए। इसके पश्चात् कुम्भक करते हुए ग्रीवा को ऊपर करते हुए सिर, मस्तक, वक्षस्थल तथा हाथों से पकड़े हुए पैरों को ऊपर आकाश की ओर दृढ़ता से तान दें। इस प्रकार प्रत्यञ्चा लगे धनुष के समान शरीर के बन जाने से इसे "कार्मुकासन" या धनुरासन कहते हैं।[2] इसके बाद यथासम्भव इसी स्थिति में रहकर धीरे-धीरे रेचक करते हुए शरीर को पूर्वस्थिति में लाना चाहिये। इससे धीरे-धीरे सूक्ष्म वायु के द्वारा प्राणवायु नियन्त्रित की जाती है।[3] इस आसन का अभ्यास करने से रोग तथा शत्रु का क्षय होता है और साधक सुख की अवस्था को प्राप्त होता है।

कुक्कुटासन :—

सर्वप्रथम पद्मासन लगाकर बैठें। तत्पश्चात् दोनों जांघों और पिण्डलियों के मध्य में से दोनों हाथ दोनों कोहनियों तक बाहर निकालकर तथा हथेलियों को भूमि पर टिकाकर दोनों हाथों के बल पर सम्पूर्ण शरीर को तोड़कर रखें।[4] दृष्टि सामने रहे, कुछ देर इसी स्थिति में रहें, फिर छोड़ दें।

लोलासन :—

कुक्कुटासन की अवस्था में वायु की चञ्चलता के अपघात हेतु लोलासन

---

१. घेरण्डसंहिता, २/१३।
२. वहिरङ्गयोग, पृ० १५४।
३. रुद्रयामल उ० त०, २३/३६।
४. वही, २३/४०।

का अभ्यास करना चाहिये। इससे वायु की स्थिरता रहती है और साधक स्थिर-चेता होता है।[1]

वीरासन :—

प्रथम विधि—दाँया पैर वाम जङ्घा के ऊपर और बांया पैर दायें घुटने के नीचे रखें। समकाय होकर दोनों भुजाओं को आधा फैलाकर, हाथों को "ज्ञानमुद्रा" में बाँधकर दोनों घुटनों पर स्थापित कर दें। इसका नाम "वीरासन" है।

दूसरी विधि—बायीं टाँग मोड़ें, फिर यही घुटना मोड़कर एडी को वाम नितम्ब के समीप इस प्रकार स्थापित करें कि वाम पैर का पंजा और घुटना भूमि का स्पर्श करे। पीछे दक्षिण पादतल को वाम घुटने के साथ मिला कर भूमि पर इस प्रकार रखें जिससे दक्षिण घुटना ऊपर खड़ा हो जाय। बायीं हथेली को वाम घुटने पर और दक्षिण हाथ की मुष्टिका (मुट्ठी) बाँधकर दक्षिण घुटने पर रख लें, स्कन्धों को तानकर, समकाय होकर बैठें। क्षत्रियों के बैठने योग्य इसका नाम "वीरासन" है।[2] इस आसन में यौगिक प्रक्रिया द्वारा वायु की धारणा की जाती है, जो इस प्रक्रिया को जानता है, वह महावीर योगी की अवस्था को प्राप्त होता है।[3]

मयूरासन :—

दोनों हाथों के पंजों को भूमि पर दृढ़ता से टेक दें। कोहनियाँ को मिलाकर, इन पर पेट (नाभि) को टेककर, पूरक करके, पैरों को पीछे और सिर को आगे बढ़ाकर शरीर को संतुलित कर दें। शरीर लगभग दण्ड के समान सीधा रहे। पश्चात् कुम्भक रखते हुए इस स्थिति में यथाशक्ति स्थिर रहें। अपनी सामर्थ्य के अनुसार इसी स्थिति में रहने का अभ्यास बढ़ाते रहें। इस आसन द्वारा नाड़ी का सम्भेदन होता है तथा पूरक के द्वारा सभी अङ्गों में दृढ़ता आती है।[4]

खगासन :—

पद्मासन लगाकर उदर के बल लेट जाँय और श्वास को पूर्णतया अन्दर भर लें। फिर दोनों हाथों से पसलियों को पकड़कर, सिर, ग्रीवा, छाती को ऊपर की ओर यथाशक्ति उठाकर इसी स्थिति में रहें। थकने पर रेचक करते हुए

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २३/४३-४५।

२. बहिरङ्गयोग, पृ० ८२।

३. रुद्रयामल उ० त०, २३/७४।

४. वही, २३/९१-९३।

पूर्वस्थिति में आ जाएं। रुद्रयामल उ० त० में खगासन के लिये यह निर्दिष्ट किया गया है कि बद्ध-पद्मासन की अवस्था में अधःशीर्ष (सिर के बल) स्थित होकर बद्ध-पद्मासन सहित पैर और शरीर को ऊपर की ओर उठाकर दोनों हथेलियों को भूमि पर दृढ़ता से जमाकर किया जाने वाला आसन खगासन है। इसे "पद्म शिर आसन" भी कहते हैं। यह आसन विषय-श्रम या किसी भी प्रकार के श्रम को दूर करने वाला होता है।

उत्तमाङ्गासन :—

पद्मासन में स्थित होकर दोनों हथेलियों को सामने भूमि पर जमा दें। अब शरीर को धीरे-धीरे हाथों के बल ऊपर उठाकर दोनों घुटने दोनों कोहनियों पर टिका लें और दृष्टि भूमि की ओर रखते हुए यथाशक्ति इसी अवस्था में बने रहें। इस आसन की अवस्था में प्राणवायु की कुम्भक अवस्था होनी चाहिये। यह आसन योगियों के लिये अति दुर्लभ है। इस आसन से शरीर शीतल होता है तथा कुण्डलिनी चैतन्य होती है। आसन के प्रारम्भ में मूलाधार में सूक्ष्म वायु की पूरक अवस्था करके आसन के समय कुम्भक तथा आसन के अन्त में सूक्ष्म वायु की रेचक अवस्था होनी चाहिये। क्रमशः इसी स्थिति का अभ्यास स्वाधिष्ठान आदि चक्रों से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त करना चाहिये। इससे सूक्ष्म रन्ध्र में मनोलय की अवस्था होती है। जिस प्रकार सूचिका रन्ध्र में सूक्ष्म वायु की सहायता से सूत्र को पूरित किया जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्म वायु की सहायता से पूरक आदि अवस्था के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी का प्रवेश कराया जाता है। छः माह तक इस अवस्था का अभ्यास करके तथा अष्टाङ्गयोग के अभ्यास से साधक महासुख को प्राप्त करता है।[1]

पर्वतासन :—

पद्मासन में बैठकर पूरक द्वारा उदर को श्वास से भर लें। इसके बाद वक्षस्थल को बलपूवक फुला दें और दोनों हाथों को ऊपर उठाकर आकाश की ओर तान दें। इसी स्थिति में यथासम्भव कुम्भक को रखकर शनैःशनै दोनों नासिका छिद्रों से रेचक करते हुए पूर्वस्थिति में आ जायें।[2] इस आसन के द्वारा साधक स्थिर रूपी होकर षट्चक्र की लय अवस्था की सिद्धि करने में सफल होता है।[3]

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३३/४५-५१।
२. वही, २३/५४।
३. बहिरङ्गयोग, पृ० २१०।

योन्यासन :—

दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठें। अब पाद-तलों को जोड़कर दोनों हाथों से गुल्फों (टखनों) को घुमाकर उपस्थेन्द्रिय[1] के समीप इस प्रकार स्थापित करें कि दोनों पैरों के अँगूठे अण्डकोशों के निकट भूमि पर टिक जायें और एड़ियाँ नाभिस्थान के नीचे की ओर आ जायें। अब दोनों हथेलियों को घुटनों पर रख लें, और समकायग्रीव होकर बैठ जायें। इस आसन में खेचरी मुद्रा का अभ्यास तत्काल फलदायक होता है।

प्राणासन :—

साधारण स्थिति में बैठकर दक्षिण जङ्घा-मूल पर बायाँ पैर रखें और दायाँ घुटना मोड़कर नितम्ब के समीप ही पैर को मोड़कर एड़ी खड़ी कर लें। दक्षिण बगल को दक्षिण घुटने पर टेककर, पैर की एड़ी तथा अँगूठे का मध्य भाग पकड़ें और बायीं हथेली वाम घुटने पर रखकर सीधे बैठ जायें और कुम्भक साध लें।[2] दूसरी विधि में एक पाद दूसरी जाँघ पर रखकर तथा दूसरे पाद को स्कन्ध-प्रदेश में रखना चाहिये।[3]

अपानासन :—

सर्वप्रथम सिद्धासन से बैठकर दोनों नथुने से प्रश्वास को रेचक द्वारा बाहर निकाल दें। उड्डीयान लगाकर दोनों हाथों से पसलियों के निचले भाग (उदर) के दोनों पार्श्वों को पकड़कर बलपूर्वक दबा लें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर शनैःशनैः पूरक कर लें और इसी प्रकार ५-६ बार करके छोड़ दें।[4] पूरक के आश्रय की स्थिति में वायु का सूक्ष्म सहस्रार पद्म में प्रवेश करना चाहिये। प्राण-अपान के समागम द्वारा साधक सिद्ध और योगेश्वर होता है।[5]

बन्धयोन्यासन :—

लिङ्ग और गुह्य प्रदेश के बन्धन से युक्त योन्यासन सम्पन्न करके दोनों हाथों की कनिष्ठिका और अनामिका इन दो अँगुलियों से अधरोष्ठ को, मध्यमा अंगुलियों से नासिका छिद्र को, दोनों तर्जनी से दोनों नेत्रों को और दोनों अगूठों से दोनों कानों को बन्द करने से बन्धयोन्यासन होता है। इससे पूर्व वाम नासिका से पूरक करके और तब योनिमुद्रा के द्वारा मुख आदि कर्णपर्यन्त छिद्रों को बन्द करके कुम्भक करें तथा छिद्रों को छोड़कर दाहिनी नासिका से रेचक क्रिया को

---

१. रुद्रयामल उ०त०, २३/६६।
२. बहिरङ्गयोग, पृ० १९३।
३. रुद्रयामल उ०त०, २३/६९-७०।

सम्पन्न करना चाहिये। पुनः यही क्रिया दहिनी नासिका के छिद्र से पूरक करते हुए सम्पन्न करनी चाहिये। सूर्योदय काल से आठ दण्ड तक यह अभ्यास करना चाहिये।

भेकानाम आसन :—

यद्यपि नाम से यह मण्डूक आसन है, तथापि इस आसन की प्रक्रिया योग के अन्य ग्रन्थों में रुद्रयामल से भिन्न है। विवेचन-ग्रन्थ के अनुसार अपने वक्षस्थल के सामने दोनों पैरों को अवस्थित करके कन्धे के ऊपर पैरों पर दोनों भुजाओं को रखने से यह आसन सम्पन्न होता है। इस आसन में स्थित होकर भ्रान्त चित्पद का ध्यान करना चाहिये। इससे सुख की प्राप्ति होती है।[1]

समानासन :—

सिद्धासन से बैठकर प्रथम रेचक करें और नौली को उठायें। अब दोनों हाथों की अँगुलियों से नौली को मुट्ठियों में कसकर पकड़ लें। इस प्रकार कई बार करें। इस आसन में मूलाधार में कुम्भक के माध्यम से वायु को धारण करके मन्त्र का जप करते हुये कोटि विद्युल्लता सदृश कुण्डलिनी की भावना करनी चाहिये, जो जीवात्मा स्वरूप है तथा चन्द्रमण्डल से प्रवाहित अमृतधारा से आप्लावित है।[2]

सर्वाङ्गासन :—

पीठ के सहारे चित होकर लेट जायें और दोनों टाँगें और पैर परस्पर जुड़े रहें। अब कन्धों से पैरों तक का समस्त भाग ऊपर की ओर सीधा उठायें, दोनों भुजायें कोहनियों तक दृढ़ता के साथ भूमि से जुड़ी रहे। फिर कोहनी के मोड़ से हाथों को उठाकर कमर को पकड़कर कन्धों से पैरों तक सारे शरीर को सीधा तान दें। समस्त शरीर दोनों कन्धों और ग्रीवा पर आ ठहरे। इस प्रकार टाँगों को सीधा रखते हुए, पैरों को मिलायें। पैरों के अंगूठों को नाक की सीध में रखते हुए, समस्त शरीर को कन्धों और ग्रीवा पर तोल दें और हाथों से कटिभाग को पकड़कर साधे रहें। यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर छोड़ दें।[3] कभी-कभी ऊपर की ओर पद्मासन भी किया जाता है। अर्थात् सिर नीचे तथा पद्मासन में आबद्ध युगल पाद ऊपर की ओर रहते हैं। सर्वाङ्गासन का अभ्यास छोड़कर वायु

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २३/६४।
२. वही, २३/७१-७३।
३. बहिरङ्गयोग, पृ० ११५।

की धारणा नहीं करनी चाहिये। एक मास के अभ्यास से सूक्ष्म वायु के गमन की उपलब्धि होती है, दो मास के अभ्यास से देव पदवी तथा तीन मास से के अभ्यास साधक को परम शीतलता की प्राप्ति होती है।[1]

गरुड़ासन :—

सीधे खड़े होकर वाम पाद को सीधा रखते हुए, दक्षिण पैर लपेट लें। पश्चात् दोनों भुजाओं को परस्पर लपेट कर हाथों की अँगुलियों को परस्पर मिला दें। एक पैर पर खड़े रहकर मणिबन्धों को नासाग्र पर रखकर गरुड़ की चञ्चु के समान आकार बनाकर यथाशक्ति खड़े रहें। यही गरुड़ासन होता है।

कोकिलासन :—

सीधे खड़े होकर, कटि से आगे झुककर दोनों हाथ टाँगों के मध्य से निकालकर, पैरों के बाहर पास भूमि पर स्थापित कर दें। अब पैरों से दोनों कोहनियों को बाँधकर हथेलियों पर ही समस्त शरीर को तोल दें। पैरों के पञ्जे पिछली ओर पक्षी की पूँछ के समान निकल आते हैं इसी स्थिति में यथाशक्ति स्थित रहने का प्रयत्न करें।[2] ऊर्ध्व की ओर दोनों हाथों को करके तथा उसके आगे की ओर पैरों को फैलाकर दोनों हाथों से पैर के दोनों अंगूठों को आबद्ध करना चाहिये। इसके बाद पद्मासन में बैठकर कोहनियों के ऊपर स्थित होना चाहिये।[3]

खञ्जनासन :—

दोनों पैरों के मध्य में कुछ अन्तर देकर दोनों पञ्जों पर भार देकर बैठें। इसके बाद दोनों हाथों को दोनों जानुओं के मध्य में से पृष्ठभाग की ओर से ले जाकर हथेलियों को दोनों पैरों के पञ्जों के ऊपर ऐसे स्थापित करें कि पक्षी के पञ्जे जैसी आकृति हो जाय। फिर वक्ष तानकर इस प्रकार बैठें—नितम्ब उठे रहें।[4] इस आसन में स्थित होकर पूरक करना चाहिये।

सर्पासन :—

भूमि पर उदर के बल सीधा लेटें और दोनों हाथों की हथेलियाँ छाती के पार्श्वों में भूमि पर टेक दें। फिर पूरक द्वारा श्वास भरकर, सिर, ग्रीवा-छाती को यशाशक्ति ऊँचा ले जाकर कमर तक उठने के प्रयत्न के साथ नाभि ले लेकर

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २३/९०।
२. बहिरङ्गयोग, पृ० १३२।
३. रुद्रयामल उ०त०, २३/१०१-१०२।
४. बहिरङ्गयोग, पृ० २२९।

पैरों तक के भाग को भूमि पर टिकाये रखकर आगे हथेलियों तक लाकर कुम्भक रखकर इसी स्थिति में रहें। रेचक करते समय सिर को नीचे कर लें। इस प्रकार इसी स्थिति में देर तक ठहरने का अभ्यास करें।[1] यह आसन केवल वायुपान के लिये किया जाता है। कुण्डलिनी देवी प्रथमतः कुण्डलाकर रूप में स्थित रहती हैं। वे नाना प्रकार के भूषणों से मण्डित हैं। निद्रा तथा आलस्य को त्याग कर रात्रि में सर्पासन की स्थिति का अभ्यास पुनःपुनः करना चाहिये। इस प्रकार वायु-साधन के द्वारा साधक निद्रा तथा विघ्नों को अपने वश में कर लेता है।[2]

स्कन्धासन :—

प्रथमतः वज्रासन से बैठें और पूरक द्वारा श्वास भरकर कुम्भक कर लें। दोनों हथेलियाँ घुटनों पर रखकर दोनों स्कन्धों को क्रमशः चक्राकार बलपूर्वक घुमायें। इसी प्रकार दूसरी ओर उलट कर भी घुमायें।[3] भूमि पर इस आसन का नियमित अभ्यास करने से दोनों पाद पुष्ट हो जाते हैं। रुद्रयामल उ०त० में दोनों पादों को स्कन्ध भाग में आबद्ध करके इस आसन को सम्पन्न करने का निर्देश किया गया है। वायवी शक्ति कुण्डलिनी को वश में करके साधक कलि-पाप से मुक्त हो जाता है।[4]

कूर्मासन :—

१. दोनों टाँगों के घुटनों को मोड़कर पैरों को पीछे करके इस प्रकार बैठें कि टखने भूमि पर टिक जायें और नितम्बों के समीप एड़ी आ जायें। फिर आगे को झुककर दोनों कोहनियों को दोनों जानुओं के समीप भूमि पर स्थापित कर दें। दृष्टि नासिकाग्र पर रहे और श्वास की गति सूक्ष्म कर दें।

२. पैर के दक्षिण गिट्टे से गुदा के वाम भाग को और पैर के वाम गिट्टे से गुदा के दक्षिण भाग को रोककर सावधानी से बैठें। इसे भी कूर्मासन कहते हैं।

३. दोनों एड़ियों को उलट कर अण्डकोशों के नीचे रखें। सिर और गर्दन को सीधा रखकर बैठ जायें।

लाभ :

इस आसन में मूलबन्ध स्वाभाविक रूप से लग जाता है। अतः प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी-उत्थान शीघ्र होता है। इससे बवासीर और भगन्दर रोग नहीं

---

४. बहिरङ्गयोग, पृ० १३४।
१. रुद्रयामल उ०त०, २३/१०९-१११।
२. वही, पृ० १९४।
३. रुद्रयामल उ०त०, २३/११२-११३।

होता ।[१] यह आसन कलि के कल्मष का नाश करने वाला होता है। इसका अभ्यास करने वाला साक्षात् कामरूप हो जाता है ।[२]

मत्स्यासन :—

पद्मासन लगाकर पीठ के सहारे लेट जायें। सिर तथा पद्मासनबद्ध भाग भूमि से लगा रहे और कटि भाग भूमि से कुछ उठा रहे। दोनों हाथों की अँगुलियों से पाद-परिमाण से बढ़े हुए अँगूठे को पकड़कर[3] इसी स्थिति में कुछ देर तक रहें अथवा दोनों कोहनियाँ परस्पर हाथों से पकड़कर सिर के नीचे रख लें। हाथों को इन दोनों स्थितियों में रखकर यह आसन कर सकते हैं ।[४]

कुम्भीरासन (मकरासन) :—

पेट के बल पैर फैलाकर लेटें। अब दोनों हाथों को छाती के दायें बायें रखकर पूरक प्राणायाम करके कोहनियों को खड़ा करके हथेलियों पर छाती का और पेट, कटि, घुटनों को भूमि से उठाकर पैरों के पञ्जों पर समस्त शरीर का भार डालकर तोल दें। अब छिपकली की भाँति हाथ-पैरों को क्रम से आगे पीछे रखते हुए अथवा उछल-उछल पर घूमें फिरें। ध्यान रहे कि हाथों-और पैरों के पञ्जें मात्र टिकें ।[५]

दूसरी विधि के अनुसार भूमि पर कुण्ड (एक प्रकार का घट) की आकृति में स्थिति होकर एक पैर पर दूसरा पैर रखकर तथा सिर के ऊपर दोनों हाथ रखने से यह आसन सम्पन्न होता है ।[६] पेट के बल लेटकर पीठ की ओर दोनों पैरों को उठाकर दोनों हाथों से पकड़ने से भी यह आसन स्थिर होता है ।[७]

सिंहासन :—

घुटनों के बल भूमि पर खड़े होकर, कमर मोड़कर आगे झुकें और हथेलियाँ भूमि पर टिकाकर अँगुलियाँ सिंह के पञ्जे जैसी आकृति में फैलाकर पीठ सीधी रखते हुए छाती को आगे तान दें। एड़ियाँ नितम्बों के साथ मिला दें। अब मुख और नेत्र फाड़कर भयङ्कर दृष्टि के सामने देखते हुए जीभ को यथाशक्ति

---

१. बहिरङ्गयोग, पृ० १०० ।
२. रुद्रयामल उ० त०, २४/९ ।
३. वही, २४/११३ ।
४. बहिरङ्गयोग, पृ० ११० ।
५. वही, पृ० ११४ ।
६. रुद्रयामल उ०त०, २३/१२ ।
७. वही, २४/१४ ।

बाहर निकालकर वायुपान[1] करना चाहिये। इसे व्याघ्रासन भी कहते हैं, जिसमें एक पाद को मेरुदण्ड के ऊपर पीछे से शीर्ष की ओर स्थित रखना चाहिये।[2]

कुब्जरासन :—

सीधे खड़े होकर, फिर कटि से आगे को झुककर दोनों हथेलियों को सामने भूमि पर रखें। टाँगें और भुजायें सीधी तनी रहें। इसी स्थिति में इतस्ततः गमनागमन करें। कहीं-कहीं पर एक ही हाथ को भूमि पर रखने की बात कही गयी हैं।[3]

अर्वोदयासन :—

शीर्षासन की प्रारम्भिक अवस्था करके केवल दोनों हाथों को भूमि पर टिकाकर पूरे शरीर को आकाश में ऊपर करने से यह आसन सम्पन्न होता है।[4]

चन्द्रासन :—

दोनों पाँवों के जानु को भूमि पर टेककर वज्रासन पर बैठें। फिर दोनों हाथों को ऊपर उठाते हुए पीछे पीठ की ओर धीरे-धीरे मेरुदण्ड को झुकाते हुए इतना झुक जायें कि दोनों हाथ भूमि पर आ टिकें। इसके पश्चात् दोनों हाथों को पाँवों की ओर ले जाकर पादतलुओं पर दृढ़तापूर्वक रख दें। इसी स्थिति में यथाशक्ति ठहरकर पूर्वस्थिति में आ जायें।[5] यह क्रिया वायुधारणपूर्वक बार-बार करनी चाहिये।[6]

हंसासन :—

दोनों हाथों को हथेलियों को भूमि पर दृढ़ता से जमा लें और उकडू होकर बैठें। दोनों घुटनों को कोहनियों से बाहर की ओर से दबा कर लें और हाथों पर सम्पूर्ण शरीर को तोलकर हंस जैसी बना लें। इसके पश्चात् ग्रीवा को आगे बढ़ा और झुका कर नासिका को भूमि से लगा दे। नासिका द्वारा भूमि को पुनः-पुनः स्पर्श करें।[7] दृढ़ होकर साधक को चाहिये कि वह श्वासों के द्वारा प्राणवायु का

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २४/१५।
२. वही, २४/१६।
३. वही, २४/१७।
४. वही, २४/२४।
५. बहिरङ्गयोग, पृ० २७४।
६. रुद्रयामल उ० त०, २४/२५।
७. बहिरङ्गयोग, पृ० १०८।

सन्तुलन करें।[1]

योगासन :—

पद्मासन लगाकर पहले सीधे बैठ जायें। तदनन्तर दोनों हथेलियों से दोनों पाद-तलों को इस भाँति ढक दें[2] कि मणिबंध सामने आगे की ओर हो जायें। उन्मनी मुद्रा द्वारा दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर करें। श्वास-प्रश्वास की गति स्वाभाविक रहे। दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर रखने का विधान भी मिलता है।[3]

खेचरासन :—

यह आसन लगभग शीर्षासन के ही समान है, जिसमें विशेष बात यह है कि सम्पूर्ण शरीर को आकाश में उठा दिया जाता है और भूमि पर केवल दोनों हाथों की हथेलियाँ रहती हैं।[4] यदि इस अवस्था में सिर को भी जमीन से लगा दिया जाय तो यह वृक्षासन की अवस्था हो जायेगी।[5]

ग्रन्थि भेदासन :—

यह ऐसा आसन है, जिसके कारण (द्वारा) रुद्र और विष्णु आदि ग्रन्थियों का भेदन होता है। पद्मासन में स्थित होकर दोनों हाथों को हृदय तथा जाँघों पर ध्यान मुद्रा में रखकर सूक्ष्म वायु का सेवन करने से साधक साक्षात् रुद्र स्वरूप हो जाता है। ध्यान के समय सूक्ष्म वायु के सेवन द्वारा कोहनी स्थान से लेकर स्कन्ध और सहस्रदलकमल तक भेदन करके सभी अँगुलियों के द्वारा हाथ जोड़कर नम्र भाव से ध्यान करते हुए खेचरादि मुद्राओं में स्थित रहना ग्रन्थि भेदासन कहलाता है। खेचरी मुद्रा के द्वारा परमात्मा में सूक्ष्म वायु का लय करना चाहिये।[6]

ज्ञानासन :—

इस आसन के द्वारा साधक अतिशीघ्र योगाभ्यासी हो जाता है। इसकी विधि इस प्रकार है—[7] दक्षिण पाद की जङ्घा के मूल में वाम पादतल को रखें तथा दक्षिण पाद-तल को दाहिने पार्श्व की ओर ही दाहिने नितम्ब पर मोड़कर

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २४/२६।
२. वही, २४/२८।
३. बहिरङ्गयोग, पृ० ८३।
४. रुद्रयामल उ० त०, २३/६४।
५. बहिरङ्गयोग, पृ० १३०।
६. रुद्रयामल उ० त०, २३/७९-८२।
७. वही, २३/९४-९६।

रखें। शरीर सीधा रहे। इस आसन से ज्ञान विद्या का प्रकाशन होता है तथा समस्त ग्रन्थियाँ शिथिल होती हैं।

मुण्डासन :—

रुद्रयामल उ०त० में इस आसन की विधि का निर्देश नहीं किया गया है, किन्तु यह शीर्षासन ही है। शीर्षासन तथा मुण्डासन में भेद यह है कि शीर्षासन या अधो-मुण्डासन में दोनों पाद शरीर के साथ आकाश में उठे हुए होते हैं तथा मुण्डासन में पहले वाम पाद तथा तब दक्षिण पाद[1] ऊपर की ओर उत्थित करते हैं।

आनन्दमन्दिरासन :—

इस आसन को "आनन्दमन्दिर" नाम से इसलिये कहा गया है कि परमात्मा को इस मुद्रा में प्रणाम करने पर आनन्द-लाभ होता है। शरीर को दण्डवत्[2] उदर के बल लेटकर पार्श्व की ओर दोनों हाथों को प्रसारित करना चाहिये। इसी प्रकार नितम्ब की ओर (पीछे) दोनों पादों को भी फैलाना चाहिये। इस प्रकार आनन्दभाव मुद्रा में स्थित होना आनन्दमन्दिरासन है। इस आसन का अभ्यास करने वाला "अमर" होता है।[3]

पवनासन :—

इस आसन में खेचरी का अभ्यास करना चाहिये, जिससे साधक योगिराट् हो जाता है। पद्मासन में स्थित होकर दोनों हाथों की हथेलियों को परस्पर आबद्ध (अञ्जलिबद्ध) करके नाभि से नीचे रख लेना चाहिये। यह ध्यान-मुद्रा की स्थिति है। सिर ऊपर की ओर रहे तथा वायु का पान (पूरक) तथा दोनों नासारन्ध्र से नीचे की ओर खींची गई वायु को निरुद्ध (कुम्भक) करना चाहिये।[4]

समानासन :—

"बहिरङ्गयोग" में इस आसन की जो विधि निर्दिष्ट है, उससे रुद्रयामल उ० त० में निर्दिष्ट विधि भिन्न है। बहिरङ्गयोग[5] के अनुसार सिद्धासन पर बैठकर सर्वप्रथम रेचक करना चाहिये। साथ ही नौलि क्रिया को सम्पन्न करके नौलिगत स्नायु-तन्तुओं को हाथों की अंगुलियों से पकड़कर मुट्ठियों के द्वारा प्रगाढ़ रूप से

---

१. रुद्रयामल उ० त० २३/९६।
२. वही, २३/१०४।
३. वही, २३/१०३।
४. वही, २३/१०७-१०८।
५. वही, पृ० १८५।

आबद्ध कर लें। दूसरी विधि इस प्रकार है—अपने पैरों पर बैठकर लिङ्ग के सामने मस्तक ले जायें, तब दोनों हाथों को पृथ्वी पर संकुचित करके नितम्ब पर रखना चाहिये।[१]

भल्लूकासन :—

दोनों पैरों के बल बैठकर अर्थात् नितम्ब पर पैरों की टेक लगाकर दोनों हाथों से दोनों पैरों की अँगुलियों को पकड़ने से भल्लूकासन बनता है। भालू के बैठने के समान ही इस आसन की स्थिति होनी चाहिये।[२]

वर्तुलासन :—

इस आसन का अभ्यास करने वाला साक्षात् भैरव रूप हो जाता है। इस आसन में ऊपर की ओर आकाश में स्थित पैरों से पृष्ठदेश का निबन्धन करना चाहिये।[3]

क्षेमासन :—

सर्वतोभावेन कल्याण करने वाला क्षेमासन माना जाता है। इस आसन में दाहिने पैर तथा दाहिने हाथ को पृथ्वी पर स्थापित किया जाता है।[४]

मालासन :—

रुद्रयामल उ० त० में कुछ आसनों पर अति संक्षिप्त चर्चा की गई है। मालासन के अभ्यास के लिये यह विहित है कि एक हाथ पर सारे शरीर को तौल देना मालासन कहा जाता है। इस आसन के अभ्यास से शुभयोग की प्राप्ति होती है तथा साधक वायवी-प्रिय होता है।[५]

दिव्यासन :—

इस आसन की भी अति संक्षिप्त विधि रुद्रयामल उ० त० में वर्णित है। सर्वप्रथम पृष्ठ प्रदेश को हाथ से आबद्ध करना चाहिये, इसके बाद एक हाथ से मध्य प्रदेश (कटि भाग) को पकड़कर पुनः दूसरे हाथ को भूमि पर नासिका के सहारे रखना चाहिये।[६] यह आसन पद्मासन या सुखासन की स्थिति में किया जा सकता है।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २४/१०।
२. वही, २४/१८।
३. वही, २४/२०।
४. वही, २४/२१।
५. वही, २४/२२।
६. वही, २४/२३।

गदासन :—

भूमि पर गदा की आकृति के समान लेटकर दोनों भुजाओं को ऊपर की ओर (शरीर की सीध में) करने से यह आसन सम्पन्न होता है। इस आसन के अभ्यास से काया का शोधन होता है।[1]

लक्ष्यासन :—

लिङ्ग के अग्र भाग में (नाभि से नीचे) दोनों पाद-तलों को रखें। तत्पश्चात् दोनों हाथों के तलों से गुह्यभाग को आबद्ध करके भूमि पर रखने से यह आसन सम्पन्न होता है।[2] यह कन्दपीडासन का ही एक रूप है, जिसमें हाथों से लिङ्गाग्र भाग में आवद्ध पदतलों के पंजों को पकड़े रहना पड़ता है।[3]

फुल्यासन :—

एक हाथ की हथेली पर हाथ दूसरे की हथेली रख कर अधः शीर्ष की अवस्था में आबद्ध हाथ की हथेलियों पर मस्तक को रखकर[4] ऊपर आकाश में शरीर को तौल दिया जाय। आकाश की ओर बद्धपद्मासन की अवस्था हो सकती है। इस स्थिति में इसे "विपरीत ऊर्ध्वपद्मासन" कहते हैं।[5]

ब्राह्मणासन :—

एक पाद को दूसरे पाद की जांघ के ऊपर रखकर दूसरे पाद को सीधे दण्डाकृति रूप में रखा जाय। इस आसन के अभ्यास में ही ब्राह्मण की सार्थकता है।[6] यहाँ स्पष्ट नहीं है कि जांघ पर रखे गये पाद के अँगूठे को उसी दिशा के हाथ की अँगुलियों से पकड़ा जाय या नहीं। हाथ की स्थिति का निर्देश नहीं है। यदि बायें पैर को दाहिने पैर की जाँघ पर रख कर बायें पैर के पंजे को पकड़ने तथा दाहिने हाथ से दाहिने पैर के पंजे को पकड़ने से अर्द्धबद्धपद्मपश्चिमोत्तान आसन की स्थिति होती है।[7]

क्षत्रियासन :—

नितम्बों के सहारे बैठकर दोनों पादतलों को दोनों हाथों की हथेलियों से

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २४/२९।
२. वही, २४/३०।
३. बहिरङ्गयोग, पृ० १८६।
४. रुद्रयामल उ० त०, २४/३१।
५. बहिरङ्गयोग, पृ० २३५।
६. रुद्रयामल उ० त०, २४/३२।
७. बहिरङ्गयोग, पृ० ९६।

संयुक्त करके ऊपर मूर्धा प्रदेश पर स्पर्श कराने से यह आसन सम्पन्न होता है। इसे "पादतल" "संयुक्तमूर्धास्पर्शासन" कहा जाता है।[1] यही स्थिति क्षत्रियासन की भी है। अधोमुख होकर दोनों पादतलों को केशों के द्वारा आबद्ध करके स्थित होना ही "क्षत्रियासन" कहलाता है। इस आसन के द्वारा साधक वीर्यवान् होता है।[2]

वैश्यासन :—

वक्षस्थल पर दोनों हाथों को टेकते हुए पृथिवी पर दोनों हाथों के अँगूठे के सहारे शरीर को तौल देना "वैश्यासन" कहलाता है।[3] यह अवस्था कुछ-कुछ मयूरासन के समान है। इस आसन के अभ्यास से साधक धनवान् होता है।[4]

शूद्रासन :—

पाद-मध्य (घुटने) में दोनों हाथों के अंगूठे को रखकर वहीं पर नासाग्र भाग को रखने से शूद्रासन सम्पन्न होता है। इसके अभ्यास से सेवकत्व की भावना का उदय होता है।[5] इसका अभ्यास करने के पूर्व घुटने के बल बैठना चाहिये।

जात्यासन :—

लगता है मनुष्य जाति की प्रारम्भिक अवस्था का संकेत करने के लिये इस आसन का स्मरण या अभ्यास किया जाता है, क्योंकि इस आसन में भूमि पर दोनों पैरों तथा दोनों हाथों को रखकर गमनागमन कार्य सम्पन्न किया जाता है।[6]

पाशवासन :—

कोहनी पर मस्तक को रखकर पृष्ठ प्रदेश में दोनों हाथों को आबद्ध करने से पाशवासन सम्पन्न होता है। इस आसन का अभ्यास करने वाला पशुपति हो जाता है।[7]

सिद्धचर्मासन या कोमलासन का विचार (ध्यान) अवश्य रखना चाहिये। इन आसनों की सिद्धि से साधक चिरजीवी होता है। संवत्सर पर्यन्त अभ्यास से

---

१. बहिरङ्गयोग, पृ० २५८।
२. रुद्रयामल उ० त०, २४/३३।
३. वही, २४/३४।
४. वही।
५. वही, २४/३५।
६. वही, २४/३६।
७. वही, २४/३७।

साधक जीवन्मुक्ति की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। आसनों का प्रयोजन केवल कामशुद्धि ही है। आसनों के पूर्ण अभ्यास के बाद श्रीविद्या की साधना या किसी भी प्रकार की उत्कृष्ट साधनायें सम्पन्न की जाती है।[1]

प्राणायाम

कुण्डलिनी योग की साधना में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका प्राणायाम की है। इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों के द्वारा सुषुम्ना में वायु का प्रवेश प्राणायाम के अभ्यास से ही सम्भव है। सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मूलाधार आदि पांच चक्रों का भेदन प्राणायाम की क्रिया से ही सम्भव है। प्रत्येक चक्र की साधना प्राणायाम के अवयवभूत विभिन्न प्रकार के कुम्भक के अभ्यास द्वारा सम्पन्न की जाती है। यही साधना षट्-चक्र-भेदन अथवा कुण्डलिनी जागरण के नाम से योगशास्त्रों में प्रसिद्ध है, जिसका विस्तृत विवेचन पञ्चम पुष्प के अन्तर्गत महाशक्ति कुण्डलिनी के प्रकरण में किया गया है।

श्वास और प्रश्वास का एक क्रमिक गति में प्रवाहित करना प्राणायाम का सामान्य स्वरूप है। प्राणवायु का नियमन और विस्तार दीर्घायु को प्रदान करने वाला होता है। प्राणवायु की स्थिरता से चित्त भी निश्चल होता है।[2] शरीर में प्राणवायु की उपस्थिति ही जीवन और उसका निष्क्रमण मृत्यु है। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के शोधन से नाड़ियों का मल समाप्त हो जाता है उसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा सुषुम्ना स्थित मल की शुद्धि होती है।[3]

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार आसन की सिद्धि हो जाने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति के अवरोध को प्राणायाम कहते हैं—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।[4]

प्राणायाम के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं—१. बाह्य वृत्ति, २. आभ्यन्तर वृत्ति, ३. स्तम्भ वृत्ति।[5] शरीर के भीतर से निकलने वाले स्वाभाविक कई प्रश्वासों को एक प्रश्वास बनाकर नासापुटों से धीरे-धीरे बाहर निकालना ही बाह्य वृत्ति प्राणायाम है। इसे रेचक भी कहते हैं। यह क्रिया बाह्य तथा आभ्यन्तरिक

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २४/३८-४०।
२. हठयोग प्रदीपिका, २/२।
३. वही, २/६।
४. योगदर्शन, २/४९।
५. वही, २/५।

दोनों ही प्रकार के प्राणों को नियमित करने के लिये की जाती है।[1] शरीर के बाहर से भीतर जाने वाले स्वाभाविक कई श्वासों को एक श्वास बनाकर नासारन्ध्र से धीरे-धीरे अन्दर ले जाना आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम कहलाता है। इस क्रिया को पूरक कहते हैं। श्वास को जहाँ-तहाँ रोक देना स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम है। इसे कुम्भक कहते हैं। इस कुम्भक के दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। पूरक क्रिया के द्वारा नासारन्ध्र से आकृष्ट की गयी प्राणवायु यथाशक्ति और यथासम्भव समय तक अन्दर अवरुद्ध किये रहना आभ्यन्तर कुम्भक कहलाता है। इसी प्रकार रेचक क्रिया के द्वारा प्रश्वास के बाहर निकल जाने पर बाहर ही कुछ देर तक वायु को अवरुद्ध किये रहना बाह्य कुम्भक कहलाता है। प्राणायाम की पद्धति में पूरक, कुम्भक और रेचक क्रियाओं के समय में १, ४ और २ का अनुपात होना चाहिये। इस काल-अवधि की सीमा में प्राणायाम का अभ्यास करने के लिये किसी मन्त्र का अवलम्बन कर लेना चाहिये। योगशास्त्र में कुम्भक के आठ भेदों की चर्चा की गयी है—सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भिकाः॥[2]

प्राणयोग का आरम्भ हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में नहीं करना चाहिये। इस योग का आरम्भ वसन्त और शरद् ऋतु में करने से योगी सिद्ध और रोग-मुक्त होता है।[3]

प्राणायाम के नियम :—

१. शीतलकाल में शीतकार, शीतली, सीतकारी तथा चन्द्रभेदी प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

२. ग्रीष्मकाल में भस्त्रिका, ऊर्ध्वभस्त्रिका, अग्निप्रदीप्त, मुख प्रसारण पूरक, हृदय-स्तम्भ, नाड़ी-अवरोव, सूर्यभेदन, एकाङ्ग-स्तम्भ तथा सर्वाङ्ग स्तम्भ प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

३. वात-प्रधान प्रकृति के लोगों के लिये शीतकार, शीतली, सीतकारी, प्लावनी, कण्ठवायु तथा उदरपूरक प्राणायाम वर्जित हैं।

---

१. बहिरङ्गयोग, पृ० २६३।
२. घेरण्डसंहिता, ५/४५।
३. वही, ६/८-९।

४. दुर्बल काया वाले व्यक्ति के लिये भस्त्रिका, मुख प्रसारण पूरक, अग्निप्रदीप्त, हृदय-स्तम्भ, नाड़ी अवरोध, वायवीय कुम्भक, एकाङ्ग स्तम्भ तथा सर्वाङ्ग स्तम्भ प्राणायाम वर्जित है।

५. भोजन करने के ३-४ घण्टे बाद ही प्राणायाम करना चाहिये।

६. ज्वर-पीड़ित तथा आपूरित उदर की अवस्था में भी प्राणायाम वर्जित है।

प्राणायाम के अन्तर्गत पूरक को अधिक काल तक तथा कुम्भक को स्वल्प काल तक नहीं सम्पन्न करना चाहिये। इस समय किसी प्रकार का संघात नहीं होना चाहिये। प्राणायाम के अभ्यास का प्रारम्भ करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शुक्ल पक्ष में पूरक का आरम्भ इड़ा (बाई नासिका) नाड़ी से तथा कृष्ण पक्ष में पिङ्गला (दक्षिण नासारन्ध्र) से करना चाहिये। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया तथा तृतीया तिथियों में दक्षिण नासारन्ध्र में वायु (स्वर) की स्थिति समझनी चाहिये। चतुर्थी, पञ्चमी तथा षष्ठी तिथियों में वायु की स्थिति वाम नासारन्ध्र में समझनी चाहिये। पुनः सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी में वाम, दशमी, एकादशी तथा द्वादशी में दक्षिण और त्रयोदशी, चतुर्दशी तथा पूर्णमासी में वामनासापुट में वायु की अवस्थिति जाननी चाहिये। इसी प्रकार कृष्ण पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया में दक्षिण, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी में वाम, सप्तमी, अष्टमी, नवमी में दक्षिण, दशमी, एकादशी, द्वादशी में वाम तथा त्रयोदशी, चतुर्दशी पूर्णमासी में दक्षिण नासापुट में वायु की स्थिति बतायी गयी है। जब साधक इस व्यवस्था में विपर्यय की अनुभूति करता है, तब मरण, रोग, बन्धुनाश आदि कष्ट उन्हें उठाना पड़ता है।[1] शरीर और मन की स्थिरता तक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। पसीने का उद्गम जिसमें हो, वह अधम, कम्पन वाले को मध्यम तथा जिसमें भूमि त्याग देने का अभ्यास हो, वह पर प्राणायाम कहा जाता है।[2] उत्तम प्राणायाम का छः मास तक अभ्यास करने वाला भूतदर्शी तथा सुदूर तक का श्रवण करने वाला होता है और एक संवत्सर तक अभ्यास करने वाला योग-विद्या का प्रकाशक होता है।[3]

प्रत्याहार

नाना प्रकार के जागतिक विषयों में आसक्त इन्द्रियों के कारण योगाभ्यास

---

१. रुद्रयामल उ०त०, २७/७-१७।

२. वही, २७/२१।

३. वही, २६/२२।

में कठिनाई होती है क्योंकि ध्यान में एकाग्रता बाधित होती है। इसलिये इन्द्रियों का उनके विषयों से सम्बन्ध हटाकर चित्त के स्वरूप में तदाकार करना प्रत्याहार कहलाता है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति को सब ओर से समेट-कर चित्त में विलीन करने के अभ्यास का नाम प्रत्याहार है। साधना काल के समय जब साधक चित्त को अपने इष्ट में लीन करता है, उस समय यदि इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क समाप्त होकर चित्त में उनका विलय हो जाय तो यही प्रत्याहार के सिद्ध होने की अवस्था समझनी चाहिये। प्रकृत ग्रन्थ में भी प्रत्याहार की यही परिभाषा दी गई है, जिसके अनुसार विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों का प्रवाह त्यागकर हठात् उन्हें विषयों से निरुद्ध कर लेना प्रत्याहार कहलाता है। अन्य किसी कर्म में, धर्म में या शास्त्र धर्म में योगी का ध्यान नहीं होना चाहिये। विषयों में पतित चित्त को आकृष्ट कर इष्ट के चरणकमल में ध्यान लगाना चाहिये, क्योंकि चित्त का विषयों से हटाया जाना तथा विषयों में इसकी गति को अवरुद्ध करना बहुत ही कठिन है। इसलिये बलात् उसका आहरण करना चाहिये। यही प्रत्याहार का स्वरूप है।[2]

प्रत्याहार के माध्यम से समस्त मानसिक विकार नष्ट हो जाते हैं।[3] रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषयों में चक्षु, जिह्वा, घ्राण, त्वक् और कर्ण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के कर्म होते हैं। जिनके सम्पर्क को शनैः शनैः त्याग देना प्रत्याहार कहलाता है—

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहारं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥[4]

धारणा

शरीर के बाहर या भीतर कहीं भी किसी एक देश में चित्त को स्थिर करना धारणा कहलाती है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।[5]

---

१. पातञ्जल दर्शन, २/५४।

२. रुद्रयामल उ० त०, २७/२६-२८।

३. गोरक्ष पद्धति, २/११।

४. वही, २/२२।

५. योग दर्शन, ३/१।

मूलाधार आदि षट्-चक्र शरीर के भीतरी देश हैं तथा सूर्य, चन्द्र, विष्णु, शिव आदि के पद शरीर के बाह्य देश हैं। उनमें से किसी एक देश में चित्त की वृत्ति को स्थिर करने का नाम धारणा है। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के अभ्यास के बाद धारणा का अभ्यास करना चाहिये। हृदय में मन की स्थिरता के साथ क्षिति, जल, तेज, मरुत् और व्योम—इन पञ्चभूतों की पृथक् धारणा करना ही धारणा कही जाती है।[1] इस प्रकार धारणा पांच प्रकार की है।

पृथिवी की धारणा :—

जो पृथिवी हरिताल या स्वर्ण जैसे रुधिरवर्ण वाली है तथा जो अधिष्ठातृ-देवता ब्रह्मा सहित चतुष्कोणाकार पीठ वाली है और जिसके मध्य में "लं" बीज स्थित है, उस "लं" बीज का हृदय में ध्यान युक्त भावना कर, मन सहित प्राण को भूमण्डल में लीन कर लें। इस प्रकार यह धारणा पांच घड़ी तक स्तंभन करने वाली है। इसके प्रभाव से पृथिवी तत्त्व जीता जाता है।[2]

जल की धारणा :—

अर्द्ध चन्द्राकार कुन्द के पुष्प जैसे शुभ्र वर्ण वाले, अमृत रूप, वकार बीज-युक्त तथा अधिष्ठातृदेव विष्णु के सहित जल तत्त्व का ध्यान करते हुए उक्त जल-तत्त्व में मन-प्राण सहित स्वयं को भी लीन कर लेने से पाँच घड़ी में यह वारुणी धारणा सिद्ध हो जाती है। इसके अभ्यास से दु:सह कालकूट विष भी भस्म हो जाता है।[3]

अग्नि की धारणा :—

इन्द्रगोप के सदृश रक्तवर्ण, त्रिकोण आकार, प्रवाल जैसे रुचिर, तेज स्वरूप, बीच में "रं" बीज की विद्यमानता से युक्त और अधिष्ठातृदेव रुद्र के सहित अग्नि-तत्त्व में प्राण-मन के सहित स्वयं को भी लीन करके पाँच घड़ी पर्यन्त ध्यानमग्न रहे, तो यह वैश्वानरी धारणा होती है। इसका अभ्यासी पुरुष अग्नि-तत्त्व जैसा होता है।[4]

वायु की धारणा :—

सुरमे जैसे रंग वाले, वर्तुलाकार "यं" बीज से युक्त वायु-तत्त्व का, उसके अधिष्ठातृ देवता ईश्वर के सहित भौहों के मध्य में ध्यान करता हुआ मन-प्राण

---

१. गोरक्षसंहिता, २/५२-५३।
२. वही, २/५४।
३. वही, २/५४।
४. वही, २/५५।

सहित स्वयं को भी वायु तत्त्व में लय कर देने से पांच घड़ी के पश्चात् वायवी धारणा हो जाती है। इससे आकाश-गमन की शक्ति प्राप्त होती है।[२]

आकाश की धारणा :—

स्वच्छ जल के सदृश वर्ण, वर्तुलाकार "हंकार" बीज-युक्त आकाश-तत्त्व को, अधिष्ठातृ देव सदाशिव के सहित, चिन्तन करे और मन-प्राण सहित स्वयं भी उसी में लीन हो जाये, तो पाँच घड़ी बीतने पर यह नभो धारणा (आकाश की धारणा) सिद्ध हो जाती है। इसके प्रभाव से मोक्ष के वन्द कपाट खुल जाते हैं, अर्थात् साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[3]

ध्यान

धारणा का जो विषय है, उसी में चित्त की वृत्ति को अनवरत लीन रखना "ध्यान" कहलाता है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।[४]

जिस ध्येय वस्तु में चित्त लगा हुआ है, उसी में चित्त की एकाग्रता का होना अर्थात् ध्येय मात्र में एक ही प्रकार की चित्त की वृत्ति का प्रवाह चलना तथा ध्येय से व्यतिरिक्त किसी वस्तु से सम्बद्ध वृत्ति का अभाव होना ध्यान कहलाता है। आत्मतत्त्व के विषय में चित्त के द्वारा चिन्तन ध्यान करना कहलाता है। यह ध्यान सगुण और निर्गुण भेद से दो प्रकार का स्वीकार किया गया है, जिसका आधार चर्याभेद हैं।[५] योगतत्त्व उपनिषद् के अनुसार सगुण रूप का ध्यान करने पर अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती है और निर्गुण के ध्यान से समाधि की प्राप्ति होती है। निर्गुण ध्यान ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन है।[६] चैतन्य से भिन्न पदार्थों में विचरण करने वाले मन को समाहित करके अपनी आत्मा में इष्ट देवता का ध्यान करना "ध्यान" कहलाता हैं।[७] योग के अनेक भेद में एक भेद "ध्यानयोग" भी है, जिसका विस्तृत विवेचन घेरण्डसंहिता के छठें उपदेश में किया गया है।[८] वहाँ पर स्थूल, ज्योति और सूक्ष्म-ध्यान के तीन भेदों का विवेचन किया

---

१. गोरक्षसंहिता, २/५६।
२. वही, २/५७।
३. वही, २/५८।
४. पातञ्जलयोग दर्शन, ३/२।
५. गोरक्षसंहिता, २/६१-६२।
६. वही, पृ० १२१ पर उद्घृत।
७. रुद्रयामल उ० त०, २७/३८।
८. घेरण्डसंहिता, ६/१-२२।

गया है। स्थूल ध्यान किसी अभीष्ट देवता की मूर्ति का ध्यान है। ज्योतिर्ध्यान के अन्तर्गत मूलाधारस्थ कुण्डलिनी से सम्बद्ध दीपक की ज्योति के समान तेजोमय जीवात्मा का ध्यान किया जाता है और सूक्ष्म ध्यान में सहस्रार-स्थित ब्रह्मकुण्डलिनी के महाबिन्दु का ध्यान किया जाता है।[1] मूर्तिध्यान के अतिरिक्त सहस्रार-महापद्म की कर्णिका में द्वादशदलकमल का ध्यान करना भी स्थूल ध्यान कहलाता है।[2] इसी प्रकार ज्योतिर्ध्यान का भी एक दूसरा प्रकार है, जिसमें भ्रूमध्य में तथा मन के ऊर्ध्व भाग में प्रणवरूप प्रदीप्त तेज (शिखा) का ध्यान किया जाता है।[3] इन ध्यानों में सबसे श्रेष्ठ सूक्ष्म ध्यान है।[4] ध्यान के अभ्यास से साधक सर्वत्र गमन करने में समर्थ होता है। कुलागम के अनुसार ध्यानयोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। नखरूपी पराग में चित्रित देवी के युगुल चरणकमलों में मन को स्थिर करके महनीय इष्ट गुणों वाले उस पद्म का ध्यान करना चाहिये।[5]

समाधि

धारणा और ध्यान की पराकाष्ठा ही समाधि का रूप ग्रहण करती है। उस समय ध्याता का ध्येय में विलय हो जाता है और केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति रहती है। ध्यान करते-करते चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है। उसका अपना स्वरूप शून्य सा हो जाता है, ध्येय से भिन्न, भिन्न चित्त का कोई अस्तित्व नहीं रहता। ऐसे ही ध्यान का नाम समाधि है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।[6]

जब तक कर्ण आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों में उनके शब्दादि विषयों का स्तोक अंश भी विद्यमान रहता है, तब तक साधक की ध्यानावस्था रहती है और जब पाँचों इन्द्रियों की वृत्तियाँ निःशेष भाव से आत्मा में लीन हो जाती हैं, तब समाधि अवस्था हो जाती है।[7] ध्यानावस्था की परिपक्वता भी समाधि की स्थिति है। प्राणवायु का पाँच नाड़ी (तीसक्षण)[8] तक अवरोध करना धारणा, साठ घड़ी तक

---

१. घेरण्डसंहिता, ६/१/१६।
२. वही, ६/९।
३. वही, ६/१४।
४. वही, ६/२९।
५. गोरक्षसंहिता, २/६३-७२।
६. पातञ्जल योगदर्शन, ३/३।
७. गोरक्षसंहिता, २/८३।
८. अमरकोश, ३/३/४३।

चित्त की एकाग्रता बनाये रखना ध्यान और बारह दिन तक निरन्तर प्राणों का संयम करना समाधि है। जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति के समय जब साधक सभी सङ्कल्पों को नष्ट करके ब्रह्म में लीन हो जाय तो वह समाधि की अवस्था होती है।[१] बारह दिन तक प्राणों के "संयम" का अर्थ है कि बारह दिन तक लगातार ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि का सङ्गम बनाये रखना समाधि है।[२] सुख-दुःख, क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व में समत्व भावना का उदय इस समय होना चाहिये। अष्टाङ्ग लक्षणों वाली समाधि के द्वारा जीव और ब्रह्म का संयोग होने से साधक ब्रह्मज्ञानी होता है। समाधि के द्वारा ही साधक सहस्रार-स्थित चन्द्र में मन की भावना करनी चाहिये। अष्टाङ्गयोग के अभ्यास के द्वारा पुरुष योग-साधना के योग्य होता है। उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है और अखण्डित मन्त्रसिद्धि भी होती है।[३] योगाभ्यास करने वाले साधक को "भैरव" कहते हैं। वस्तुतः त्रैलोक्य में योगशास्त्र से श्रेष्ठ कोई शास्त्र नहीं है। नाना प्रकार के योगाङ्गों का विवेचन करने वाले त्रैलोक्य से अतीत योगशास्त्र है, जिनका ज्ञान प्राप्त करके साधक देवी का सद्यः साक्षात्कार कर सकता है।[४]

सम्प्रज्ञातयोग

जिस अवस्था में ध्येय का सम्यक् रूप से साक्षात्कार किया जाता है, उस चित्तवृत्ति के निरोध-रूप अवस्था-विशेष को "सम्प्रज्ञातयोग" कहते हैं।[५] इस योग में ध्येय के साक्षात्कार का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। महर्षि पतञ्जलि ने सम्प्रज्ञातयोग के चार भेद किये हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत।[६]

१. वितर्कानुगत :—

स्थूल विषय (पदार्थ) को आलम्बन मानकर उस पर चित्त को केन्द्रित करना "वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातयोग" कहलाता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार स्थूल विषय पञ्च महाभूतों से निर्मित भगवत्-प्रतिमादि ही है।[७]

---

१. गोरक्षसंहिता, २/८४-८५।
२. पातञ्जल योगदर्शन, ३/४।
३. रुद्रयामल उ० त०, २७/४१-४४।
४. वही, २७/४५-४६।
५. योगवार्तिक, पृ० ५०७।
६. योगसूत्र, १/१७।
७. तत्त्व वैशारदी, पृ० ५४।

२. विचारानुगत :—

सूक्ष्म पदार्थ विषयक योग को "विचारानुगतयोग" कहते हैं।[1] इसके अन्तर्गत पञ्चमहाभूतों की तन्मात्राओं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से लेकर अव्यक्त-प्रकृति तक तत्त्वों को स्वीकार किया गया है।[2]

३. आनन्दानुगत :—

वाचस्पति मिश्र सत्त्वगुण प्रधान अहंकार से उत्पन्न इन्द्रियों को इस योग का ध्येय मानते हैं। यहाँ राजस और तामस चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण सत्त्वगुण के उद्रेक के कारण सुख-विशेष को ही इस अवस्था के ध्यान का विषय माना गया है।[3]

४. अस्मितानुगत :—

एकात्मकता के बोध को "अस्मितानुगत" योग कहते हैं।[4] इसके अन्तर्गत ग्रहीता पुरुष तथा बुद्धि में एकात्मकता को विषय बनाया जाता है। किन्तु विज्ञानभिक्षु[5] तो शुद्ध आत्मा को ही इस योग का विषय मानते हैं। अर्थात् इस अवस्था में साधक को मात्र आत्मा का ज्ञान ही होता है, अन्य किसी का नहीं।

असम्प्रज्ञातयोग

सम्प्रज्ञातयोग के तुरन्त बाद असम्प्रज्ञातयोग का अभ्यास नहीं हो पाता। इससे पूर्व सम्प्रज्ञातयोग के फलस्वरूप विवेक-ख्याति के प्रति भी वैराग्य की भावना का उदय होना चाहिये। तभी असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है।[6]

जब विवेक-ख्याति-रूप सात्त्विक-वृत्ति निरुद्ध हो जाती है, तब वृत्ति-रहित चित्त में मात्र संस्कार अवशिष्ट रहते हैं। इस समय ज्ञान कराने वाली वृत्ति का अभाव हो जाता है तथा ध्येय के रूप में कुछ भी नहीं रह जाता। इसलिये इस योग में कुछ भी नहीं जाना जाता। जिसमें कुछ भी सम्प्रज्ञात न हो, वही असम्प्रज्ञातयोग है।[7] इस अवस्था को भाष्यकारों ने "निर्बीज समाधि" कहा है, क्योंकि जाति, आयु तथा भोग का बीज-रूप क्लेश-सहित कर्माशय यहाँ समाप्त हो

---

१. व्यासभाष्य, पृ० ५४।
२. योगसूत्र, १/४५।
३. पातञ्जल योगसूत्र एक समालोचनात्मक अध्ययन, पृ० २६।
४. व्यासभाष्य, पृ० ५४।
५. योगवार्तिक, पृ० ५७।
६. पातञ्जल योगसूत्र एक समालोचनात्मक अध्ययन, पृ० ३८।
७. व्यासभाष्य, पृ० १०।

जाता है।[1] इस समय अक्लिष्ट सात्त्विक-वृत्ति का भी निरोध हो जाता है।

भव-प्रत्यय तथा उपाय-प्रत्यय भेद से असम्प्रज्ञातयोग दो प्रकार का है।[2] विदेह तथा प्रकृतिलय को प्राप्त कराने वाले योग को भव-प्रत्यय कहते हैं।

(ख) हठयोग

लक्षण :—

"हठयोग" शब्द में "हठ" का अर्थ है—ह=सूर्य तथा ठ=चन्द्र। अर्थात् प्राण और अपान वायु।[3]

प्राण और अपान दोनों वायु एक दूसरे को आकृष्ट करते हैं। जिस प्रकार रज्जु में आबद्ध श्येन किञ्चित् उड़ता है किन्तु पुनः आकृष्ट कर लिया जाता है—

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः॥[4]

हठयोग के विभाग :—

हठयोग का अभ्यास सात अवस्थाओं में विभाजित किया गया है जिसे योगशास्त्र में "सप्तसाधन" की संज्ञा दी गई है।[5]

१. षट्कर्म द्वारा शोधन २. आसन से दृढ़ता ३. मुद्रा से स्थिरता ४. प्रत्याहार के द्वारा धैर्य ५. प्राणायाम के द्वारा लाघव ६. ध्यान के द्वारा आत्म-साक्षात्कार ७. समाधि द्वारा निर्लिप्तत्व।[6]

१. शोधन :—

वात, कफ और पित्त के वैषम्य से प्रभावित व्यक्ति को चाहिए कि वह षट्कर्मों का अभ्यास करके शरीर का शोधन करें। जिससे प्राणायाम में सुविधा हो सके। जो वात, कफ तथा पित्त के वैषम्य-रूप दुःख से प्रभावित नहीं है उन्हें केवल प्राणायाम का ही अभ्यास करना चाहिए। जिन षट्कर्मों से शोधन होता है वे इस प्रकार हैं—१. धौति २. वस्ति, ३. नेति ४. लौलिकी ५. त्राटक ६. कपालभाति।

---

१. तत्त्व वैशारदी, पृ० १२।
२. व्यासभाष्य, पृ० ५९।
३. दि सर्पेन्ट-पावर, पृ० १९८।
४. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ८ की "श्रीतत्त्वचिन्तामणि" टीका में उद्धृत।
५. घेरण्डसंहिता, १/९।
६. वही, १/१०-११।

१. धौति—धौति चार प्रकार की हैं—अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति, मूलधौति।

अन्तर्धौति भी चार प्रकार की होती है—वातसार, वारिसार, वह्निसार, बहिष्कृत।[1]

दन्तधौति के भी चार प्रकार हैं—दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्र और कपालरन्ध्र। हृद्धौति कफ और पित्त को समाप्त करती है। यह क्रिया दण्डधौति या वासधौति द्वारा सम्पन्न की जाती है। दण्ड या वस्त्र को गले में डालकर वमन-क्रिया की जाती है। इसे वमनधौति भी कहते हैं। मूलधौति का अभ्यास अपानवायु के सुविधाजनक-रीति से निर्गमन के लिए किया जाता है। यह क्रिया मध्यमा अङ्गुलि तथा जल के माध्यम से अथवा हल्दी के पौधे के डण्ठल से सम्पन्न की जाती है।

२. वस्ति :—

यह दो प्रकार की है[2]—शुष्कवस्ति, जलवस्ति। जलवस्ति में योगी नाभि-पर्यन्त जल में उत्कटासन या पश्चिमोत्तानासन की अवस्था में स्थित हो गुदा का सङ्कुचन तथा विस्तारण करता है। पेड़ू को शनैःशनैः आन्दोलित किया जाता है। स्थल में ही पश्चिमोत्तान होकर अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा का सङ्कोच तथा विस्तार करना शुष्कवस्ति है।[3]

३. नेति :—

वस्त्र की रज्जु द्वारा नासिका का शोधन किया जाता है।

४. लौलिकी :—

उदर की पेटिका को चन्द्राकार शैली में घुमाया जाता है।

५. त्राटक :—

किसी सूक्ष्म लक्ष्य को निर्निमेष पलकों से तब तक देखना जब तक आंसू न निकलने लगें। इस क्रिया से दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है।[4]

६. कपालभाति :—इसके द्वारा कफ को दूर किया जाता है। यह क्रिया तीन प्रकार की है—१. वात क्रम—श्वास का लेना और छोड़ना २. व्यूतक्रम—

---

१. घेरण्डसंहिता, १/१४।

२. वही, १/४६।

३. वही, १/४९।

४. वही, १/५६-६०।

नासिका से जल खींचकर मुँह से निकालना ३. सितक्रम—मुँह से जल लेकर नासिका से निकालना।[1]

२. दृढ़ता :—

आसन से दृढ़ता की प्राप्ति होती है। कहा जाता है कि जीवयोनियों के समान आसन भी असङ्ख्य हैं। चौरासी लाख में से १६०० उत्तम कहे गये हैं। इनमें से ३२ मानव के लिये शुभ हैं। इनमें भी सर्वसाधारण रूप में मुक्तपद्मासन तथा बद्धपद्मासन की चर्चा की गयी है। घेरण्ड संहिता (द्वितीय उपदेश) में ८४ आसनों का वर्णन किया गया है। जिनमें चार अपरिहार्य कहे गये हैं—सिद्धासन, उग्रासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने चार और आसनों की उपयोगिता को स्वीकार किया—बद्धपद्मासन, त्रिकोणासन, मयूरासन तथा भुजङ्गासन।[2] कुण्डलिनी योग की साधना सिद्धासन तथा योनिमुद्रा द्वारा सम्पन्न की जाती है।

तन्त्र जगत् में कुछ आसन बड़े विचित्र वर्णित है। जैसे—मुण्डासन, चितासन, शवासन जिसमें साधक का आसन (बैठने का स्थान) क्रमशः खोपड़ी, चिता और शव निर्दिष्ट होता है। ये साधनायें भय पर विजय तथा सर्वत्र अभेद दृष्टि प्राप्त करने के लिये की जाती है।

आसनों में सर्वश्रेष्ठ सिद्धासन को ही बताया गया है।

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव।
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः॥[3]

अर्थात् यमों में मिताहार, नियमों में अहिंसा के समान योगीजन सिद्धासनों को सब आसनों में मुख्य मानते हैं।

३. स्थिरता :—

मुद्रा के द्वारा स्थिरता की प्राप्ति होती है। मुद्रायें जरा और मरण को नष्ट करने वाली होती हैं। ये १० हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महाबेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धबन्ध, विपरीतकरणी व शक्तिचालन। मुद्रा के द्वारा ही कुण्डलिनी-शक्ति के कपाट का उद्घाटन किया जाता है। आसनों में सिद्धासन के समान मुद्राओं में खेचरी-मुद्रा सर्वप्रमुख है। कुण्डलिनी के जागरण के लिए सिद्धासन में

---

१. घेरण्डसंहिता, १/५६-६०।
२. दि सर्पेन्ट पावर, (पाद टिप्पणी), पृ० २०३।
३. हठयोग प्रदीपिका, १/४०।

बैठकर योनि-मुद्रा में अवस्थित खेचरी मुद्रा के द्वारा प्राण वायु को पूरक अवस्था में करके अपान वायु से सङ्गम कराना चाहिये। इस प्रकार षट्चक्रों पर ध्यान या मनन करते रहने से कुण्डलिनी का जागरण होता है।

हूँ बीजमन्त्र काम और क्रोध के लिये है। काम का अभिप्राय सृष्टि और क्रोध का अर्थ लय से है। तारामन्त्र के अनुसार हूँ वायु की ध्वनि है जो चोल झील से मेरू के पश्चिम की ओर वेग से प्रवहमाण होती रहती है।

"हंसः" में सः का अर्थ प्रकृति तथा हम् का अर्थ पुरुष (जीवात्मा) से है। हंसः के द्वारा कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी तथा "सोऽहम्" के द्वारा उसे अधोगामी किया जाता है।[१]

४. धैर्य :—

स्थूल-शरीर के शोधन के बाद सूक्ष्म-शरीर को नियन्त्रित करने के लिये प्रत्याहार के द्वारा धैर्य की प्राप्ति होती है। इससे सूक्ष्म शरीर नियन्त्रित हो जाता है।

५. लाघव :—

शरीर को हल्का करने के लिये प्राणायाम अपरिहार्य है। मुँह और नासिका से ग्रहण की जाने वाली स्थूल वायु है। श्वसन क्रिया प्राणवायु का आभासन है। स्थूल वायु का नियन्त्रण करने पर प्राणवायु का नियन्त्रण स्वतः हो जाता है। प्राणायाम (प्राण+आयाम) का तात्पर्य है प्राणवायु का विस्तार। प्राणायाम के अभ्यास से कुण्डलिनी के उत्तेजित होने पर प्राणवायु का सुषुम्णा में प्रवेश होता है। प्राणवायु के ऊर्ध्वगामी होने पर शक्ति कुण्डलिनी की सहायता से प्राण सुषुम्णा में षट्चक्रों का भेदन करता है, जो ब्रह्मनाड़ी को अवरुद्ध किये रहता है तथा पारमार्थिक रूप से परम-श्वास में उस प्राण-वायु का लय हो जाता है।

६. ध्यान :—

शरीर और स्वास्थ्य से क्षीण, रुग्ण तथा अल्पजीवी होने की अपेक्षा एक सफल ध्यानयोगी होना सम्भव है। ध्यानयोगी अपनी इच्छानुसार ही देहपात करता है।[१]

घेरण्डसंहिता (छठाँ उपदेश) के अनुसार ध्यान के तीन भेद बताये गये हैं स्थूल, ज्योति तथा सूक्ष्म।

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा॥

---

१. दि सर्पेन्ट पावर, पृ० २८९।

सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डला परदेवता ।[1]

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार ध्यान के दो प्रकार हैं—

ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः ।
साकारं स्थूलमित्याहुर्निराकारन्तु सूक्ष्मकम् ॥
स्थिरार्थं मनसः केचित् स्थूलध्यानं प्रचक्षते ।
स्थूलेऽपि निश्चलं चेतो भवेत् सूक्ष्मेऽपि निश्चलम् ॥[2]

स्थूल ध्यान में मन के समक्ष किसी देवता का स्वरूप लाया जाता है। जसे—हृदय में अमृत के महासमुद्र का ध्यान करे। सुधासिन्धु के मध्य रत्नों का द्वीप हो। उसका तट रत्नचूर्णों का हो। वह द्वीप पीत-कुसुमों वाले कदम्ब वन से घिरा हो और यह वन भी मालती, चम्पक, पारिजात तथा अतिसुरभित वृक्षों से घिरा हो। कदम्ब वन के मध्य एक मनोहर कल्पवृक्ष अभिनव कुसुमों तथा फलों से बोझिल हो। वृक्ष की पत्तियों के मध्य भ्रमरों का गुञ्जार तथा कोयलों की कूक हो। वृक्ष की चार शाखायें चतुर्वेद-स्वरूपा हों। उस वृक्ष के नीचे बहुमूल्य मणियों का एक विशाल मण्डप हो, उसके अन्दर एक सुमनोहर पर्यङ्क हो जिस पर इष्ट-देवता विराजमान हों। गुरू ही उस देवता के स्वरूप, वस्त्र, वाहन तथा नाम का निर्देश करेगा।[3]

एक काल्पनिक स्वरूप में अग्नि और तेज का मानस-ध्यान ही ज्योतिर्ध्यान है। मूलाधार से सर्पिणी-सदृश कुण्डलिनी की अवस्थिति स्वीकार की जाती है। वहीं पर प्रदीप के शुण्डाकार लौ सदृश जीवात्मा का वास है। साधक वहाँ तेजोमय ब्रह्म का ध्यान करता है अथवा भ्रूमध्य में "ज्योति" को बिखेरते हुए प्रणवात्मक लौ का ध्यान साधक करें।[4]

शाम्भवी मुद्रा के द्वारा कुण्डलिनी का ध्यान सूक्ष्म ध्यान कहलाता है।[5] इस ध्यान के द्वारा आत्म साक्षात्कार होता है। सूक्ष्म से सौगुना ज्योतिर्ध्यान तथा ज्योतिर्ध्यान से एक लक्ष गुना सूक्ष्म ध्यान का महत्व बताया गया है। यह सर्वश्रेष्ठ ध्यान है—

---

१. घेरण्डसंहिता, ६/१।
२. कुलार्णवतन्त्र, ९/३-४।
३. घेरण्डसंहिता, ६/२-८।
४. वही, ६/१६-१७।
५. वही, ६/२०-२१।

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते ।
तेजो ध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम् ॥

७. समाधि :—

समाधि को परयोग कहते हैं, जो बहुत ही भाग्य से गुरुकृपा तथा गुरुभक्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है।[1] समाधियोग के साधक के लिए विद्या प्रतीति, गुरु-प्रतीति, आत्मप्रतीति तथा मन की प्रबुद्धता आवश्यक है। शरीर से मन को अलग करके परमात्मा के साथ एकाकार करना ही समाधि है।[2] यही मुक्तावस्था है। इस समय मैं ब्रह्म हूँ अन्य नहीं, मैं ब्रह्म ही हूँ शोक का भाजन नहीं हूँ, सच्चिदानन्द रूप हूँ, परमात्मारूप वाला नित्य-मुक्त हूँ, यह अनुभूति होती है—

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान् ॥[3]

घेरण्डसंहिता में समाधि के छः भेद बताये गये हैं—[4]

१. ध्यानयोग, २. नादयोग, ३. रसानन्दयोग, ४. लयसिद्धियोग, ५. भक्ति-योग, ६. राजयोग। इनमें शाम्भवी, खेचरी, भ्रामरी तथा योनि मुद्राओं का साहाय्य अपरिहार्य है।

(१) शाम्भवी मुद्रा के द्वारा आत्मप्रत्यक्ष की अनुभूति करके बिन्दु ब्रह्म में मन का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद महाकाश में आत्मा का तथा आत्मा में महाकाश का लय करे तथा आत्मा को महाकाशमय देखकर सदानन्द होकर साधक को समाधिस्थ होना चाहिए। यह ध्यानयोग है।[5]

(२) नादयोग—खेचरी मुद्रा के द्वारा नादयोग सम्पन्न होता है। इसमें जिह्वा को ऊर्ध्वगत तालुमूल में (इतनी लम्बी पीछे की ओर करें जिससे वह भ्रूमध्य तक अन्दर ही अन्दर चली जाय) करके नाद की साधना की जाती है।[6] नाद का प्रादु-र्भाव हृत्पद्म से माना जाता है। वायु के द्वारा शब्द ब्रह्म का आभासन होता है। यह एक विशेष प्रकार का स्पन्द है जो यहाँ मध्यमा वाक् के नाम से जानी जाती है। योगीजन विभिन्न बन्धों और मुद्राओं के माध्यम से सूक्ष्म शब्द को सुनते हैं।

---

१. घेरण्डसंहिता, ६/२१।
२. वही, ७/१।
३. वही, ७/४।
४. वही, ७/५-६।
५. वही, ७/७-८।
६. वही, ७/९।

प्राण और अपान मिलकर नाद से एकीभूत होते हैं और फिर बिन्दु में मिलने के लिए ऊर्ध्वगामी होते हैं। सर्वप्रथम योगी मुक्तासनस्थ होकर शाम्भवी मुद्रा के द्वारा दक्षिण कर्ण में ध्वनि का श्रवण करता है। इसके बाद सन्मुखी मुद्रा के द्वारा इन्द्रिय द्वारों को बन्द करके तथा प्राणायाम के बाद सुषुम्णा में नाद का श्रवण होता है। इस योग की चार अवस्थायें हैं—

(१) जब मूलाधार में ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हो जाता है तब हृदयाकाश में आभूषणों की मधुर झनकार सुनाई पड़ती है।

(२) जब हृत्पद्म में विष्णुग्रन्थि का भेदन प्राण और नाद के संयोग के द्वारा किया जाता है तब कण्ठस्थान के अतिशून्य (आकाश) में भेरी सदृश ध्वनि सुनाई पड़ती है।

३. तृतीय अवस्था में सिद्धि स्थान आज्ञा चक्र के महाशून्य में मर्दलसदृश ध्वनि सुनाई पड़ती है।

४. इसके बाद प्राण रुद्रग्रन्थि (आज्ञा चक्र) का दवाव डालकर ईश्वर पद (ब्रह्मरन्ध्र) की ओर प्रयाण करता है। इससे निष्पत्ति अवस्था में ध्वनि तीव्र रहती है और शनैः शनैः सूक्ष्म होता चली जाती है। इस समय मन वाह्य प्रपञ्च से विनल हुआ रहता है। अब मन नाद से एकीभूत होकर समस्त वृत्तियों से रहित हो जाता है। योगी एक निपुण धनुर्धारी के समान वायु को सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर अन्तःकरण के अस्तित्त्व को समाप्त कर देता है। चित् का अस्तित्त्व नाद में रहता है। चित् के नाद से एकीभूत होने पर देदीप्यमान चैतन्य की उपलब्धि की जाती है। अधिक से अधिक नाद-श्रवण से साधक आत्मशक्ति से सुयुक्त रहता है। लय अवस्था में नाद समाप्त हो जाता है।[1]

नाद के कई प्रकार हैं जिनका सङ्केत घेरण्डसंहिता में किया गया है—

श्रृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्।
प्रथमं झिञ्जीनादं च वंशीनादं ततः परम्॥
मेघझर्झरभ्रमरीघण्टाकांस्यं ततः परम्।
तुरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुन्दुभिः॥[2]

(ग) कायवश्य

साधना की उत्कृष्ट भूमि में प्रवेश करने पर मूलाधार और स्वाधिष्ठान

---

१. दि सर्पेन्ट पावर, पृ० २२०-२२२।
२. घेरण्डसंहिता, ५/७८-७९।

चक्रों के भेदन के अभ्यास के बाद मणिपुर चक्र की साधना सम्पन्न की जाती है। इस चक्र की साधना के परिपक्व होने पर साधक में काया को वश में करने की सामर्थ्य आ जाती है। नाभिमूल में इस चक्र की अवस्थिति बतलायी गयी है। यह चक्र परमानन्द का सागर स्वरूप है, सैंकड़ों विद्युत् प्रकाश से युक्त मेघ के समान नीलवर्ण के पद्म से युक्त है। इस चक्र के बाद "भ" से लेकर "क" वर्ण तथा समस्त स्वरों से युक्त अन्य चक्र विद्यमान हैं। इस चक्र में अग्नि का त्रिकोण मण्डल अवस्थित है, जहाँ पर प्रभातकालीन सूर्य के समान शिखाकार तेजोमय रूपातीत गुणों से युक्त अग्नि बीज (रं) विद्यमान है।[1] यह अग्नि बीज मेष नामक वाहन के पृष्ठ पर आरूढ़ हैं, यह अरुणिमा आकृति वाला है। चार भुजाओं वाला है, तीन नेत्र और मनोहर शरीर वाला है। इसकी गोद में सिन्दूर के समान अरुणिम शरीर वाले, वृद्धरूपी, त्रिनेत्र वाले, सृष्टि और संहार करने वाले, भस्म से भूषित अङ्ग वाले, प्राणियों के अभीष्ट को प्रदान करने वाले व्यापक, रुद्रेश विराजमान है।[2] रुद्र के वाम पार्श्व की ओर देवी लाकिनी विराजमान है, जो चार भुजाओं वाली, तीन नेत्र वाली, सुख प्रदान करने वाली, श्यामाङ्गी, पीताम्बरा, विचित्र अलङ्कारों से विभूषित, सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वपालिका तथा कुलकालिका स्वरूप है।[3] इस प्रकार की देवी का ध्यान करना चाहिये और यह याचना करनी चाहिये कि देवी रक्षा करें। इस प्रकार मणिपुर चक्र में स्थित बीजमन्त्र दलों के वर्ण देवता रुद्र तथा देवी लाकिनी का ध्यान, पूजन, जप, स्तव तथा योग आदि के द्वारा सम्पन्न करना चाहिये। उक्त साधना के अभ्यास से साधक सिद्ध हो जाता है। इस चक्र की साधना का फल कोटिशतवर्ष तक भी वर्णन नहीं किया जा सकता।[4] इस चक्र की साधना की पराकाष्ठा के बाद प्राण और मन नियन्त्रित हो जाता है। साधक सृष्टि और संहार की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है तथा साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव तुल्य हो जाता है।[5] इससे साधक अपनी काया को वश में करने वाला माना जाता है।

(घ) आसव शुद्धि

अमरा पञ्चक साधन के अन्तर्गत जिन द्रव्यों (दूर्वा, विजया, विल्वपत्रा,

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ५६/२-५। तुलनीय—षट्चक्रनिरूपणम्, ३/१०।
२. वही, ५६/७-६। तुलनीय—वही, ३/२०।
३. वही, ५६/६-११। तुलनीय—वही, ३/२१।
४. वही, ५६/११-१३।
५. षट्चक्र निरूपणम्, ३/२१ की श्री शङ्कर कृत।

निर्गुण्डी, कृष्णा, तुलसी) के भक्षण का विधान है, उनके परिमाण का भी निर्देश किया गया है। यह आवश्यक है कि उस परिणाम का शोधन किया जाय। वैसे तो प्रत्येक द्रव्य के भक्षण के अलग-अलग मन्त्रों का निर्देश किया जा चुका है, तथापि यह भी सम्भव है कि सभी द्रव्यों का एक ही मन्त्र से शोधन कर दिया जाय और तब उन सबका भक्षण किया जाय। मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ ॐ श्रीं श्रीं अमृतामुखी मरणं हारय हारय योगसिद्धि देहि देहि स्वाहा।[1]

उक्त मन्त्र के द्वारा द्रव्यों को अभिमन्त्रित करके उनका भक्षण करना चाहिये। आसव की शुद्धि के लिये अन्य मन्त्र भी विहित हैं।

क्लीं क्लीं क्लीं क्रीं क्रीं क्रीं सर्वयोगं साधय साधय अमृतत्वं मयि समर्पय समर्पय शं विराटपीठवासिनी (स्वाहा)।[2]

द्रव्यों के शोधन के भक्षण तथा उसके वाद "आसवशुद्धि स्तोत्र"[3] का पाठ करना चाहिये। इस स्तोत्र का पाठ त्रैलोक्यमंगलरूप, महाविद्या फलप्रद, कल्पद्रुम फलवाला, मोक्षदाता, ज्ञानकर्ता तथा सिद्धिदायक है। साधक को सम्मान राज-लक्ष्मी, धन, अति धैर्य, हस्ती, सुन्दर-धीर पुत्र, सुख, विजय, राजराजेश्वरत्व, दिव्यवाहन आदि प्राप्त होता है। इस स्तोत्र के पाठ करने से अत्यन्त दुःख का हनन, लोक में गुरुत्व, देवताओं की भक्ति, दिव्यभाव, महासुख, आयुवृद्धि, भय-रहितता, लोकवश्य, पूर्णकोष, गोधन, देवताओं का वाक्य श्रवण, दीर्घदृष्टि, धर्म-प्रियत्व, धर्मज्ञान, विवेक, श्रावणी की कथा, उत्तमयोग की अवस्था आदि की प्राप्ति साधक को होती है। यथासम्भव अधिक से अधिक एकान्त स्थान में निवास करना चाहिये। साधक को सभी कामनाओं से रहित तथा एकान्त में देवता का सेवक होना चाहिये। साधक को खेचरत्व, सर्वगति, भावसिद्धि, अष्टाङ्गविभूति, दृढ़ज्ञान कवित्वशक्ति, द्वैतशून्यैकभाव, महापद में भक्ति, विद्यापतित्व, शान्ति आदि की उपलब्धि होती है।[4] साधक "आसवशुद्धि स्तोत्र" तीन बार, दो बार या एक बार करें। इस स्तोत्र का १०८ बार पाठ करना "पुरश्चरण" कहलाता है। इसके पाठ से विशुद्ध चक्र से लेकर महापद्म (सहस्रार) तक भेदन हो जाता है। साधक चतुर्वर्ग की प्राप्ति करने वाला होता है। इस स्तोत्र का पाठ करने से पृथिवी पर किस कार्य की सिद्धि नहीं होती। योगसाधन के आदि, मध्य तथा

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ५२/१३२-१३५।
२. वही, ५२/१३७-१३८।
३. वही, ५२/१३९-१८५।
४. वही, ५२/१८६-१९८।

अन्त में स्तोत्र का पाठ करना चाहिये। इस स्तोत्र के लिखने का भी विधान शास्त्र में बताया गया है। इसके लिये निश्चित नक्षत्र तथा वार का निर्देश भी किया गया है। कृत्तिका, रोहिणी, आर्द्रा में मिथुन लग्न तथा भरणी में मेष लग्न के अवसर पर मंगलवार के दिन पाठ करना चाहिये। किसी भी संक्रान्ति में शनिवार के दिन तथा पुर्नवसु में मंगलवार के दिन सन्ध्या के समय स्तोत्र का पाठ करना चाहिये। ध्यातव्य है कि स्तोत्र का जितनी संख्या में पाठ किया जाय, उसके दशांश में हवन भी करना चाहिये।[1]

पञ्चाशव विधान :—

दूर्वा, विल्वपत्र, विजयापत्र, कृष्णा तुलसी तथा निर्गुण्डी आदि पञ्च द्रव्यों का सेवन "पञ्चासव" विधान के अन्तर्गत है। नेती, धौती आदि पञ्च स्वरायोग की साधना का सिद्धि के लिये अमरापञ्चक की साधना (दूर्वा, विल्वपत्र, विजया, निर्गुण्डी तथा कृष्णा तुलसी) वहुत अधिक सहायता करती है। नेती आदि की साधना की पुष्टि उक्त पञ्च औषधि के सेवन करने से होती है। पञ्च अमरा के प्रकृत नाम भी हैं—१. दूर्वा-लता-अमरा ग्रन्थि, २. विल्वपत्रिका-अमरी, ३. विजया-अमरा, ४. निर्गुण्डी-वासवेश्वरी तथा कृष्ण तुलसी-अमरा। अमरा-पञ्चक साधन में पञ्च द्रव्यों के परिमाण के अनुपात का भी विधान शास्त्र में विहित है। इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना चाहिये कि दूर्वा, विल्वपत्र, निर्गुण्डी तथा कृष्णा तुलसी की मात्रा एक तोला हो तथा विजया की मात्रा ५ तोला होनी चाहिये।[2]

पञ्चासवशोधन :—

दूर्वा, विजया, विल्वपत्रा, निर्गुण्डी तथा कृष्णातुलसी आदि पञ्च द्रव्यों का शोधन "पञ्चासवशोधन" कहा जाता है। षट्चक्र भेदन की सिद्धि भी पञ्चासव-शोधन से हो सकती है। दूर्वा संज्ञा को प्राप्त करने वाली अमरा ब्रह्मज्ञान की साधिका तथा ब्रह्मानन्दप्रकाशिनी है। दूसरा द्रव्य निर्गुण्डी है जो सर्वसिद्धि प्रदा-यिनी होने के कारण "सिद्धाअमरा" कहलाती है। कृष्णातुलसी को "नीलाअमरा" कहते हैं। विजया पत्र तथा विल्वपत्रिका को भी "अमरा" कहते हैं।[3] प्रत्येक द्रव्य के शोधन के मन्त्रों का निर्देश किया जा चुका है। सम्प्रति शोधित द्रव्यों के भक्षण हेतु जिस मन्त्र का उच्चारण विहित है, वह इस प्रकार है—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ५२/१९९-२०९।

२. वही, ५१/२८-३५।

३. वही, ५५/२-७।

ॐ ॐ ॐ कपिले ! ज्ञानसाधिनि ! समयोगं साधय साधय ! शाखाप्रशाखा-सम्पूर्णे ! महौषधिनिवासिनि ! मामेकममरं कुरु कुरु स्वाहा ।[1]

मयि समर्पय समर्पय स्वाहा ।[2]

अमरा शोधन :—

निर्गुण्डी के सेवन के लिये यह विधान किया गया है कि उसके पत्र या जड़ का भक्षण किया जाना चाहिये। यदि पत्र न हो तो उसकी जड़ और यदि जड़ न हो तो पत्र का सेवन करना चाहिये। किसी भी शुभ दिन निर्गुण्डी को ले आना चाहिये। वैसे कौलिकों के लिये कोई नियम नहीं है। कुलाचार में यह निर्दिष्ट है कि योग से ही भोग की प्राप्ति होती है। भोग ही परम ज्ञान है। निर्गुण्डि-शोधन का एक मन्त्र इस प्रकार है—[3]

ॐ निर्गुण्डि महामाये ! मसासत्त्वनिवासिनि ! आयुरारोग्यजननि ! ब्रह्म-शब्दनिवासिनि ! मदीयं सकलं कार्यं गुह्यं कुरु कुरु नं नं धौं धौं ह्लीं ह्लीं ह्लीं क्रीं क्रीं क्रीं वज्रकायं देहि देहि वह्निसुन्दरि ! (स्वाहा) ।

उक्त मन्त्र से निर्गुण्डी संशोधन तथा भक्षण करने वाला साधक अति शीघ्र अमर हो जाता है। तुलसी-शोधन का मन्त्र इस प्रकार है—[4]

ॐ वैष्णवि ! देवि ! सत्त्वज्ञाननिवासिनि ! क्लीं क्लीं क्लीं मां रक्ष रक्ष स्वाहा ।

विजया शोधन :—

सभी वर्णों को चाहिये कि वे विजया का सेवन मन्त्र से संशोधित करके करें। विजय शोधन के लिये तीन प्रकार के मन्त्रों का निर्देश शास्त्र में किया गया है—[5]

१. ॐ क्रीं श्रीं क्लीं ह्लीं ह्लीं विजये ! ज्ञानसुन्दरि ! भोगयोगमोक्षप्रदे ! कायशोधनि ! पावनि ! मम कायसिद्धि देहि देहि स्वाहा ।

२. ॐ अमृतेऽमृतभवे ! अमृतवर्षिणि ! अमृतं आकर्षय आकर्षय सिद्धि देहि अनलप्रिये (स्वाहा) ।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ५५/८-९ ।
२. वही, ५१/४१-४२ ।
३. वही, ५५/२६-२९ ।
४. वही, ५५/३२-३३ ।
५. वही, ५१/४९-५३ ।

३. ॐ ह्रीममृते ! अमृतोद्भवे ! अमृतवर्षिणि ! अमृतमाकर्षयाकर्षय सिद्धिं देहि कालिकां मे वशमानय स्वाहा ।[1]

विजय का जो परिमाण विहित है उससे अधिक सेवन नहीं करना चाहिये। भोजन के समान विजया का सेवन करके पय-पान करना चाहिये। विजया की मात्रा पाँच तोला होनी चाहिये। दुग्ध पान का भी विधान है। अर्द्ध तोला मिर्च को मन्त्र से संशोधित करके उसका भक्षण करके तब पय के शोधन तथा पान का विधान है। मरीच (मिर्च) शोधन का मन्त्र इस प्रकार है—[2]

ॐ क्लीं लं लं लं घोरघोरतरे ! मरीचकुलसुन्दरि ! लीना त्वं भव देहे मे न वीरं शोधय शोधय स्वाहा ।

मरीच-शोधन तथा भक्षण के बाद दुग्ध-शोधन करके उसका पान करना चाहिये। मिर्च-भक्षण के बाद दुग्ध-सेवन का फल महान् बताया गया है। मिर्च की चर्वणा करके दुग्ध पान अत्यधिक बलवर्द्धक माना जाता है। दुग्ध-शोधन का मन्त्र इस प्रकार है—[3]

ॐ क्लीं क्रीं हुं कृष्णगोरसवासिनी योगविग्रहं मम कामप्रसाधिनी योगसिद्धि-नागीश्वरी क्षेत्रवासिनी शरीरं वशं चालय चालय विघ्नान् वारय वारय स्वाहा ।

(ङ) पञ्चस्वरादियोग

कुण्डलिनी-जागरण की साधना के पूर्व शरीर के शोधन के लिये धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति आदि षट्कर्मों का अभ्यास अपरिहार्य माना गया है। योगशास्त्र के ग्रन्थों में षट्कर्मों का विस्तृत विवेचन किया गया है।[4] "पञ्चस्वरायोग" के अन्तर्गत त्राटक को छोड़कर शेष पाँच कर्मों को स्वीकार किया गया है। नेति, दन्ति, धौति, नेउली (नौलि या लौलिकी) तथा नाड़ी-क्षालन आदि पाँच कर्म विवेच्य ग्रन्थ में वर्णित हैं।[5] योग साधना में काया के अन्दर नाना प्रकार के मल, विघ्न का कार्य करते हैं। इसलिये शोधन के द्वारा शरीर का अन्तर्जगत् शुद्ध किया जाता है। शास्त्र में योग के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की चर्चा की जाती है, किन्तु यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन निषिद्ध कहा गया है।[6] कुण्डलिनी-साधना के अन्तर्गत सर्वप्रथम पञ्चस्वरायोग का अभ्यास

---

१. महानिर्वाणतन्त्र, ५/८३-८४ ।
२. वही, ५१/५९-६० ।
३. वही, ५१/६२-६३ ।
४. घेरण्डसंहिता, १/१२-६१ ।
५. रुद्रयामल उ० त०, ३४×१४-१६, ५४/१३-१५ ।
६. वही, ३४/७ ।

करके महाशक्ति कुण्डलिनी देवी के एक हजार आठ नाम वाले स्तव (अष्टोत्तर सहस्रनाम) का पाठ करना चाहिये ।[1] छः माह तक इस प्रकार का अभ्यास करने वाला साधक महायोगी होता है। "पञ्चस्वरायोग" की साधना के बाद अष्टाङ्ग-योग की साधना का क्रम आता है।[2] यथासम्भव और यथा प्राप्त पञ्चस्वरायोग के भेद-प्रभेद की चर्चा हम यहाँ करेंगे।

नेतियोग को महाकफ विनाशक,, दन्तियोग को हृदय-ग्रन्थि-भेदक, धौति-योग कों सर्वंमल विनाशक, नेउलीयोग को सर्वंउदरचालक तथा क्षालनयोग को समस्त नाड़ियों का शोंधक कहा गया है। यमी को यम-नियम के साथ पञ्चस्वरा-योग की पाँच क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिये। देवताओं को अमरत्व प्रदान करने वाली यही साधना है। इन क्रियाओं के अभ्यास-काल में पञ्च "अमरा" के सेवन का विधान है, जिसके बिना कोटिशतकल्प तक सिद्धि नहीं प्राप्त हों सकती। दूर्वा, विजया, बिल्वपत्र, निर्गुण्डी (मेउडी) तथा कृष्णातुलसी को "अमरा" कहा गया है। प्रत्येक द्रव्य के सेवन में मन्त्र-पाठ का विधान है। विजया-सेवन के समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की कन्याओं की पूजा का भी विधान है।[3]

१. दूर्वाग्रहण का मन्त्र :—

ॐ त्वं दूर्वेऽमरपूज्ये ! त्वं अमृतोद्भवसंभवे !
अमरं मां सदा भद्रे ! कुरुष्व नृहरिप्रिये !
ॐ दूर्वायै नमः स्वाहा।

२. विजयासेवन मन्त्र :— (चतुर्कन्यकापूजन)

ब्राह्मण कन्या—
ॐ संविदे ब्रह्मसम्भूते ब्रह्मपुत्रि ! सदाऽनघे !
भैरवाणाञ्च तृप्त्यर्थे पवित्राभव सर्वदा।
ॐ ब्राह्मण्यै नमः स्वाहा।

क्षत्रिय कन्या—
ॐ सिद्धि मूलकरे देवि ! हीनबोधप्रबोधिनि !
राजपुत्रीव शङ्करि ! शत्रुकण्ठत्रिशूलिनि !
ऐं क्षत्रियायै नमः स्वाहा।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३४/८,३७/६-१९० ।
२. वही, ३४/१४ (पूर्वार्द्ध)।
३. वही, ३४/१४-२५।

वैश्य कन्या—

ॐ अज्ञानेन्धनदीप्ताग्ने ! ज्ञानाग्निज्वलरूपिणि !
आनन्दज्ञानकारणे ! सम्यक्ज्ञानं प्रयच्छ मे ।
ह्रीं वैश्यायै नमः स्वाहा ।

शूद्र कन्या—

ॐ नमस्यासि नमस्यासि योगमार्गप्रदर्शिनि !
त्रैलोक्यविजये ! मातः ! समाधिफलदा भव ।
श्रीं शूद्रायै नमः स्वाहा ।

३. बिल्वपत्र सेवन-मन्त्र :—

ॐ कार्यसिद्धिकरि ! देवि ! बिल्वपत्रनिवासिनि !
अमरत्वं सदा देहि शिवतुल्यं कुरुष्व माम् ।
ॐ शिवदायै नमः स्वाहा ।

४. निर्गुण्डि-सेवन मन्त्र :—

ॐ निर्गुण्डि परमानन्दे ! योगानाम् अधिदेवते !
मां मां रक्ष तु अमरे ! भावसिद्धिप्रदे ! नमः !
ॐ शोकापहायै नमः स्वाहा ।

५. कृष्णा तुलसी-सेवन मन्त्र :—

ॐ विष्णोः प्रिये महामाये ! कालजालविधारिणी !
तुलसि ! मां सदा मामेकममरं कुरु ।
ॐ ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं अमरायै नमः स्वाहा ।

इसके वाद सभी द्रव्यों का एक साथ निम्नलिखित मन्त्र द्वारा शोधन करना चाहिये—

ॐ अमृतोद्भवेऽमृतवर्षिणि ! अमृतमाकर्षय आकर्षय । सिद्धिं देहि स्वाहा ।[1]

तत्पश्चात् धेनुमुद्रा, योनिमुद्रा, मत्स्यमुद्रा, तत्त्वमुद्रा का प्रदर्शन करके तर्पण करना चाहिये । यह तर्पण गुरु के नाम के द्वारा सात बार बिना किसी मन्त्र के शिव के प्रति किया जाना चाहिये । इसके बाद इष्ट देवी के नाम के द्वारा सात बार तर्पण करना चाहिये । देवी के नाम के द्वारा तर्पण करते समय इष्ट मन्त्र के साथ "ॐ परदेवता तर्पयामि नमो नमः" इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये । अन्त में उत्तम साधक को निम्नलिखित मन्त्र का जाप करना चाहिये ।[2]

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३४/२६-३६ ।
२. वही, ३४/३७-४१ ।

ॐ ऐं वद वद वाग्वादिनि मम जिह्वाग्रे स्थिरी भव सर्वस्वरवशङ्करि ! शत्रुकण्ठत्रिशूलिनि ! स्वाहा !

(च) अमरापञ्चक साधन

नेति, धौति, नौलि, दन्ति तथा क्षालन आदि पञ्चक्रियाओं की साधन पद्धति को "अमरापञ्चक साधन" कहते हैं। शरीर के शोधन का यह उत्तम योग साधन है। इन पञ्चकर्मों के अभ्यासकाल की पृष्ठ भूमि में कुछ नियमों का आचरण आवश्यक है। ब्राह्म मुहूर्त में उठकर अपने सहस्रार में गुरु के चरणकमल का ध्यान करना चाहिये। इसके बाद गुरुरूपा सरस्वती का चिन्तन करना चाहिये। तत्पश्चात् परानन्द रसिक योगी को अपने इष्ट देवता को सिर से प्रणाम करके नित्य शौच-कार्य सम्पन्न करना चाहिये। शौच-कार्य के लिये एक घट परिमाण का जल तथा एक प्रस्थ लगभग (एक पाव) मृत्तिका को साथ ले जाने का विधान है। सत्रह बार कुन्थन (उदर का मन्थन) तथा बार-बार वर्च (मल) का त्याग करना चाहिये। शौच के बाद बाँये हाथ की तर्जनी से गुदारन्ध्र में तेल का बार-बार समायोजन करके क्षालन (स्वच्छ) क्रिया करनी चाहिये। पूर्ण रूपेण मलक्षल के लिये गुदा-द्वार को मिट्टी और जल से प्रक्षालित करके उदर का शोधन करना चाहिये। मल त्याग के बाद जब सुख की अनुभूति होने लगे, तब उठकर मृत्तिका से हस्त आदि को स्वच्छ करना चाहिये। अन्त में दोनों पाद प्रक्षालित करके "अमरापञ्चक साधन" को सम्पन्न करने के लिये तत्पर होना चाहिये।[1]

१. नेतियोग

सूक्ष्म वस्त्र से निकाले गये तन्तु-समूह को बटकर अथवा सूक्ष्म वस्त्र को ही बटकर दृढ़ कर लेना चाहिये। उसे नासिका के स्वरगामी छिद्र में डाल कर शनैः शनैः जिह्वामूल में ले जाना चाहिये और वहाँ से मुख से बाहर की ओर धीरे-धीरे घर्षण करना चाहिये। यह क्रिया बारह बार की जानी चाहिये। नेतियोग को निम्नलिखित मन्त्र के द्वारा सम्पन्न करना चाहिये—

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं क्लीं क्लीं क्लीं श्रीं श्रीं श्रीं योगिन्यै नमः।[2]

इसके बाद शिर-शुद्धि के बाद कर-शोधन, वक्ष-शोधन तथा नाभि-शोधन करना चाहिये।[3] नेति योग के द्वारा नासारन्ध्र निर्मल होता है तथा प्राणायाम के

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ५४/२१-२८।
२. वही, ५४/२९-३४।
३. वही, ५४/२९-३४।

समय वायुगमन में महासुख की प्राप्ति होती है।[१] नेति-क्रिया के लिये ग्रथित सूक्ष्म सूत्र का प्रयोग किया जाता है, उसकी नाप एक वितस्ति (वीता) होनी चाहिये।[२] कहीं-कहीं यह नाप एक हाथ तक बतायी गई है।[३] नेतियोग के अभ्यास से खेचरी-सिद्धि (आकाश गमन की सिद्धि), कफ-दोष का विनाश तथा दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है। इससे कपाल का शोधन होता है तथा स्कन्ध सन्धि भाग के ऊपर सभी रोग शीघ्र दूर हो जाते हैं।[३]

२. दन्ति योग

दन्त धावन के समय यह योग सम्पन्न किया जाता है। किसी तरु (छितुइन आदि) से अर्द्ध-हस्त मान पर्यन्त न बहुत स्थूल और न बहुत सूक्ष्म कोमल, नवीन, अपरिपक्व, मृणाल सदृश दन्त धावन काष्ठ का ग्रहण करना चाहिये। उस दन्त काष्ठ का कनिष्ठाङ्गुलि नाप के भाग को दन्तावलि से सुन्दर चर्वित कर लेना चाहिये। इसके बाद उस चर्वित भाग को जल से धोकर स्वच्छ कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् शनैः शनैः उसे निगलना चाहिये। धीरे-धीरे प्रतिदिन तब तक उस दन्त धावन काष्ठ को अन्दर ले जाते रहना चाहिये जब तक समूचा नाभिमूल तक न पहुँच जाय अथवा हृदयस्थ जल चक्र का आलोडन न हो जाय। इस अभ्यास से हृयदस्थित कफ-भाण्ड का विखण्डन हो जाता है और वायु के गमनागमन में सौविध्य होता है। इस योग के द्वारा खेचरत्व की सिद्धि होती है।[५]

पथ्यापथ्य :—

दन्ति योग के साधक को षड्रस (मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त और लवण) प्रधान भोजन का परित्याग कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त मिष्ठान्न, शाक-दधि मिश्रित अन्न और रात्रि में दो बार भोजन का वर्जन कर देना चाहिये। वन मूंगी एक भाग और दो भाग चावल को अच्छी तरह पकाकर घी और दूध के साथ भक्षण करना चाहिये अथवा कुलरूपा कुण्डलिनी का दुग्ध से तर्पण करना चाहिये। कुण्डलिनी तर्पण को जानने वाला अनायास ही योगी तथा ज्ञानीन्द्र हो जाता है।[६]

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३४/४५।
२. घेरण्डसंहिता, १/५२ तथा हठयोग प्रदीपिका, २/२९।
३. बहिरङ्गयोग, पृ० ३३५।
४. घेरण्डसंहिता, १/५२ तथा हठयोग प्रदीपिका, २/३०।
५. रुद्रयामल उ० त०, ३४/४७-५४।
६. वही, ३४/५४-५८।

एक अन्य स्थान पर दन्त काष्ठ का मान गजपर्यन्त बताया गया है।[1] कण्ठ-रन्ध्र से दन्त काष्ठ को निविष्ट करके धीरे-धीरे नाभिस्थान तक ले जाना चाहिये। यह अभ्यास प्रतिदिन प्रातः करना चाहिये।[2]

३. नेउली (नौति या लौलिकी) योग

इस योग में उदरस्थ स्नायु जाल को एक साथ संगठित कर उसे घूर्णायमान किया जाता है। यह क्रिया वाम भाग से दक्षिण भाग की ओर और दक्षिण भाग से वाम भाग की ओर की जाती है।[3] उदर को घुमाने की क्रिया अमन्द आवर्त के वेग से होनी चाहिये।[4] यह योग निम्नलिखित मन्त्र के द्वारा सम्पन्न करना चाहिये—

सं सं सं क्रीं क्रीं क्रीं देवि ॐ ॐ गात्रस्थायै नमः स्वाहा।[5]

यह योग सभी रोगों को नष्ट करने वाला देहस्थ अग्नि को बढ़ाने वाला अर्थात् अन्न को पचाने वाला तथा वायु दोष को नष्ट करने वाला है।[6] साधक इस योग से चिरजीवी होता है। इस योग की साधना करके खेचरत्व की प्राप्ति करता है। पकाया हुआ वनमूँगी से मिश्रित अन्न को पकाकर एक बार सेवन करना चाहिये। इस क्रिया में कुम्भकार के चक्र के समान उदर का मध्य भाग घुमाना चाहिये। कटि तथा नासिका भाग को स्थिर रखना चाहिये। इस योग का अभ्यासी कुण्डलिनी जागरण में सफल होता है।[7]

इस योग हेतु शरीर की विशेष अवस्था ध्यातव्य है। एक हाथ की चौड़ाई में दोनों पैरों को भूमि पर रखकर (खड़े होकर) थोड़ा झुककर, दोनों हथेलियों को दोनों घुटनों पर रखकर रेचक करते हुये उड्डीयान बन्ध करे तथा अपान वायु को नाभि के सामने खींच-खींच कर लें आकर अतड़ियों को खड़ी करके बायें-दायें घुमाने का प्रयत्न करे। इस समय रेचक करके बाह्य कुम्भक की अवस्था अवश्य रखनी चाहिये। इस अवस्था के बिना नौलि क्रिया सम्भव नहीं हो सकती है।[8]

---

१. रुद्रयामल उ०त०, ५४/५७।
२. वही, ५४/५०।
३. वही, ५४/४३।
४. हठयोग प्रदीपिका, २/३३ तथा घेरण्डसंहिता, १/५२।
५. रुद्रयामल उ०त०, ५४/४५-४६।
६. हठयोग प्रदीपिका २/३४ तथा घेरण्डसंहिता, १/५३।
७. रुद्रयामल उ०त०, ३५/२२-२८।
८. बहिरङ्गयोग, पृ० ३३८।

४. धौति

बत्तीस कुम्भ (मूठा) मान वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्त्र की एक पट्टी बना लेनी चाहिये। यह पट्टिका पार्श्व की ओर (चौड़ाई में) आठ अङ्गुल की होनी चाहिये।[1] उत्कट आसन से बैठकर समक्ष उष्ण जल अथवा दुग्ध शर्करा मिश्रित जल में भीगी हुई धौति के एक सिरे को मुख-द्वार से कण्ठ में प्रविष्ट करे तथा दक्षिण हस्त की मध्यमा, कनिष्ठिका अङ्गुलि तथा अंगुष्ठ के सहारे अन्दर प्रेषित करना चाहिये। दुग्धमिश्रित जल को एक-दो घूँट पीकर धौति को ग्रासवत् निगलने का प्रयास करना चाहिये। धीरे-धीरे बहुत ही सावधानी के साथ पूरी धौति को अन्दर ले जाकर नौलि क्रिया करके धौति को पुनः बाहर निकालना चाहिये। यदि धौति कभी कण्ठ में अवरुद्ध हो जाय तो घी आदि को पीकर अन्दर या बाहर किया जा सकता है। जब तक अभ्यास दृढ़ न हो जाय, तब तक यह क्रिया नित्य करनी चाहिये।[2] अभ्यास के प्रारम्भ में वस्त्र की नाप लम्बाई में आठ अङ्गुल और चौड़ाई में चार अङ्गुल होनी चाहिये। धीरे-धीरे धौति की लम्बाई पाँच हाथ हो सकती है।[3] कहीं-कहीं धौति की लम्बाई ३२ अङ्गुल तथा चौड़ाई आठ अङ्गुल बतायी गई है।[4] वृद्ध, युवक, बाल, जड़ सभी इस योग के अभ्यास से दीर्घजीवी, अमर और लोकप्रिय होते हैं। साधक मन्त्र सिद्धि, अष्टसिद्धि, काल-दोष-विनाशक, हृदय-ग्रन्थि-भेदक, महाबली, ज्ञानी, सुन्दर तथा व्यक्त काम और देव विक्रम होता है। इस योग में प्राणायाम और प्रत्याहार का विशेष महत्त्व है।[5] इस योग को सम्पन्न करने में निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण निर्दिष्ट है—

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं क्लीं क्लीं क्लीं श्रीं श्रीं श्रीं महाधौतिनिवासिनि ! मे नाड़ीमलं क्षालय क्षालय।[6]

योगशास्त्र में धौति के चार प्रकार बताये गये हैं—अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृदयधौति और मूल शोधन।

१. अन्तर्धौति :—

अन्तर्धौति भी वातसार, वारिसार, वह्निसार और बहिष्कृत भेद से चार प्रकार की है—

---

१. रुद्रयामल उ०त०, ३५/६-१०।
२. बहिरङ्ग योग, पृ० ३३३।
३. रुद्रयामल उ०त०, ५४/३५-३७।
४. वही, ३५/१०।
५. वही, ३५/१४-२०।
६. वही, ५४/३५-३७।

(१) होठों को काक चञ्चु के समान करके धीरे-धीरे वायु का पान करे और वायु को उदर में परिचालित करे। इसके बाद गुदामार्ग से इस वायु का धीरे-धीरे रेचन करे, यह क्रिया वातसार धौति कहलाती है।[१]

(२) मुख द्वारा कण्ठपर्यन्त जल भरकर शनैःशनैः उदर में उसे चालित करे, इसके बाद उदर से अधोमार्ग द्वारा उस जल का रेचन करे। यह वारिसार धौति है।[२]

(३) मेरुदण्ड में नाभि ग्रन्थि को एक शत बार संयुक्त किया जाय अर्थात् नाभि को पीछे की ओर घुसाकर (सिकोड़कर) पीठ की हड्डी में लगा दिया जाय। इसको अग्निसारधौति कहते हैं।[४]

(४) काकिमुद्रा द्वारा वायु को उदर में भरकर उस वायु को अर्थ प्रहर तक उदर में रखने के बाद अधोमार्ग द्वारा निकाल देना बहिष्कृत धौति कहलाती है।[५]

२. दन्तधौति :—

दन्तधौति भी दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्रद्वय और कपालरन्ध्र भेद से पाँच प्रकार की है—

(१) खादिर (खैर) के रस द्वारा अथवा विशुद्ध मृत्तिका द्वारा जब तक मल दूर न हो जाय तब तक दन्त मूल का मार्जन करना "दन्तमूलधौति" कहलाती है।[६]

(२) तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तीनों अँगुलियों को एकत्र करके गले के भीतर प्रवेश कर जिह्वा मूल का मार्जन करें। शनैः शनैः इस प्रकार के मार्जन करने से कफ दोष नष्ट हो जाता है। इसके बाद पुनः पुनः नवनीत द्वारा जिह्वा मार्जन और दोहन करें। लौह यन्त्र के द्वारा जिह्वा के अग्रभाग का शनैः शनैः कर्षण करे। सूर्योदय और अस्त के समय इस विधि का अभ्यास करने से जिह्वा दीर्घ हो जाती है। यह जिह्वामूल धौति है।[७]

(३-४) तर्जनी और अनामिका अङ्गुलियों के द्वारा दोनों कर्णरन्ध्र का

---

१. रुद्रयामल उ०त०, ५४/३५-४०।
२. घेरण्डसंहिता, १/१४-१५।
३. वही, १/१७।
४. रुद्रयामल उ०त०, १/१९।
५. घेरण्डसंहिता, १/२१-२२।
६. वही, १/२७।
७. वही, १/३०-३१।

मार्जन करना चाहिये। इससे शुद्ध नाद प्रकट होता है।[1]

(५) प्रतिदिन सोकर उठने के बाद, भोजन के अंत में तथा सूर्यास्त के समय कपाल रन्ध्र का मार्जन दाहिने हाथ के अँगूठे के करना चाहिये।[2] यह कपाल रन्ध्र धौति है।

३. हृद्धौति :—

हृदधौति दण्डधौति, वमनधौति और वासधौति भेद से तीन प्रकार की है—

(१) केला के मध्य भाग का दण्ड, हरिद्रा का दण्ड तथा चिकने वेंत का दण्ड बनाकर हृदय के मध्य बार-बार प्रवेश कराके तथा पुनः धीरे-धीरे बाहर निकालने को "दण्डधौति" कहते हैं इससे ऊर्ध्व मार्ग द्वारा कफ, पित्त और क्लेद आदि निकाले जाते हैं तथा इससे हृदय रोग की शान्ति होती है।[3]

(२) भोजन के अन्त में कण्ठ पर्यन्त जल का पान करके कुछ काल तक ऊर्ध्व नयन रहकर वमन द्वारा उस जल को निकाल देना वमनधौति है।[4]

(३) चार अँगुल चौड़े सूक्ष्म वस्त्र को धीरे-धीरे ग्रसे, तत्पश्चात् वस्त्र को शनैः शनैः बाहर निकाले यही वासधौति है। इससे गुल्म रोग, ज्वर रोग, प्लीहा, कुष्ठ, कफ ता पित्त के रोग नष्ट हो जाते हैं।[5]

४. मूल शोधन :—

हरिद्रामूल दण्ड से अथवा मध्यमा द्वारा जल से पुनःपुनः गुह्य स्थान का प्रक्षालन करना चाहिये। यह मूल शोधन है। इससे ओष्ठ की कठिनता, अजार्णता नष्ट हो जाती है। देह में कान्ति और पुष्टि की वृद्धि होती है तथा जठराग्नि भी वृद्धि को प्राप्त होती है।[6]

५. क्षालन

प्रत्येक यौगिक क्रिया करने के पूर्व मन्त्र के पाठ का विधान है। शरीर के अन्दर स्थित नाड़ियों के मल को विनष्ट करने के कारण इसे नाड़ी-क्षालनयोग कहते हैं। इस क्रिया में वायु-पान के द्वारा नाड़ी-क्षालन किया जाता है। इड़ा

---

१. घेरण्डसंहिता, १/३३।
२. वही, १/३४-३५।
३. वही, १/३७-३८।
४. वही, १/३९-४०।
५. वही, १/४१-४२।
६. वही, १/४४-४५।

और पिंगला नाड़ियों के मार्ग का शोधन इस योग के द्वारा सम्पन्न होता है। पूरक और रेचक के साथ तीन दण्ड तक वायु को धारण करने का अभ्यास करना चाहिये। इस अभ्यास के पुष्ट होने पर नाड़ी-क्षालन स्वयमेव हो जाता है।[1] कहीं-कहीं कुम्भक का निषेध किया गया है और यह निर्दिष्ट किया गया है कि विना कुम्भक किये एक नासारन्ध्र से वायु को खींच कर दूसरे से रेचक करना चाहिये। यह क्रिया शीघ्रता से करनी चाहिये। इसे कपालभाति भी कहते हैं।[2] घेरण्ड-संहिता में प्रक्षालन क्रिया के अन्तर्गत नाभि तक जल में खड़े होकर शक्ति नाड़ी (आँत) को बाहर निकाल कर पूर्णरूपेण मल के द्वारा धुल जाने तक हाथ द्वारा उसे प्रक्षालित करने का विधान है। इसके वाद नाड़ी को पुनः उदर में रखे जाने का निर्देश किया गया है।[3] इस योग में मुण्डासन का बहुत ही महत्त्व है। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्व पद्मासन करके नीचे हाथ से जप करने का विधान है। इस योग से साधक जितेन्द्रिय, धीर मानसगामी, बुद्धिमान्, सूर्य तुल्य प्रतापी, शोक दोषाप-हारक, सर्वयोग स्थिर तथा योगीराड् होता है। नौलियोग से तुरन्त नाड़ी-क्षालन की शुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम भी क्षालन क्रिया में मुख्य आधार है। इस योग से देह शुद्धि तथा मल आदि का विनाश होता है।[4] उक्त शक्ति नाड़ी, आँत है, जिसे योगीजन प्रायः उदर से निकाल कर स्वच्छ कर लिया करते हैं, किन्तु यह प्रक्षालन यहाँ पर वर्णित नाड़ी-प्रक्षालन क्रिया से भिन्न है। इस यौगिक क्रिया में प्रयुक्त होने वाला मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ ॐ२ ह्रीं ह्रीं ठं ठं ठं क्लीं क्लीं क्लीं मं मं मं श्रीं क्लीं श्रीं शीतले मलं क्षालय क्षालय स्वाहा।[5]

जब तक सूक्ष्म मल विद्यमान है तब तक मधु-पान करने का विधान बताया गया है। इस यौगिक क्रिया के द्वारा हृदय-ग्रन्थि का छेदन होता है। शरीर की वृद्धि होती है। श्लेष्मा आदि दोष नष्ट होते हैं। शरीर में स्थिरता आती है। साधक का चैतन्य निर्मल हो जाता है। वह अज्ञान से रहित होकर चिदानन्दमय हो जाता है। वह परानन्द रसिक, जीवन मुक्त, स्थिर चेता तथा महायोगी हो जाता है। शास्त्र में उसे महाज्ञानी कहा गया है।[6] यह क्रिया कपालभाति के

---

१. रुद्रयामल उ०त०, ५४, ५७।
२. बहिरङ्गयोग, पृ० ३३६।
३. घेरण्डसंहिता, १/२३-२४।
४. रुद्रायमल उ०त०, ३५/३१-४५।
५. वही, ५४/५३-५४।
६. वही, ५४/६०-६३।

समान है, जो तीन प्रकार की कही गयी है—वातक्रम कपाल भाति, व्युत्क्रम कपाल भाति और शीतक्रम कपाल भाति।[1]

(१) इड़ा (वाम नासा) द्वारा वायु का पूरक करके पिङ्गला (दक्षिण नासा) द्वारा उसका रेचन किया जाय और पुनः दक्षिण नासा द्वारा वायु का पूरक करके वाम नासा द्वारा उसका रेचन करने से वातक्रम कपाल भाति क्रिया होती है। पूरक और रेचक करते समय वेग का प्रयोग नहीं करना चाहिये।[2]

(२) नासा द्वय द्वारा वारि ग्रहण करके मुख द्वारा निर्गत किया जाय और पुनः मुख द्वारा वारि ग्रहण करके नासिका द्वारा बहिर्गत करने से तथा पुनः पुनः ऐसा करते रहने से "व्युत्क्रम कपाल भाति" क्रिया सम्पन्न होती है।[3]

(३) मुख द्वारा शीतकारपूर्वक वायु ग्रहण करके नासिका द्वारा निकाल देने से "शीतक्रम कपाल भाति" क्रिया सम्पन्न होती है।[4]

वस्तियोग

शोधन प्रकरण के अन्तर्गत शरीर के अन्दर के मल विकार को दूर करने के लिये और भी यौगिक क्रियायें शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं, जिनमें वस्तियोग प्रमुख है, जो जलवस्ति, शुष्कवस्ति भेद से दो प्रकार की होती है—[5]

(१) जलवस्ति :—

नाभिपर्यन्त जल में अवस्थित होकर उत्कटासन द्वारा गुह्यदेश का आकुञ्चन और प्रसारण करना "जलवस्ति" है।

(२) शुष्कवस्ति :—

पश्चिमोत्तान आसन द्वारा शनैः शनैः वस्ति को नीचे की ओर चालन करके अश्विनी मुद्रा द्वारा गुह्य स्थान का आकुञ्चन और प्रसारण करे।[6]

—: ० :—

---

१. घेरण्डसंहिता, १/५६।
२. वही, १/५७।
३. वही, १/५९।
४. वही, ५/६०।
५. वही, १/४६।
६. वही, १/४७-४९।

तृतीय पटल

योगसाधना के प्रमुख आयाम

योग की उत्कृष्ट साधना में बहिरङ्गयोग के अभ्यास से नियन्त्रित काया वाला होकर साधक अन्तर्योग की साधना का अभ्यास करता है। अब साधक "योगी" की संज्ञा को प्राप्त करके सामान्य मानव जीवन से भिन्न दिनचर्या का आचरण करने लगता है। उसका भोजन-नियम, जप-नियम, स्नान, तीर्थ, योग-ग्रहण का समय आदि विशिष्ट हो जाता है। उसे योग-भ्रंश के कारणों से बचना चाहिये। इस समय योगी अन्तर्जगत् की साधना में ही लीन रहता है। इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों का सङ्गम ही योगी का "तीर्थ राज" होता है। इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा नाड़ियाँ साधक के लिये गङ्गा, यमुना और सरस्वती हैं।

(क) योग-ग्रहण-काल

सर्वप्रथम पशुभाव में आश्रित साधक को यज्ञोपवीत के समय योग की दीक्षा लेनी चाहिये। जब तक योग की सिद्धि नहीं होती, तब तक साधक वीरभाव में प्रवेश नहीं कर पाता। योग-दीक्षा ग्राहिता को योग साधना से प्रविष्ट होने के लिये सहज ईश्वर-कृपा मुख्य आधार है। ईश्वर की कृपा से उसे सद्बुद्धि मिलती है। शान्ति से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति इस चक्रव्यूह से युक्त देव परमेश्वर कहलाता है। आचार, विनय, विद्या और प्रतिष्ठा से समन्वित योग-साधन की सिद्धि उसी को प्राप्त होती है, जो परमेश्वर के चरणाम्बुज में अपनी मति स्थिर किये रहता है।[१]

(ख) साधक के कर्त्तव्य

देवता, गुरु में साधक की समान भक्ति होनी चाहिये। इस प्रकार की आस्था और निष्ठा से युक्त साधक को एक वर्ष में ही सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। वेद, आगम और पुराणों से सार को जान कर साधक को चाहिये कि वह अपने मन को इष्ट के चरणकमल में स्थापित करे। जो साधक चित्त में, षट्चक्र में और निर्मलयोग में मन को स्थिर करता है, वह योगि बल्लभ होता है। साधक को चाहिये कि पाप कर्मों की ओर से मन की निवृत्ति करके "मनोनिग्रह" करे।[२] साधक के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य यह है कि वह गुरुपद्रिष्ट वाक्यों में विश्वास करे। जीवन्मुक्ति का यह प्रथम सोपान है। यदि साधक गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करता है, तो उसका धर्म, चर्या, दीक्षा, तप, सुकृति आदि व्यर्थ है।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २२/२७-३२।

२. वही, उ० त०, २२/३३-३६।

ब्राह्मण क्षत्रिय को सर्वप्रथम योगादि साधन स्वीकार करके कुल क्रिया की साधना में प्रवेश करना चाहिये। योगियों को कुलाचार से आकस्मात् भक्ति की सिद्धि होती है। कुलाचार से ब्राह्मणों को ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान से योगी की स्थिति तथा योग से अमरत्व की प्राप्ति होती है। योगी और कुलीन साधक को अहर्निशयोग का अभ्यास करना चाहिये।[1]

देवता, गुरु और ईश्वर की पूजा पराभक्ति से करनी चाहिये। इसके साथ ही अतिथि, माता, सिद्ध, पिता तथा योगी की पूजा पराभक्ति से सिद्ध मन्त्र की सिद्धि के लिये करनी चाहिये। योगी द्वारा कहे गये योग, साधन, गुरूपदेश, स्वधर्म, तीर्थ के देवता, कुलाचार, वीरतन्त्र, आत्मा, परमेष्ठी, विधिविद्या और तन्त्रसिद्धार्थ-निर्णय की भावना एकाग्रचित्त से करनी चाहिये।[2]

(ग) साधक के निषिद्ध कार्य

साधक को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि षड्विकारों का नाश करना चाहिये। इसके साथ निद्रा, लज्जा और दौर्मनस्य का परित्याग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त साधक के लिये निम्नलिखित निषिद्ध कार्य हैं—

गोपन :—

साधक को कुल-क्रिया के अन्तर्गत महामन्त्र का संगोपन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त निद्रा, अक्षसूत्र, तन्त्रार्थ, योगिनी और वीर साधक का संगम, भैरवों का अत्याचार, योगिनी-साधन, नाड़ी-ग्रथन, मान आदि का संगोपन माता के उपपति के समान करना चाहिये।[3]

(२) अनिन्दन :—

किसी की मृत्यु होने पर देवता, गुरु, ईश्वर, सुरा, विद्या, महाक्षेत्र, पीठ, योग, साधन, योगिनी, मूर्ख, उन्मत्त, जन्म, कर्म, कुल-प्रिया, धर्मोपदेष्टा, ज्येष्ठ-भ्रातृ-वधू बोद्धाचार योगी तथा शुभ और अशुभ कर्मों की निंद्रा महावीर साधक को नहीं करनी चाहिये।[4]

(३) अनिरीक्षण :—

कभी भी कन्या-योनि का निरीक्षण नहीं करना चाहिये। इसके साथ पशु-

---

१. रुद्रयामल, उ० त० २२/५८-६२।
२. वही, २२/५०-५३।
३. वही, २२/४१-४४।
४. वही, २२/४५-४७।

क्रीड़ा, निर्वस्त्र कामिनी, प्रकटस्तनी, कलह, जुआ, पापकर्म, नपुंसक, विष्ठा, अप्रमत्त का बिना विचारे मारा जाना साधक न देखे। इसके अतिरिक्त दिन में रति-क्रीड़ा नहीं देखनी चाहिये।[1]

(४) वर्जन :—

अगम्य स्थानों पर गमनागमन, धूर्त और वञ्चक की सङ्गति, झूठ और अशुभ प्रलाप, पाप-गोष्ठी, आलस्य, जल्पन, ब्राह्मण के अवेदपरक कर्म का आचरण तथा उसके समक्ष उपस्थिति का परित्याग कर देना चाहिये।[2] सुरा, गोपालन, स्वपाप तथा रिपुभय का भी परित्याग कर देना चाहिये।

(५) अजुगुप्सन :—

गाढ़ा रक्त, मल-मूत्र, माँस, हीनाङ्गी, कपाल हरण करने वाले के प्रति घृणा नहीं करनी चाहिये।[3]

(घ) योगियों का भोजन-नियम

गृह में या वन में भूमि पर सर्वप्रथम जो कुछ विचार युक्त भक्षण करने योग्य हो उसका सेवन करना चाहिये। प्राणायाम और आसन से दृढ़ तथा परमानन्द युक्त योगी को सुखपूर्वक पूरक आदि करने के लिये मिताहारी होना चाहिये।

भक्षण के नियम :—

भक्षण के नियम के आचरण से ही पूरक आदि की सिद्धि होती है। योगी के लिये यह आवश्यक है कि वह अधिकाधिक वायु का पान करके उदर को आपूरित करे। एक कपाल में तीन मुट्ठी के प्रमाण में चावल को पकाकर भक्षण करना चाहिये और अपने इस भक्षण कर्म में भी दिन प्रतिदिन क्षीणता लानी चाहिये। सोऽहम् का दस बार जप करके भोजन की क्षीणता को सम्पन्न करनी चाहिये। जैसे-जैसे भक्षण की क्षीणता का अभ्यास किया जाय, वैसे-वैसे काकचञ्चुमुख द्वारा वायु से उदर को आपूरित करते रहना चाहिये। इसके बाद भक्षण की इच्छा होने पर मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी का संकोच करने का अभ्यास करना चाहिये। मूलाधार को वायु से आपूरित करना चाहिये। भक्षण के स्थान पर वायु का सेवन अधिक से अधिक करना चाहिये। पुनः पुनः वायु के भक्षण से भक्ष्य-सिद्धि अर्थात् भक्षण पर नियन्त्रण की स्थिति प्राप्त हो जाती है और यह सिद्धि पूरक के बिना

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २२/४८-४९।

२. वही, २२/५४-५५।

३. वही, २२/५५-५६।

असम्भव है। इसके अतिरिक्त भक्ष्य-नियन्त्रण का एक अन्य उपाय भी है, जिसके अभ्यास के बिना नाड़ी-चक्र के देवता सिद्ध नहीं होते। विधि यह है—सर्वप्रथम तीन सन्ध्याओं में ३२ ग्रास भोजन करना चाहिये। धीरे-धीरे प्रतिदिन आधा ग्रास भोजन कम करते रहना चाहिये। शेष समय में वायु से उदर को आपूरित करना चाहिये। अनुष्ठान में किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिये। शनैः शनैः यह अभ्यास करते-करते ६४वें दिन पूर्णरूपेण भक्षण की क्षीणता हो जायेगी, तब जितेन्द्रिय और स्थिर चेता साधक को भली भाँति जल का सेवन करना चाहिये। प्रारम्भ में यह अभ्यास तीन-तीन अञ्जलि से सम्पन्न करना चाहिये। धीरे-धीरे साधक प्रमत्त गजेन्द्र के समान प्राणों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेगा। ६ महीने के अभ्यास से पूरक आदि क्रियाएँ सिद्ध हो जाती है। इसके बाद निरन्तर अभ्यास से शनैःशनैः अष्टाङ्गयोग की सिद्धि होती है।[1]

(ङ) योग-भ्रंश-कारण

योग साधन के क्षेत्र में कतिपय विकारों का आ जाना साधना को सफल नहीं होने देता। योगियों को चाहिये कि वह षट् विकारों के हेतु से दूर रहे। समान ससर्ग और आलिंगन आदि से काम भावना की उत्पत्ति होती है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-भ्रंश होता है। स्मृतिभ्रंश से बुद्धि-नाश होता है तथा बुद्धि-नाश से साधक स्वयं नष्ट हो जाता है[2]

(च) योगियों का जप-नियम

सर्वप्रथम योगी बद्धपद्मासन में बैठकर योनिमुद्रा का विधान करे, तत्पश्चात् मनोरम प्राणायाम में काकचञ्चुपुटाकृति मुख से मूलाधार चक्र में वायु को सम्पूरित करते हुये कन्द स्थान में आकुञ्चन के अभ्यास से चित् स्वरूपिणी कुण्डलिनी जागृत होती है। इस समय अधरोष्ठ बन्दकर दातों के ऊपर दातों को प्रगाढ़तापूर्वक रखकर बिना जिह्वा का प्रसारण किये योगी को जप करना चाहिये। इस जप में जिह्वा के द्वारा दातों का स्पर्श नहीं करना चाहिये। इसके बाद साधक वीरासन में स्थित होकर काकचञ्चु मुखाकृति करके जिह्वा को तालु तथा जिह्वामूल स्थान में योजित करना चाहिये। इस प्रकार जिह्वाग्र से अमृत-रस का पान करना चाहिये। इस प्रकार खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने वाला योगी अमरत्व को प्राप्त होता है तथा जीवन्मुक्त हो जाता है। उसे जरा, रोग आदि का भय समाप्त हो जाता है।

---

१. रुद्रयामल उ०त०, २३/५-२१।

२. वही, २२/२४-२५।

अपने किसी इष्ट मन्त्र को अथवा ॐ को १६ स्वरों के सम्पुट के साथ जप करना चाहिये—

अं ॐ अं, आं ॐ आं, इं ॐ इं, ईं ॐ ईं..........।

मुख से मन्त्र का उच्चारण न करके अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये जिह्वा से जाप करना चाहिये। नाभिस्थान में वह्निरूपी सूर्य तथा मस्तक में अमृतरूपी चन्द्रमा की अवस्थिति मानी जाती है। अग्नि शिखा के स्पर्श से चन्द्र मण्डल से झरती हुई अमृत की धारा से सूर्य प्रदीप्त होता रहता है। योगीजन उस अमृत का क्षय नहीं होने देते, अपितु खेचरी मुद्रा द्वारा पूरक के माध्यम से अमृत का पान करते हैं और रेचक के द्वारा वह्नि को प्रज्ज्वलित करते हैं। इस प्रकार मौन जप और सूक्ष्म वायु-गमन का अभ्यास करते हुये सहस्रार में गुरु का ध्यान करके साधक योगी होता है। प्राणवायु को स्थिर करने वाले उर्ध्वरेतस् योगी को मृत्यु और काल का भय कहाँ हो सकता है। जब तक शरीर में सुनिर्मल चन्द्ररूपी विन्दु स्थित है तथा झरती हुई सुधा की धारा से शरीर व्याप्त है, तब तक मृत्यु का भय नहीं होता है।[1]

(छ) योगियों का सूक्ष्म तीर्थ

इह पटल के आरम्भ में इस तथ्य की ओर संकेत किया जा चुका है कि योगी के लिये इड़ा गङ्गारूपा, पिङ्गला यमुनारूपा, इड़ा-पिङ्गला के मध्य सुषुम्णा सरस्वती रूपा है। योगियों का यही "तीर्थराज" है। इस त्रिवेणी में स्नान (ध्यान) करने से सभी पापों का विनाश होता है। इस महातीर्थ में पुनःपुनः मन को एकाग्र करने से वायु रूप महादेव की सिद्धि होती है। चन्द्र-सूर्यात्मिका इड़ा और पिङ्गला के मध्य अग्निरूपा सुषुम्णा के मध्य (वज्रा तथा चित्रिणी के भी मध्य कुण्डलिनी की किरण (प्रभा) का भी ध्यान करना चाहिये। इसके बाद उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से तीन बार प्राणायाम करना चाहिये।[2]

दक्षिणनासापुट को दक्षिण हस्त के अंगुष्ठाग्र से दबा कर वामनासारन्ध्र से पूरक करते हुये प्रणव (ॐ) का १६ बार जप करना चाहिये। तत्पश्चात् दक्षिण हस्त की ही अनामिका तथा कनिष्ठिका अंगुलियों से वाम नासापुट को भी बन्द करके ६४ बार ॐ का जप करते हुये कुम्भक करना चाहिये। अन्त में दक्षिण नासारन्ध्र से (अंगुष्ठ को हटाकर) रेचक करते हुये ३२ बार ॐ का जप करना चाहिये। अब यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार एक बार का प्राणायाम अधम

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २५/८२-८७।

२. वही, २५/४५-४९।

प्राणायाम कहलाता है। उक्त रीति से दो बार किया गया प्राणायाम मध्यम तथा तीन बार किया गया प्राणायाम उत्तम कहलाता है। किन्तु इसकी विधि यह है कि प्रथम बार में वाम नासारन्ध्र से, दूसरी बार दक्षिण नासारन्ध्र से तथा तीसरी बार पुनः वाम नासारन्ध्र से प्राणायाम का प्रारम्भ करना चाहिये। अब यह उत्तम प्राणायाम हुआ।[1]

यह प्राणायाम तीनों सन्ध्याओं में करना चाहिये। इस प्राणायाम के एक माह के अभ्यास से साधक में सल्लक्षणों का विकास होता है तथा ६ मास में साधक पवनाशनी हो जाता है। प्राणायाम के साथ जिह्वाग्र को तालु-मूल में समारोपित करके खेचरी की सिद्धि करनी चाहिये। इस प्रकार की योग-साधना से सर्वस्व की प्राप्ति होती है। इसीलिये सम्पूर्ण जगत् को योगाधीन कहा गया है। योग के बिना कुण्डलिनी-जागरण की सिद्धि भी नहीं प्राप्त हो सकती। योग से ही मोक्ष प्राप्त होता है—यह योगार्थ का निर्णय है।[2]

(ज) मनोमहाप्रलय

कुण्डलिनी-जागरण की साधना में षट्चक्रों का भेदन करने के बाद (महापद्म) सहस्रार में मन के लय की पराकाष्ठा को मनोमहाप्रलय कहते हैं। मनोमहाप्रलय की अवस्था को प्राप्त साधक मुक्त होकर काल को वश में करके तत्त्वदर्शी सर्वविद् और सर्वतोभद्र हो जाता है। "चित्रिणी" नाड़ी के मध्य स्थित कुण्डलिनी को "ब्रह्मनाड़ी" भी कहते हैं, जो सर्वसिद्धिप्रदा, नित्या, सम्पूर्ण कलाओं वाली, व्योम (विभु) रूपा, सर्वचैतन्यरूपिणी तथा भगवतीरूपा है। ब्रह्म एक है तथा उससे अतीत त्रिलोक की कल्पना भ्रमवश की जाती है। जब यह त्रिजगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है, तब महालय की स्थिति होती है। इस महालय में मन को एकाग्र करके साधक सर्वकाल जयी, मृत्युञ्जयी, महावीर, महापति, सर्वव्यापक रूप तथा ईश्वरत्व रूप हो जाता है। वह समदृष्टि वाला, क्षुधा-तृष्णारहित तथा मितभाषित होकर निराकार ब्रह्म में अपने मन को एकाग्र करता है, यही महालय की स्थिति है। ऐसे साधक को किसी प्रकार का महान् संकट नहीं बाधित करता। इसे योगियों का "महाप्रलय" कहते हैं।[3]

(झ) योगधारणा

यहाँ पर योगधारणा के प्रसङ्ग से तात्पर्य है—मूलाधारादि षट्चक्रों की साधना का धारणा करना। इन चक्रों का विस्तृत विवेचन "चक्र-रहस्य" के

---

१. रुद्रयामल उ०त०, २५/५८-६६।

२. वही, २५/६६-७२।

३. वही, २६/३६-४७।

प्रकरण में दृष्टव्य है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्रों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नभ तथा चन्द्र-मण्डल विराजमान है। प्रत्येक चक्र की दल संख्या, वर्ण संख्या, बीज मन्त्र, लोक, शक्ति, देवता, तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ, तत्त्व तथा स्थान भिन्न-भिन्न हैं। मूलाधार में वं शं षं सं—चार बीज मन्त्र चार दलों में विद्यमान हैं। स्वाधिष्ठान चक्र के षड् दलों में बं भं मं यं रं लं—६ बीज मन्त्र हैं। यह कन्दर्प वायु का स्थान है। यहाँ राकिणी के साथ विष्णु स्मरणीय हैं। नाभि-मूल में मणिपूर चक्र है, जिसके दस दलों में डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं—दस वर्ण विराजमान हैं। इस चक्र में लाकिनी के साथ रुद्र का ध्यान करना चाहिये। यह महामोक्ष का पद है। इसके बाद हृदय-स्थान में अनाहत चक्र है, जो १२ दलों वाला है, जिसके दलों में क्रमशः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं १२ वर्ण विद्यमान है। यहाँ काकिनी के साथ ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। इससे ऊपर कण्ठ स्थान में षोडश दल वाले विशुद्ध चक्र की स्थिति है, जो १६ दलों वाला है तथा जिसके दलों में अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः १६ स्वर विराजमान हैं। यहाँ पर शाकिनी के साथ सदाशिव का ध्यान करना चाहिये। इस चक्र की साधना से चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति होती है। यह चक्र धूम्र वर्ण का है, इससे ऊपर भ्रूमध्य में दो दलों वाला आज्ञा चक्र है, जिसके दल में लं और क्षं वर्ण विद्यमान है।[1] किन्तु "षट्चक्रनिरूपणम्" में हं और क्षं वर्णों के विद्यमान होने की बात कही गयी है।[2] यह हंस का स्थान है तथा बिन्दु पद है। यहाँ "मनोलय" की साधना का प्रारम्भ होता है। यह चक्र पुरुष और प्रकृति रूप है तथा कोटि चन्द्र के समान उज्ज्वल है। इस चक्र से ऊपर सहस्रार तक की साधना अति उत्कृष्ट कोटि की है। इस साधना में अनेक उच्च स्तर है। कुण्डलिनी को मूलाधार से जागृत करके सहस्रार तक तथा पुनः सहस्रार से मूलाधार की ओर आरोहावरोह किया जाता है। सूर्य का चन्द्र में तथा चन्द्र का सूर्य में लय किया जाता है। बाह्य चन्द्र तथा सूर्य में मन को विलीन करना साधना की परिपक्वता नहीं है। मन को सूक्ष्म वायु-मार्ग में स्थित चन्द्र-सूर्य में लीन करना "मनोलय" है। यज्ञोपवीत के बाद योगाभ्यास करने का विधान है। योग-मार्ग के पथिक को बाल्य भाव से पुष्ट (स्थित) किये गये बिन्दु (वीर्य) का पात नहीं करना चाहिये अन्यथा मरणशीलत्व की प्राप्ति हो जाती है। कामाग्नि की महापीड़ा से युक्त व्यक्ति बिना योग के कामादि संहार में समर्थ नहीं हो सकता है।[3]

---

१. रुद्रयामल उ०त०, २२/१२।

२. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ३२।

३. वही, २२/२-२३।

(ञ) योगियों का सूक्ष्म स्थान

"कौल" को कुलमत की साधना में प्रवेश करने से पूर्व "कुलस्नान" या "महास्नान" की क्रिया सम्पन्न करनी चाहिये। स्नान के तीन प्रकार हैं—मज्जन, गात्रमार्जन और मन्त्रस्थान। मन्त्रबोध द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला स्नान उत्तम माना जाता है। अनाहत पद्म के विमल तीर्थ अथवा विन्दुतीर्थ (आज्ञाचक्रस्थ) में सर्व जन्म के अघ के विनाश हेतु स्नान (ध्यान) करना चाहिये। शरीर के अन्दर इड़ा-सुषुम्णा रूप ज्ञान—से जल से पूर्ण शिवतीर्थ में जो ब्रह्मा आदि के साथ स्नान करते हैं उनके लिये गंगा और पुष्कर-जल व्यर्थ है। इड़ा मलस्थान में निवास करने वाली है। इस सूर्यात्मिका नाड़ी में पिङ्गला रूपा यमुना का प्रवाह है। सरस्वती रूपा सुषुम्णा मज्जन हेतु मलदेश में गमन करती हैं। जो मनुष्य मनोगत स्नान पर है वह मन्त्रयोग के विशिष्ट तत्त्व का ज्ञाता होता है। जो साधक मूलाधार चक्रस्थ पृथिवी मण्डलरूप तीर्थ के विमल जल में स्नान करता है वह मुक्ति का भागी होता है। आज्ञा चक्रस्थ सर्व तीर्थ में सुरतीर्थ पावनी गङ्गा महासत्त्व से निर्गत होती हुई पाप का क्षय करती है. मुक्ति प्रदान करती है तथा साक्षात् अतुलनीय पुण्यलाभ कराती है। मूलाधार में तीर्थराज, स्वाधिष्ठान में स्वर्गस्था तीर्थ, मणिपुर में देवतीर्थ, अनाहत में सर्वतीर्थ विशुद्ध में अष्टतीर्थ तथा माता में विंदुती की मान्यता है। इन मूलाधारादि षट् चक्रों में मन की एकाग्रता का अभ्यास योगियों का सूक्ष्म स्नान है। यह सूक्ष्म स्नान इसलिये भी है क्योंकि तीर्थ भी सूक्ष्म हैं। शास्त्र में यह बताया गया है कि ब्रह्महत्या का पाप भी इन तीर्थों में स्नान करने से समाप्त हो जाता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि इड़ा को गङ्गा रूप, पिङ्गला को यमुना तथा सुषुम्णा को सरस्वतीरूपा कहा जाता है। इनका संगम (तीर्थराज) द्युलोक के करोड़ों पुष्कर से भी श्रेष्ठ है। बाह्य स्नान के समय बाह्य जल से मस्तक का सात बार सिञ्चन करना चाहिये तथा सर्वाङ्ग से एक बार स्नान कर लेना चाहिये। इसके बाद सोऽहं मूल मन्त्र से सर्वाङ्ग का मार्जन करना चाहिये। शरीर-मार्जन के बाद सन्ध्या, बन्दन आदि क्रियाओं को सम्पन्न करना चाहिये।[2]

(ट) सन्ध्यावन्दनादि क्रिया

साधक मन्त्रराशि से प्रकृति और ईश्वर के ध्यान हेतु बाह्यसन्ध्या को सम्पन्न करे। नादमण्डल से सम्पुट तैजस बिन्दु का ध्यान ऊर्ध्व स्थान से अधो

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २६/७५-९० ।

२. वही, ५४/६४-६७ ।

स्थान तक करना चाहिये। इस प्रकार सन्ध्यावन्दन करके महौषधि का भक्षण करना चाहिये। इसके बाद मूल मन्त्र (सोऽहं) से पञ्चगव्य को अभिमन्त्रित करके अपने-अपने मन्त्र से साधित पूजा को सम्पन्न करना चाहिये। तत्पश्चात् षट्चक्रों का ध्यान करते हुये कुण्डलिनी के सहस्रनाम का पाठ करके कुण्डलिनी की महा-पूजा करनी चाहिये। षट्चक्रों का भेदन परम गुह्य है। पूजा के अन्तर्गत ध्यान, ज्ञान, स्तव, नित्य यजन, नामकीर्तन आदि अवयव आते हैं। इन अवयवों को रुद्र[१], लाकिनी[२] और मृत्युञ्जय[३] के स्तव के द्वारा सम्पन्न करना चाहिये। इसके साथ गुरुमय सर्वगामी ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। इससे साधक महायोगी तथा चिरजीवी होता है।[४]

—: ० :—

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/ ४६-५१।
२. वही, ५०/३-२७।
३. वही, ४६/६-३०।
४. वही, ५४/६८-७३।

पञ्चम पुष्प

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और शाक्तमत

प्रथम पटल

शक्तितत्त्व का विकास

शक्ति की पूजा या उपासना कब और कहाँ से आरम्भ हुई ? इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव ही नहीं है। जिस समय हम किसी सिद्धान्त या विषय की परम्परा या उसके मूल स्रोत पर विचार करने चलते हैं, उस समय हमारे सामने साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक साक्ष्य ही आलम्बन रूप में दीख पड़ते हैं। साहित्यिक साक्ष्य में अधिक से अधिक वेदों तक और पुरातात्त्विक साक्ष्य में मोहन जोदड़ो, हड़प्पा, कालीवंगन आदि के उत्खनन तक हम जाते हैं। जब भी हम किसी विषय की प्राचीनता को स्पर्श करते हैं, तत्काल हम उस विषय को हठात् आकृष्ट कर वैदिक संहिताओं तक ले जाकर उसकी प्राचीनता, दिव्य रचना-धर्मिता तथा महत्ता का वर्णन करते हैं। जबकि यह भी निश्चित नहीं है कि वैदिक काल क्या माना जाय, इसलिए शक्ति सम्प्रदाय या शाक्तमत के विकास अथवा शक्ति-पूजा के प्रारम्भ के विषय में निश्चित समय का निर्धारण सम्भव ही नहीं है। हमारा यह विश्वास होना चाहिए कि जब भी पृथ्वी पर मानव की अवधारणा या अवतारणा हुई होगी, निश्चित ही, तभी से कुछ अज्ञात प्राकृतिक उपलब्धियों (जन्म, मृत्यु आदि) के कारण मानव किसी शक्ति को मानने के लिये तैयार हुआ होगा और तभी से अपने सहज जीवन की अनुकूल वेदनीयता के लिये उसको आदर दिया होगा, उसकी पूजा की होगी, श्रद्धा की होगी और उस पर विश्वास किया होगा। भौतिक स्तर से ऊपर जाकर आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करके यदि देखा जाय तो यही लगेगा कि अनादि ब्रह्म और उसकी शक्ति पर की जाने वाली श्रद्धा का विकास मानव-विकास के साथ ही हुआ होगा। फिर भी हम भौतिक स्तर के प्राणी परिपक्व बुद्धि के अभाव में शक्ति की पूजा या शाक्यमत के उद्भव और विकास के लिए साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक साक्ष्य को ही प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं।

पुरातात्त्विक परिवेश—

पुरातात्त्विक खनित्र के माध्यम से सिन्धु नदी की सभ्यता का ज्ञान कराने वाले साक्ष्य रूप प्राप्त योनि-आकार की मूर्तियों से ताम्रयुगीन सैन्धव प्रदेश में शक्ति या माँ की उपासना प्रचलित थी—यह माना जाता है। सर जॉन् मार्शल तो

यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय शक्तिवाद के समान एशिया माइनर, मिश्र, फिपीशिया तथा यूनान में भी किसी न किसी रूप में शक्ति-उपासना प्रचलित है।[1] इससे यह तथ्य भी प्रमाणित होता है कि शक्ति-उपासना अनादि काल से सार्वभौमिक रही है। इस प्रकार यदि शक्ति-उपासना के प्रारम्भ को सीमा में बाँधने का दुःसाहस करें तो हम कह सकते हैं कि ईसा के लगभग ४ हजार वर्ष पूर्व वैदिक काल (ऋग्वेद १०.१२५, १-८ देवी सूक्त या वाक् सूक्त) से यह परम्परा चली आ रही है। विद्वानों की यह मान्यता है कि वैदिक संहिताओं की संस्कृति, सिन्धु सभ्यता की पूर्वगामिनी है।[2] इसलिए शक्ति-उपासना को हम वैदिक काल तक ले जाते हैं। किन्तु कष्ट यह है कि वेदों का काल-निर्धारण भी तो विवाद का विषय है। मैक्समूलर संहिताओं का काल १२०० ई० पू०, श्राडर १५०० से २००० ई० पू०, याकोबी ४५०० ई० पू०[3] तथा तिलक ६००० ई० पू० मानते हैं। विन्टरनित्ज इस महान् साहित्यिक युग का श्रीगणेश २५०० से २००० ई० पू० स्वीकार करते हैं।[4] कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो १ लाख वर्ष ई० पू० तक ऋग्संहिताओं के रचनाकाल को ले जाते हैं। इस स्थिति में कुछ भी निर्णय करना कठिन लगता है।

शक्ति-उपासना की जड़ें जितनी गहराई तक भारत में हैं, उतनी किसी अन्य देश में नहीं हैं। शक्ति-उपासना के चिह्न प्रत्येक नगर में और देश के कण-कण में देखने को मिलते हैं। सिन्धुघाटी तथा सुनेरियन सभ्यता को काफी समीप सिद्ध करने वाले कुछ तथ्य मिलते हैं, जिनसे शक्ति-उपासना की तात्कालीन सार्वभौमिकता की सिद्धि होती है। प्राचीन विश्व के द्वारा पूजित होने के कारण देवी को "लोकमाता" कहा जाता था—

१. दोनों देशों में देवी का वाहन सिंह माना जाता है।
२. शक्ति को "युद्ध-देवी" के रूप में माना जाता था।
३. देवी के कुमारी तथा विवाहित—दोनों रूप दोनों देशों में थे।
४. दोनों देशों में देवी प्रायः पहाड़ियों या पर्वतों से सम्बद्ध देखी जाती हैं।

---

१. मोहन जोंदाड़ो एण्ड इण्डियन सिविलाइजेशन, पृ० ५७-५८।
२. कल्याण, शक्ति अङ्क, पृ० २४४।
३. प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० २२७।
४. वही, पृ० २३७।

५. सुमेरिया में देवी को नाना नाम से जाना जाता था जो गुजरात (अब पाकिस्तान के अन्दर) के पास "हिंगलाज" में नाना देवी के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में शक्ति-उपासना का उद्भव मातृदेवी की उपासना के रूप में हुआ और यह उपासना "शिवोपासना" से अत्यधिक सम्बद्ध थी।

शक्ति-उपासना के प्रारम्भ का एक ठोस आधार यह भी सम्भव है कि आदिकाल में मातृप्रधान युग में प्राणी अपनी माँ के प्रति अति आदर और श्रद्धा का भाव रखते थे और यही भाव मातृ-उपासना के रूप में पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ।[1]

वैदिक साहित्य—

यद्यपि वैदिक संहिताओं में शक्ति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, तथापि देवी के रूप में विभिन्न क्षमताओं से युक्त नाना प्रकार की शक्तियों का वर्णन किया गया है। प्रत्येक देवी "शक्ति" की ही प्रतीक थी। यह बात सत्य है कि वैदिक संहितायें देवो के सूक्तों से भरी पड़ी हैं और कुछ ही सूक्त देवियां से सम्बद्ध हैं। यथा—"रात्री" और "पृथ्वी" के लिए एक-एक सूक्त, "सरस्वती" के लिए तीन सूक्त, "आप" देवी के लिये चार और "उषस्" के लिये बीस सूक्तों की रचना की गई हैं।[2] किन्तु इसके साथ ही ऋषियों की भावना शक्ति-माहात्म्य से दूर थी—यह भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऋक्संहिताओं में ४० देवियों के नाम उपलब्ध होते हैं—उषस्, रात्री, सिनीवाली, राका, गंगु, पृथ्वी, अदिति, पृश्नि, दिति, स्वस्ति, रेवती, पुरन्धि, अनुमति, आपदेवीस्, सरस्वती, सिन्धु, अरण्यानी, इन्द्राणी, वरुणानी, रुद्राणी, आग्नेयी, सरण्यू, सूर्या, राध्वी, रोदसी, सीता, दक्षिणा, श्रद्धा, घिषणा, इला, मही, भारती, गौरी, स्वाहा, उर्वशी, अलक्ष्मी कृत्या, निऋर्ति आदि।[3]

ऋग्वेद के (X. १२७) खिल रात्रिसूक्त में शक्ति को "माँ" कहा गया है, जो समस्त मानव जाति की शरण है, वह तप से देदीप्यमान होती है तथा भक्तों के द्वारा अपने कर्म-फल की प्राप्ति के लिए पूजी जाती हैं। इसी सूक्त के दो मन्त्र 'दुर्गा" का सङ्केत करते हैं, जिसे सायण परम शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।

---

१. शक्ति कल्ट इन एनसीयन्ट इण्डिया, पृ० ६।

२. मैंक्डोनल : हीस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८१, ९२, ९३, १०२, १०३।

३. इण्डियन कल्चर, वालूम ८, जुलाई-सितम्बर, १९४२, पृ० ६६।

ऋक् संहिताओं के परवर्ती साहित्य में भी शक्ति के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। वाजसनेयी संहिता (III. ५३) रुद्र की स्वसा (बहन्) के रूप में अम्बिका को सम्बोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता (I. ८.६४), तैत्तिरीय ब्राह्मण (I. ६.१०) तथा शतपथ ब्राह्मण (II. ६.२९) में अम्बिका का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक में उमा का तथा शिव के लिये उमापति का सन्दर्भ मिलता है।

शक्ति की औपनिषदिक धारणा का विकास हमें श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होता है। जहाँ शक्ति से संयुक्त ब्रह्म का निरूपण किया गया है,[1] वहाँ शक्ति को माया तथा शिव को मायिन् कहा गया है।[2]

श्रौत और गृह्य सूत्रों में भी पहले से चली आ रही शक्ति-उपासना का विकास देखा जाता है। शांख्यायन श्रौत और गृह्यसूत्र में "भद्रकाली" का उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

शाक्त उपनिषद् में शक्ति :—

शाक्तमत का दार्शनिक आधार शाक्त उपनिषदों में प्राप्त होता है। ब्रह्म की सर्जन शक्ति का क्रियात्मक रूप उसी शक्ति में उपलब्ध होता है[4] जो ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शाक्ततन्त्र तो यह स्वीकार ही करते हैं कि ब्रह्म और उसकी शक्ति परस्पर अभिन्न हैं। यही अभेद शाक्तमत का मूल है। शाक्त उपनिषद् यह स्वीकार करते हैं कि शिव बिना अपनी शक्ति के सृष्टि-कार्य नहीं सम्पन्न कर सकता।[5] वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की माँ है।[6] वह पुरुष प्रकृति तथा जीवात्माओं और जगत् का सर्जन करने वाली है। कभी-कभी वह प्रकृति और माया के रूप में जानी जाती है।[7]

सुमुखी उपनिषद् में शक्ति का ध्यान षोडशवर्षीया एक सुन्दरकुमारी के रूप में किये जाने का उल्लेख हैं, जो शिव पर विराजमान है, रक्तरंजित हार तथा आभूषणों से अलंकृत है। बह्वृचोपनिषद् में अनेक प्रकार की देवियों का उल्लेख

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद्, (१.३)।
२. वही, (चौथा, १०)।
३. शांख्यायन श्रौतसूत्र, IV. २०, गृह्य सूत्र III. ३-२९।
४. देवी उपनिषद् २, श्यामोपनिषद् १।
५. त्रिपुरा तापिनी उपनिषद्, १.६.५.१४।
६. त्रिपुरा उपनिषद् १३, सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्, ५.४।
७. सरस्वती उपनिषद्, ५.४९.५०.

हुआ है—महात्रिपुरसुन्दरी, बालाम्बिका, बंगला, मातङ्गी, स्वयम्बरा, कल्याणी, भुवनेश्वरी, चामुण्डा, चन्द्रा, वाराही, तिरस्करिणी, राजमातङ्गी, शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती, ब्रह्माण्डकला आदि।[1] शाक्त उपनिषदों का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य यह भी है कि वे तान्त्रिक शब्दावली से ओतप्रोत हैं।

वह शक्ति ब्रह्मरूपिणी[2] और जगद्रूपिणी[3] है उससे भिन्न कुछ नहीं है। वही नाना प्रपञ्च, देवता तथा अन्य शक्तियों की सृष्टिकर्त्री है।[4] वही महाविद्या और विश्वरूपिणी है।[5]

शक्ति-उपासना संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों से विकसित होती हुई लौकिक संस्कृत-महाकाव्यों में विपुल अस्तित्त्व को प्राप्त करती है। लौकिक संस्कृत साहित्य के उपजीव्य काव्य रामायण और महाभारत में "शक्ति" का महत्त्वपूर्ण स्थान बताया गया है। रामायण-काल में यद्यपि शक्ति-उपासना एक अलग स्वतन्त्र मत के रूप में नहीं दीख पड़ती, किन्तु शक्ति का महत्त्व इतना बताया गया है कि जो कार्य देवता नहीं कर सके, उस कार्य को शक्ति ने सम्पन्न किया—यह तथ्य कुबेर को दिये गये देवी के शाप से स्पष्ट होता है।[6] यहाँ भी वह शिव की शक्ति के रूप में वर्णित है। उसे उमा, गिरजा, रुद्राणी और पार्वती—नामों से अभिहित किया गया है।[7] रामायण के अनेक प्रसङ्गों में शक्ति को अनेक नामों से पुकारा गया है—सुरसा, सिंहिका, विद्या, बला अतिवला आदि। महाभारतकाल में शक्ति-उपासना ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। दो सम्पूर्ण अध्याय देवी के लिए प्रसुक्त हैं।[8] वह प्राणियों को कष्टों से बचाती हैं। वह तीनों लोकों की रक्षा के लिए देवों द्वारा पूजी जाती है। देवी की प्रात: उपासना करने वाले धन-धान्य से पूर्ण होते हैं।[9] भीष्म पर्व में अर्जुन के द्वारा की गई दुर्गा की प्रार्थना

---

१. मन्त्र, ८।
२. देवी उपनिषद्, २।
३. वही, ३।
४. वही, ३, १८।
५. वही, १५।
६. रामायण, १, ३०.२१-२५।
७. वही, ७, १३.२३।
८. महाभारत, ४, ६ और ६.२३.
९. वही, ४.६.१९।

उसके अनेक नामों कृष्णपिङ्गला, भद्रकाली, महाकाली, चण्डी, चण्डा, तारिणि, वरवर्णिनी, कात्यायनी, कराली, विजया, जया आदि का संकेत है। शक्ति-पूजा या उपासना का यह क्रम पुराण, काव्य, नाटक आदि साहित्य में अब तक चला आ रहा है।

महाभारत के वन-पर्व में बहुत से देवी-तीर्थों का उल्लेख हुआ है। जैसे—कामारण्य तीर्थ (३.८२.१०५), श्री पर्वत (३.८५.११९), भीमा देवी का स्थान (३.८२.१३३), कालिका संगम (३.८४.५६), गौरी शिखर (३.८४.५१) शाकम्भरी (३.८४.१३.१८), धूमावती का स्थान (३.८४.२१-२२), श्रीतीर्थ (३.८३.४६), देवीतीर्थ (३.८५.५१), मातृतीर्थ (३.८३.५८)।

शल्य-पर्व (४६.११.१४.३६-३८) में भगवती के काली, कालिका, रौद्री, सौम्या, कौबेरी, वारुणी, माहेन्द्री, आग्नेयी, वायवी, कौमारी, ब्राह्मी, वैष्णवी, वाराही आदि नामों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त हरिवंश पुराण (१०९.५०-५२) तथा (७४-३३) में देवी के रुद्राणी, एकानंसा, कूष्माण्डी, भीमा, आर्या, अम्बिका, त्रिभुवनेश्वरी, सहस्रनयना, किराती, जगन्माता आदि नामों का उल्लेख मिलता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति-उपासना का क्रम आदिम जातियों के द्वारा प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है। जहाँ तक वैदिक काल का प्रश्न है उस समय भी वैदिक धर्म मतावलम्बियों के द्वारा भी शक्ति की पूजा का अनुष्ठान किया जाता था।[1]

—: ० :—

---

१. शक्ति कल्ट इन एनसीयन्ट इण्डिया, पृ० ३७।

शक्ति-प्रकार

भैरवीशक्ति :—

इस विवेच्य ग्रन्थ[1] के २८वें पटल के "महातन्त्रोद्दीपन" प्रकरण में भैरव द्वारा पूछे जाने पर आनन्दभैरवी सर्वप्रथम मन्त्रसिद्धि का लक्षण बताती हैं। इसके बाद भैरवी लक्षण, भैरवी चक्र तथा भैरवी पूजा की ओर देवी संकेत करती हैं। इसी पटल के अन्त में कन्दवासिनी देवी का स्तोत्र भी वर्णित है।

तन्त्र-साहित्य में भैरवी के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। अभिनवगुप्त के तन्त्रसार में त्रिपुरभैरवी, सम्पत्प्रदाभैरवी, कौलेशीभैरवी, सकलसिद्धिदाभैरवी, भयविध्वंसिनीभैरवी, चैतन्यभैरवी, त्रिपुराबालाभैरवी नवकूटाबालाभैरवी, कामेश्वरभैरवी, षट्कूटाभैरवी, नित्याभैरवी, रुद्राभैरवी, भुवनेश्वरीभैरवी, अन्नपूर्णाभैरवी आदि अनेक रूपों में महाशक्तिभैरवी का वर्णन किया गया है। वहाँ पर इन शक्ति स्वरूपों की पूजाविधि वर्णित हैं।

वक्ष्यमाणभैरवी के स्वरूप-वर्णन में इस तन्त्र में देवी भैरवी के कुछ दोषों की चर्चा की गई हैं। योग-मार्ग के पथिक इन दोषों को नष्ट कर देते हैं।

श्रीविद्यानां भैरवीणां दोषजालं शृणु प्रभो !
एतान् दोषान् प्रणश्यन्ति योगमार्गानुसारिणः ॥[2]

भैरवी लक्षण :—

जिस प्रकार लोक में लक्ष्मी के दोषों की धारणा है, उसी प्रकार यहाँ पर भैरवी के कुछ दोषों की चर्चा की गई है।[3] यह शक्ति विधिपूर्वक जप की जाने वाली होते हुये दग्ध तथा कीलित है। वह शिव तत्त्व का सन्धान करने वाली तथा मोहक स्वभाव वाली है। उसका चित्त महामद से उन्मत्त है। वह मूर्च्छाभाव वाली, वीर्यवर्जित, स्तम्भित, आवरणयुक्ता, छिन्ना, रुद्धा तथा त्रास देने वाली है तथा साथ ही साथ प्रबुद्ध भी है। वह शक्ति बीज (मन्त्र) रहित, शक्तिहीन, प्रसुप्त, प्रमत्त, पराङ्मुखी, नेत्रहीन, भीता तथा दुष्ट संस्कारों वाली है। सुषुप्तभैरवी भेदित होने पर प्रौढ़ा, बालिका तथा कामिनी रूप होकर भय देने-वाली है। वह सिद्धियों से हीन, कूटस्थ, मन्द बुद्धि प्रदान करने वाली, कर्णनासा से हीन तथा

---

१. रुद्रयामल, उ० त०, पृ० २४४।

२. वही, २८/२०।

३. वही, पृ० २४४।

क्रुद्ध अङ्गों वाली है। भैरवी कलह प्रिय, भ्रष्ट स्थान वाली, धर्मभ्रष्ट, अतिवृद्धावस्था तथा अति बालावस्था से रहित और सिद्धियों का नाश करने वाली हैं। वह साक्षात् कालविद्या, सूक्ष्म धर्म-कर्म वाली, रक्त वर्ण (रजस्-तत्त्व) वाली, दुर्गति वाली विक्षिप्त चित्तस्वरूपा, अति प्रचण्ड, चण्डगामिनी, उल्का के समान चलने वाली, मन्द हास वाली, सत्त्व से हीन, अति गुह्य, क्षुधार्ता तथा धूर्ता हैं। योगकाल के निरोधन या योग-क्रिया से दूर रहने से समस्त अविद्यायें प्रसन्न रहती हैं, किन्तु साधक वीरभाव में अवस्थित होकर पुरश्चरण-क्रिया के द्वारा सिद्धि का अधिकारी हो जाता है।

योगिनी-शक्ति :—

योगिनीतन्त्र[1] में देवी ईश्वर से योगिनीगणों की उत्पत्ति जानना चाहती हैं। ईश्वर, देवी से योगिनी की उत्पत्ति का वर्णन करते हुये सृष्टि के आदि में परस्पर अपनी उपस्थिति का स्मरण दिलाते हैं।[2] उस समय किसी के साथ देवी के वार्तालाप के प्रसङ्ग का ईश्वर ने स्मरण दिलाकर कहा कि काली रूप तुम्हारी रश्मि से घोर रूप वाली, महायुद्ध में उत्सुक करोड़ों योगिनियाँ उत्पन्न हुईं और वे सब सूर्यमय रूप प्रकाशित हुईं।[3]

वस्तुतः शिव की महाशक्ति की अनन्त लीलायें हैं। असंख्य शक्तियों में वही महाशक्ति अधिष्ठित है। योगिनी आदि उसी की अन्यान्य संज्ञायें हैं। रुद्रयामल के ३१वें पटल में केवल इस शक्ति के स्तोत्र का वर्णन किया गया है।[4] जिसका श्रवण और धारण करने वाला यति होता है और जो स्तोत्र, रत्नस्वरूप तथा सहज रूप में अप्रकाश्य है। यह स्तोत्र प्राणियों को इष्टफल देने वाला है और इसके ज्ञान से साधक शिवरूप हो जाता है।[5] इस स्तोत्र का पाठ करने वाला मूल पद्म में स्थिर होता है तथा षट्चक्र का भेदन करके "राज्य" पद को प्राप्त करता है।

कन्दवासिनी शक्ति :—

शरीर में मूलाधार चक्र की जहाँ स्थिति बताई गई है, वह स्थान है—कन्द (Sacrum)। यह स्थान अधोमुखी त्रिकोण-रूप है। यही स्वयम्भू (धूम्र)

---

१. योगिनीतन्त्र, पूर्व खण्ड, ८/३।

२. वही, ८/८।

३. वही, ८/६७-६८।

४. रुद्रयामल उ० त०, ३१/३७-४३।

५. वही, ३१/३५-३६।

लिङ्ग की कल्पना की गई है जिस पर सार्धत्रयवलयाकार महाशक्ति कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था में वेष्टित है। इस महाशक्ति कुण्डिलिनी के अतिरिक्त कन्द-स्थान में एक और शक्ति की कल्पना की गई है, जिसका नाम है—कन्दवासिनी। इस शक्ति की पूजा, ध्यान और स्तोत्र-पाठ आदि मूलाधार चक्र की साधना में सहायक है। विवेच्य ग्रन्थ के ३२वें पटल में आनन्दभैरवी ने स्वयं कन्दवासिनी के स्तव, ध्यान आदि को कुण्डलिनी शक्ति से सम्बद्ध माना है। उन्होंने भैरव से कहा है कि सर्व-भेदन-भेदनी, कलि-कलमष-हन्त्री तथा जगद्-मोक्ष-दायिनी मेरी शक्ति कुण्डलिनी ही है। उस शक्ति के स्तोत्र, ध्यान, न्यास आदि के विषय में आप सुनें।[1] इस शक्ति के स्तोत्र, ध्यान, न्यास, मन्त्र आदि के ज्ञान से मूलाधार में मन की एकाग्रता होती है और कुण्डलिनी के सम्पर्क से साधक चैतन्यानन्द में लीन हो जाता है।[2] जागृत कुण्डलिनी आकाशगामिनी सिद्धि प्रदान करती है। आनन्दभैरवी स्वयं अपने अमृत और आनन्द रूपों से प्राणियों का पालन करती हैं। त्रिगुणात्मक शरीर श्वासो-च्छ्वास कलाओं के द्वारा महाशक्ति को जागृत करके नाना प्रकार की शक्तियों से युक्त हो जाता है।[3]

रुद्राणी शक्ति :—

महाशक्ति की एक शक्ति रुद्राणी भी है। मूल ग्रन्थ[4] के सैंतालीसवें पटल में आनन्दभैरवी, भैरव को उत्तम रुद्राणी-स्तोत्र[5] का श्रवण कराती है, जिसे पढ़कर तथा जिसकी धारणा (आचरण) करके साधक महासिद्ध तथा काल को भी वश में करने वाला हो जाता है। यह स्तोत्र ब्रह्मा और विष्णु के द्वारा त्रैलोक्य की रक्षा के लिये आविर्भूत किया गया। रुद्रयुक्ता महारौद्री के इस स्तोत्र के श्रवण मात्र से साधक सर्वजयी हो जाता है तथा सभी मुनि, योगी, योगदर्शक, सभी देव, सर्वलोकों के स्वामी हो जाते हैं। इस स्तोत्र के स्तवन-मात्र से ब्रह्मा ने ब्रह्मत्व, विष्णु ने विष्णुत्व तथा सभी देवों ने देवत्व को प्राप्त किया। यह स्तोत्र अष्टाङ्गयोग-साधन-रूप है।[6] इस स्तोत्र के महाकालभैरव ऋषि हैं, अनुष्टुप छन्द है, श्रीरुद्ररूपिणी तथा महोग्ना देवता, "वां" बीजमन्त्र, "दां" शक्ति, "स्फ्रें स्फ्रें" कीलक है।

---

१. श्लोक संख्या, १-२।
२. वही, ३।
३. रुद्रयामल उ० त०, ३२/४-५।
४. वही, ४७/१।
५. वही, ४७/७-५९।
६. वही, ४७/२-६।

षट्चक्र के अन्तर्गत मणिपूर चक्र के भेदन (जागरण) के लिये रुद्राणी के साथ रुद्र का ध्यान, पूजन और महामन्त्र का जप करना चाहिये।

लाकिनी शक्ति :—

नाभिपद्म या मणिपूर चक्र की कर्णिका में 'रं' बीजमन्त्र के अनुस्वार (ं) के बगल अरुण पद्म पर देवी लाकिनी विराजमान रहती है। इनका वर्ण श्याम है, ये हर प्रकार के शुभ कर्म करने वाली, पीताम्बर को धारण करने वाली, अनेक प्रकार के आभूषणों से अलङ्कृत, उन्मत्त चित्त वाली, सृष्टि का संहार करने वाली हैं। ऐसी शक्ति का मणिपूर पद्म में ध्यान करने से साधक में पालन और संहार की क्षमता उत्पन्न होती है तथा मुख से सदा ज्ञान की धारा प्रवाहित होने लगती है—

अत्रास्ते लाकिनी सा सकलशुभकरी वेदबाहूज्ज्वलाङ्गी
श्यामा पीताम्बराद्यैर्विविधविरचनालङ्कृता मत्तचित्ता।
ध्यात्वैतन्नाभिपद्मं प्रभवति नितरां संहृतौ पालने वा,
वाणी तस्याननाब्जे निवसति सततं ज्ञानसन्दोहलक्ष्मी ॥[1]

षट्-चक्र-भेदन के लिये तथा सर्वसिद्धि के लिये लाकिनी देवी के स्तोत्र का पाठ करना चाहिये।[2] स्तोत्र का पाठ करने से अत्यधिक संतोष की प्राप्ति होती है।[3] देवी का स्तोत्र और विनियोग विवेच्य ग्रन्थ में दिया गया है।[4] योग-ज्ञानी को इस स्तोत्र का पाठ करना चाहिये। इसका पाठ करने से महापुण्य, धीरता, विभव और अमरत्व की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त भोग और मोक्ष दोनों की उपलब्धि होती है तथा साधक इहलोक में योगिराज हो जाता है। योगी महादेवी के पाद-पद्म रूप परं पद्र को प्राप्त होता है। देवी लाकिनी कामदायिनी हैं। वे साधक को इहलोक में चिर जीवन प्रदान करती हैं। इस साधना से योगी मणिपूर में स्थिरता को प्राप्त होता है। कुल मार्ग में लय-स्थान विश्वेश्वरी पद ही है। लय-योग से साधक मणिपूर में देवता का साक्षात् दर्शन करता है। देवी की पूजा के बाद स्तोत्र का पाठ करने वाला शीघ्र ही कुल-मार्ग की कृपा का भाजन बनता है और योगी-पद को प्राप्त करता है।[5]

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक सं० २२, चौखम्भा विद्याभवन चौक, वाराणसी, १९५४।
२. रुद्रयामल उ० त०, ५०/१-२।
३. वही, ५०/१-२।
४. वही, ५०/३-२७।
५. वही, ५०/२८-३२।

काकिनी शक्ति :—

द्वादश वर्ण वाले अनाहत चक्र की पद्म कर्णिका के अन्दर अरुणिम कमल पर तीन नेत्रों वाली काकिनी देवी विराजमान हैं। इनकी चार भुजायें हैं। दो हाथों में पाश और कपाल हैं, शेष दो भुजायें वर और अभय मुद्रा वाली हैं। वे नव तडित् वर्ण (स्वर्ण) वाली तथा पीताम्बरा हैं। वे हर प्रकार के अलङ्करण से सुशोभित हैं और कंकाल की माला धारण करने वाली हैं। वे सुधारस से आर्द्र आनन्दित हृदय वाली हैं—

अत्रास्ते खलु काकिनी नवतडित्पीता त्रिनेत्रा शुभा
सर्वालङ्करणान्विता हितकरी सम्यक् जनानां मुदा।
हस्तैः पाशकपालशोभनवसन संविभ्रती चाभयं
मत्ता पूर्णसुधारसार्द्रहृदया कङ्कालमालाधरा ॥[1]

हृत्पद्म के भेदन की साधना में चक्रस्थवर्णों के (कं·········ठं) ध्यान के बाद काकिनी देवी की पूजा करनी चाहिये। पूजा से ही विवेक उत्पन्न होता है। पूजा में भाव की प्रधानता होनी चाहिये। भाव से पूजा, पूजा से विवेक तथा विवेक से ब्रह्मभाव की उपलब्धि होती है।[2]

शाकिनी शक्ति :—

षट्चक्रों में कण्ठ-स्थानीय विशुद्ध नामक चक्र की देवी शाकिनी नाम से प्रसिद्ध हैं। देवी शाकिनी सुधासिन्धु से भी शुद्ध हैं। वे पीत वस्त्रा हैं और अपने चार कर कमलों में शर, चाप, पाश और अङ्कुश धारण करने वाली हैं—

सुधासिन्धोः शुद्धा निवसति कमले शाकिनी पीतवस्त्रा
शरं चापं पाशं सृणिमपि दधति हस्तपद्मैश्चतुर्भिः।[3]

देवी शाकिनी ज्योति-स्वरूपा हैं। उनके पाँच मुख हैं और प्रत्येक मुख तीन नेत्रों से युक्त हैं। कहीं-कहीं यह भी वर्णन है कि उनके चार कर-कमल पाश, अङ्कुश, पुस्तक तथा ज्ञानमुद्रा से युक्त हैं। वे अस्थि-आसन पर विराजमान हैं तथा सम्पूर्ण प्राणि-समूह को उन्मत करने वाली हैं। देवी को दुग्धान्न प्रिय है और मधुमद का पान करने से वे प्रसन्न रहती हैं।[4]

---

१. षट्चक्र-निरूपणम्, श्लोक सं० २५।
२. रुद्रयामल उ० त०, ५८/४।
३. षट्चक्र-निरूपणम्, श्लोक-३० (संस्करण, सर जान उडरफ्)।
४. षट्चक्र-विवरण, श्लोक ३० की टीका।

शाकिनी की पूजा में सर्वप्रथम शक्ति का ध्यान करना चाहिये, उसके बाद शिव का, किन्तु साधक को शाकिनी और शिव में अभेद-बुद्धि रखनी चाहिये। विवेच्य ग्रन्थ[1] के ६१वें पटल के तीसरे, चौथे और छठें श्लोक में शाकिनी ध्यान के मन्त्रों का वर्णन किया गया है।

डाकिनी शक्ति :—

महाशक्ति कुण्डलिनी-जागरण या इसी से सम्बद्ध षट्चक्र-भेदन के प्रसङ्ग में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्रों की अधिष्ठातृ शक्तियों की पूजा, स्तुति, कवच आदि का विवेचन भिन्न-भिन्न पटलों में किया गया है, जिसें शोध-प्रबन्ध में क्रम-पूर्वक एक अध्याय में रखना हमारा मुख्य लक्ष्य है।

मूलाधार से आज्ञा चक्र की अधिष्ठातृ देवियाँ क्रमशः डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी तथा हाकिनी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन देवियों के साथ चक्रों के अधिष्ठातृ देव भी हैं जिन्हें क्रमशः गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, ईश या रुद्र, सदाशिव और परम शिव की संज्ञायें प्राप्त हैं।

महाशक्ति कुण्डलिनी-जागरण के प्रसङ्ग में विशेषतया प्रायोगिक साधना पक्ष को लिया जायेगा। इसलिये उसके पूर्व समस्त चक्रों की अधिष्ठातृ देवियों के बाह्य भाग (बाह्य पूजा) का विवेचन यहाँ "शक्ति-प्रकार"-प्रकरण में किया जा रहा है। षट्चक्रों की अधिष्ठातृ-शक्तियों के अतिरिक्त कुछ और शक्तियों का वर्णन हम इस अध्याय में करना चाह रहे हैं, जिनका विवेचन मूल ग्रन्थ में इतस्ततः बिखरा पड़ा है। इन शक्तियों के नाम हैं—भैरवी, रुद्राणी, भेदनी, छेदिनी, कन्द-वासिनी। इनमें भेदनी, छेदनी और कन्दवासिनी विशेष रूप से मूलाधार चक्र से सम्बद्ध हैं, क्योंकि षट्चक्रों का भेदन मूलाधार से प्रारम्भ होता है और भेदनी शक्ति चक्र-भेदन की और छेदिनी ग्रन्थि-चक्र-भेदन को तथा कन्दवासिनी कुण्डलिनी के अधिष्ठान कन्द (Sacrum) को जागृत करने की सामर्थ्य प्रदान करती है।

षट्-चक्र-भेदन के प्रसङ्ग (पुष्प-अष्टम) में हम प्रत्येक चक्र के भेदन पर चर्चा करेंगे। यहाँ हम कुण्डलिनी को चैतन्य करनें की हेतु-रूप डाकिनी देवी के ध्यान, पूजा, मन्त्र और स्तोत्र आदि का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। मन्त्र के प्रसङ्ग में "डाकिनीसाधन" का भी उल्लेख होगा किन्तु विभिन्न शक्तियों के हो रहे विस्तृत विवेचन के प्रसङ्ग में डाकिनी साधन पर यहीं चर्चा करना समीचीन प्रतीत हो रहा है—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, पृ० ४५४।

कन्द-स्थान में अवस्थित चतुर्दलीय मूलाधार चक्र में चक्राधिष्ठात्री देवी डाकिनी अरुणिम कमल पर विराजमान हैं। वे स्वयं रक्त-वर्णा हैं तथा चार भुजाओं वाली हैं। उनकी भुजाओं में शूल, खट्वाङ्ग, खड्ग, और चषक हैं— रुद्रयामल में देवी की आठ भुजायें बताई गयी हैं।[1] उनके नेत्र लाल हैं। वे अनेक सूर्य के प्रकाश के समान हैं। वे शुद्ध-बुद्ध-ज्ञानरूपी प्रकाश को वहन करने वाली हैं—

"वसेदत्र देवी च डाकिन्यभिख्या
लसेद्वेदबाहूज्ज्वला रक्तनेत्रा।
समानोदितानेकसूर्यप्रकाशा
प्रकाशं वहन्ती सदा शुद्धबुद्धेः॥"[2]

वे पशु-प्रमाता को भय प्रदान करने वाली, सुधा-पूरित मुख वाली, शत्रु-कुल को नष्ट करने वाली और पयसान्न प्रिय (खीर प्रिय) हैं—

"रक्ताक्षीं रक्तवर्णां पशुजनभयकृच्छूलखट्वाङ्गहस्तां
वामे खड्गं दधानां चषकमपि सुधापूरितं चैकवक्त्राम्।
अत्युग्रामुग्रदंष्ट्रामरिकुलमथनीं पायसान्ने प्रसक्तां
मूलाधारेऽमृतार्थे परिवृतवपुषं डाकिनीं चिन्तयेत्ताम्॥"[3]

वे सिन्दूरी तिलक से उद्दीप्त, अञ्जन से युक्त नेत्र वाली, कृष्णाम्बर तथा नाना आभरणों से विभूषित हैं—

सिन्दूरतिलकोद्दीप्तामञ्जनाञ्चितलोचनाम्।
कृष्णाम्बरपरीधानां नानाभरणभूषिताम्॥[4]

प्रवृत्ति-मार्गी संसारी, कमल दलों का अधोमुखी रूप में तथा निवृत्ति-मार्गी त्यागी, उनका ऊर्ध्व-मुख रूप में ध्यान करें।[5]

राकिणी शक्ति :—

लिङ्ग मूल में अवस्थित षट्दलीय स्वाधिष्ठान चक्र के जल-मण्डल के अन्तर्गत "वं" बीज के अनुस्वार में अधिष्ठित विष्णु के पार्श्व में रक्त-कमल पर

---

१. रुद्रयामल उ०त०, ३१/३-४।
२. षट्चक्र-निरूपणम् श्लोक ७ (संस्करण सर जान उडरफ)।
३. षट्चक्र विवरण में उद्धृत, पृ० १३।
४. वही, पृ० १४।
५. वही, पृ० १४।

राकिणी देवी विराजित हैं। वे नील-वर्णा हैं तथा नाना प्रकार के आयुधों से उद्यत भुजाओं से सुशोभित अङ्ग वाली है। दिव्य वस्त्रों तथा आभूषणों से भूषित तथा अमृतपान करने से प्रसन्न (मत्त) चित्त वाली हैं—

"अत्रैवं भाति सततं खलु राकिणी सा,
नीलाम्बुजोदरसहोदरकान्तिशोभा।
नानायुधोद्यतकरैर्लसिताङ्गलक्ष्मी,
दिव्याम्बराभरणभूषितमत्तचित्ता॥"[1]

उनकी चार भुजाओं में शूल, अब्ज, डमरू और टङ्क (कुल्हाड़ी) है। वे उग्र, अरुणिम, तीन नेत्रों वाली, कुटिल दातों वाली, प्रदीप्त, युगलकमलासीन, प्रवहमाण रक्त की धारा से युक्त, एक नासारन्ध्र वाली, शुक्लान्न प्रिय और अभीष्ट फल देने वाली हैं—[2]

श्यामां शूलाब्जहस्तां डमरुकरयुतां तीक्ष्णटङ्कं वहन्ती-
मुग्रां रक्तत्रिनेत्रां कुटिलसविलसद्दन्तदंष्ट्राप्रभाभिः
दीप्तां तां देवदेवीं द्वितयकमलगां रक्तधारैकनासां
शुक्लान्ने सक्तचित्तामभिमतफलदां राकिणीं चिन्तयेत्ताम्॥

भेदिनी शक्ति :—

जैसा कि डाकिनी शक्ति के विवेचन के समय स्पष्ट कह चुके हैं कि मूलाधार चक्र के जागरण में जहाँ डाकिनी शक्ति की पूजा का महत्त्व है वहीं मूलाधार से आज्ञा-चक्र के भेदन में भेदिनी, छेदिनी और कन्दवासिनी शक्तियों की पूजा, ध्यान, स्तव आदि का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भेदिनी शक्ति के ध्यान से योगी काल-जाल को हरण करने में भी समर्थ हो जाता है।

छेदिनी-साधन :—

छेदिनी शक्ति समस्त ग्रन्थियों का छेदन करने वाली है। षट्चक्रों की ग्रन्थियाँ इस शक्ति की आराधना से शिथिल और समाप्त हो जाती है। इस शक्ति की कृपा से योगी "आनन्त्य दशा" को प्राप्त करता है।[3]

---

१. षट्चक्र निरूपणम्, श्लोक १७, सर जान उडरफ् का संस्करण, दि सर्पेण्ट पावर, १९५३।

२. षट्चक्र विवरण, पृ० २७ पर उद्धृत सर जान उडरफ् का संस्करण, दि सर्पेन्ट पावर, १९५३।

३. रुद्रयामल उ०त०, ३१/२२-२३।

—:•:—

तृतीय पटल

कुण्डलिनीयोग

परमात्मा या परम लक्ष्य की प्राप्ति के दो प्रमुख मार्ग स्वीकार किये जाते हैं—१. ध्यान या भावनायोग, २. क्रिया या हठयोग। कुण्डलिनीयोग, क्रियायोग या हठयोग से सम्बद्ध है। जिस प्रकार वृक्ष के फल की प्राप्ति के लिये पक्षी सीधे उड़ता हुआ फल पर ही बैठता है और मनुष्य उसी फल की प्राप्ति के लिये वृक्ष की शाखाओं को पार करता हुआ अन्त में फल-प्राप्ति करता है उसी प्रकार परम लक्ष्य एक ही है, किन्तु अधिकारिभेद से उसकी प्राप्ति के मार्ग अलग-अलग हैं। इन मार्गों में उत्तम और मध्यम का विभाजन नहीं किया जा सकता। ध्यानयोग का साधक निःस्पृह होने के कारण दीर्घायु, निरोगता और बलवान् होने की आकांक्षा से रहित होता है। इसलिये यह योगी परम स्थिति को प्राप्त करके भी रोगी बना रह सकता है, किन्तु कुण्डलिनीयोग का साधक आध्यात्मिक उपलब्धि के समय आधिभौतिक उपलब्धि का भी अधिकारी होता है।

स्वरूप तथा स्थान :—

डॉ० वसन्त जी० रेले के अनुसार कुण्डलिनी शरीर के अन्दर दाहिनी वेगस नाड़ी (राइट वेगस नर्व) हैं जहाँ से कुण्डलिनीयोग में वर्णित समस्त अंगों के स्थानों का योग (कनैक्शन)[1] रहता है। सर जॉन उडरफ ने इसे वह संगृहीत शक्ति कहा है जो व्यष्टि-शरीर में विश्वमहाशक्ति के प्रतिनिधि के रूप में विश्व को उत्पन्न और धारण करती है।[2] इन्हीं के अनुसार इस शक्ति के दो रूप हैं—१. स्थिर या संगृहीत तथा २. कर्तृत्वशील जैसे प्राप।[3]

सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता ज्ञानेश्वरी (गीता, अध्याय ६, श्लोक १४ का भाष्य) में कुण्डलिनी के विषय में अपने विचार रखते हुये कहा है कि जिस प्रकार नागिन का बच्चा कुमकुम में नहा हुआ सा शरीर को गिडुंली बनाकर सोया रहता है उसी प्रकार कुण्डलिनी अपनी देह को ३ १/२ बार लपेट कर अधोमुखी होकर सोती रहती है। जागृत होने पर वह प्राण-स्वरूप हो जाती है।[4]

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पिण्ड में ही आविष्ट है—ऐसा योगी स्वीकार करते हैं। सप्तद्वीप से समन्वित मेरु, समस्त मुनि, समस्त नक्षत्र, समस्त ग्रह, पुण्य तीर्थ,

---

१. दि मिस्टीरियस कुण्डलिनी, पृ० ५१।

२. द सर्पेण्ट पावर।

३. वही।

४. ज्ञानेश्वरी, ६/२२२-२२३ (हिन्दी अनुवाद, पृ० १३६)।

पीठ, पीठ-देवता, शशि, सूर्य, नभ, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सम्पूर्ण लोक, शरीर में ही है।

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयेः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥[1]

भूमण्डल के आधार मेरु पर्वत के समान मानव शरीर का आधार मेरुदण्ड है। कहा जाता है कि इसकी रचना तैंतीस अस्थिखण्डों के योग से हुई है। सम्भव है यह तैंतीस कोटि देवताओं का प्रतीक या प्रजापति, इन्द्र, अष्टवसु, द्वादश आदित्य और एकादश रुद्र का प्रतीक है। मेरुदण्ड का निचला भाग नुकीला किन्तु छोटा है। इसका समीपवर्ती भाग कन्द कहलाता है। इसी को महाशक्ति कुण्डलिनी का अधिष्ठान माना गया है।

शरीर में ७२००० नाड़ियाँ की स्थिति बताई जाती है जिनमें १४ प्रमुख हैं और इनमें भी ३ सर्वप्रमुख हैं—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना। मेरुदण्ड के बाहर बाईं ओर से इडा तथा दाईं ओर से पिङ्गला लिपटी हुई हैं। मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्ना नाड़ी कन्द से होकर सहस्रार (ब्रह्मरन्ध्र) तक जाती है। कदलीस्तम्भ की पर्त के समान सुषुम्ना के अन्दर वज्रा, चित्रिणी (चित्रा) और ब्रह्मनाड़ी है। इसी ब्रह्मनाड़ी के द्वारा यौगिक क्रियाओं के प्रभाव से महाशक्ति कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र तक जाकर पुनः लौटती है। ब्रह्मनाड़ी में ही षट्चक्रों की अवस्थिति है। इन्हीं चक्रों का भेदन करती हुई कुण्डलिनी सहस्रार तक जाती है। प्राणायाम से यह महाशक्ति जागृत होकर विद्युल्लता के रूप में ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होकर ऊपर ऊर्ध्वगमनशील होती है। इस प्रकार भी साधना करने वाला योगी "ऊर्ध्वरेतस्" कहलाता है। चक्रों के देव तथा शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. मूलाधार	—ब्रह्मा	—डाकिनी
२. स्वाधिष्ठान	—विष्णु	—राकिणी
३. मणिपूर	—रुद्र	—लाकिनी
४. अनाहत	—ईशानरुद्र	—काकिनी
५. विशुद्ध	—पंच-वक्त्र सदाशिव	—शाकिनी
६. आज्ञा	—इतर लिंग	—हाकिनी

---

१. शिवसंहिता, २.१, २।

दलों के वर्णों (रंगों) की वैज्ञानिकता :—

यह समझ लेना समीचीन नहीं है कि विभिन्न चक्रों के दलों को विभिन्न रंगों से रंगा गया है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक चक्र के दल भिन्न-भिन्न वर्णों के हैं जिसका कारण वैज्ञानिक ही है। रुधिर के रक्त वर्ण पर भिन्न-भिन्न तत्त्वों (क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम (के प्रतिबिम्ब पड़ने से रुधिर के रंग में विभिन्न स्थानों पर जो विकार पाया गया है वही उस नाड़ी पुंज (चक्र) का रंग (वर्ण) कहा गया है। यथा—रुधिर में मिट्टी मिला देने से मटियाला पीला रंग हो जाता है, जल मिला देने से गुलाबी, अग्नि पर गर्म करने पर नीला, शुद्ध वायु में गहरा लाल, घन आकाश में धूमिल हो जाता है।

दलों के अक्षर :—

दलों पर ध्यान किये जाने वाले अक्षरों की भी वैज्ञानिकता है। बोलने के समय वायु के आघात से जो दल जिस अक्षर को उत्पन्न करता है, वही उस दल का अक्षर माना गया है।

चक्रों के मंत्र :—

मूलाधारादि चक्रों के मन्त्र क्रमशः चतुष्कोण, अर्धचन्द्राकार, त्रिकोण, षट्-कोण, गोलाकार, लिङ्गाकार तथा पूर्ण चन्द्राकार हैं। तात्पर्य यह है कि यह नाड़ियों का समूह (चक्र) वायु के आघात से भिन्न-भिन्न तत्त्वों के स्थान में विशेष-विशेष रूप की आकृति ग्रहण करता है, जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला वायु के आघात से नाना रूप की दीख पड़ती है।

तत्त्वों के बीज :—

किसी इंजिन में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ वायु के प्रवेश से विशेष प्रकार के शब्द उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार शरीर में स्थित तत्त्वविशेषों के स्थान पर वायु के संचार से भिन्न-भिन्न प्रकार का शब्दन होता है—यही उस चक्र का बीज मन्त्र है। जैसे—पृथ्वी तत्त्व के स्थान पर मल निकलने से लं लं लं ध्वनि होती है, मूत्राशय के स्थान पर जल तत्त्व के प्रवाह के कारण वायु वं वं वं शब्दन करती है, अन्नादि के पाचन के समय नाभि-स्थान (अग्नि तत्त्व) से वायु सञ्चार रं रं रं ध्वनि के साथ होता है। उसी प्रकार हृदय (वायु तत्त्व) से यं यं यं तथा कण्ठ (आकाश) से हं हं हं शब्दन होता है।

बीजों के वाहन :—

विभिन्न चक्रों में बीज-मन्त्रों के वाहन भिन्न-भिन्न हैं। इसका स्पष्टीकरण यह है कि उन-उन स्थानों पर वायु-गति उन-उन पशुओं की तरह होती है।

यथा—बोझिल पृथिवी तत्त्व के कारण वायु की गति हाथी की तरह मन्द रहती है। जल-तत्त्व प्रवहमाण होने के कारण वायु की गति मकर की तरह, पात्र में भोजन पकते समय वायु की बुद्‌बुदाहट के समान जठराग्नि के कारण वायु की गति मेढ़े (मेष) की तरह, हृदय में वायु तत्त्व की प्रधानता के कारण वायु की गति हिरण (मृग) की तरह छलाँग मारकर चलने वाली तथा कण्ठ-स्थान में व्योम तत्त्व की विभुता (विशालता) के कारण वायु की गति हाथी की तरह हो जाती है। बालापद्धति के अनुसार चक्रों के देव और देवियाँ कुछ भिन्न हैं—

गणेश्वरो विधिर्विष्णुः शिवो जीवो गुरुस्तथा ।
षडेते हंसतामेत्य मूलाधारादिषु स्थिताः ॥

और इनकी शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

शक्तिः सिद्धिर्गणेशस्य ब्रह्मणश्च सरस्वती ।
लक्ष्मीनारायणस्यापि पार्वती च पिनाकिनः ॥
अविद्या चैव जीवस्य गुरोर्ज्ञानं परापरम् ।
मोक्षबीजात्मिका विद्या शक्तिश्च परमात्मनः ॥

कंद की अवस्थिति :—

लिङ्ग और गुदा के मध्य मेरुदण्ड का अधःप्रदेश सामान्य रूप से कन्द का स्थान माना गया है। फतेहगढ़ जिले के शृङ्गीरामपुर नामक स्थान से श्री भगवती प्रसाद सिंह ''डिप्टी कलेक्टर'' को प्राप्त[1] एक चित्र में कन्द का स्थान नाभि दिखाया गया है। यहीं पर प्राप्त एक अन्य चित्र में नीचे की ओर सात लोक शेषनाग तथा आदि कूर्म भी चित्रित हैं, जो केवल इसी चित्र की विशेषता है। इस चित्र में "गर्भपुर नामक स्थान के ऊपर कुण्डलिनी की अवस्थिति है। इसके ऊपर हृत्पुण्डरीक है।[2]

एक अन्य पाश्चात्य विचारक के अनुसार महाशक्ति कुण्डलिनी अनाहत चक्र (हृदय) के पास होती है जिसकी रचना पेरिस से प्रकाशित एक पुस्तक Theosophica Practice में उपलब्ध होती है।[3] जर्मन दार्शनिक गिरवनेल के अनुसार मूलाधारादि के सहस्रार तक के चक्रों का सम्बन्ध चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मङ्गल, बृहस्पति तथा शनि से है।

---

१. कल्याण शक्ति अङ्क, पृ० ४५४।
२. वही।
३. वही, पृ० ४५५।

कुण्डलिनी-जागरण के सोपान—

साधना-जगत् में कुण्डलिनी-जागरण के लिये निम्नलिखित सोपान स्वीकार किये गये हैं :—

१. शोधन (षट्कर्म)

२. प्राणायाम और उसके भेदों का अभ्यास।

३. मुद्रा

४. षट्चक्रों की भावनायें—

(क) भस्त्रिका प्राणायाम के दोनों प्रकार—५ से २५ प्राणायाम

(ख) शक्ति चालिनी मुद्रा के दोनों प्रकार—५ से १० प्राणायाम

(ग) ताड़न मुद्रा—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (बार)

(घ) परिधान युक्तिचालन—४ प्राणायाम में १०१ संख्या (बार)

(ङ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की मानसिक क्रियायें या संयम

(च) महामुद्रा

(छ) महाबन्ध

(ज) महावेध उभय प्रकार

(झ) विपरीतकरणी मुद्रा

(ञ) शेष समय में षट्चक्र-भेदन की क्रिया

षट्चक्र-भेदन क्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक चक्र के स्थान दल, उनके वर्ण, अक्षर, मन्त्र, तत्त्व, अधिष्ठान, देव-शक्ति, उनके वाहन, बीज मंत्र, लोक, गुण, इन्द्रिय आदि का ध्यान करना चाहिये।

यह अभ्यास नियमित होना चाहिये। साधना में पहले तो शरीर से स्वेद निकलेगा किन्तु बाद में विद्युत् के समान शरीर में चमक उत्पन्न होगी। कुछ दिन के बाद चींटी के चलने के समान प्राण-शक्ति-गमन की अनुभूति होगी। तभी धीरे-धीरे मूलाधार का भेदन और कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन का अनुभव होगा।

शक्ति का जागरण :—

सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार वज्रासन में मूलबन्ध करके (अर्थात् दाहिने पैर की एड़ी से गुदा और शिश्न के बीच चार अङ्गुल की जगह में १½"—१½" ऊपर नीचे छोड़कर बचे हुये ?" इंच के स्थान को दबाकर तथा पूरक के साथ-साथ मूलबन्ध करके) पीठ के नीचे के हिस्से को थोड़ा ऊपर की ओर खींचे। यह कार्य सहज भाव से होना चाहिये। इसके बाद जालन्धर तथा उड्डीयानबन्ध लगाना चाहिये। ऐसा करने से अपान वायु ऊपर की ओर उठकर विशालता को प्राप्त

कर रोगों का विनाश करती हैं तथा पृथ्वी और जल के अंश का संयम करती है। वज्रासन की उष्णता कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करती है।

(ज्ञानेश्वरी, अध्याय ६/१९२-२२१ का हिन्दी अनुवाद, पृ० १३४/३६)

सन्त ज्ञानेश्वर कुण्डलिनी-जागरण का प्रतीकात्मक वर्णन करते हुये कहते हैं कि जब कुण्डलिनी जागृत होती है, उस समय वह ऊपर की ओर मुंह फैलाकर बड़े वेग से झटका देती है। लगता है कि बहुत भूखी है तथा कुछ खाने के लिये अधीर हो गई है। इस स्थिति में यह क्षिति और अप् के भाग को चट कर जाती है, यद्यपि अभी वह अपने स्थान से हटती नहीं। अर्थात् वह हथेलियों और पाँव के तालुओं को शोधकर उनका रक्त मांसादि खाकर ऊपर के चक्रों को भेदती है। प्रत्येक अङ्ग के जोड़ तथा नखों के सत्त्व को भी निकाल लेती है। त्वक् के मल को धो-पोछकर स्वच्छ करके उसे अस्थिपंजर से सटाये रहती है। पृथिवी और जल को आत्मसात् करने पर तृप्त होकर सुषुम्णा के समीप शान्त भाव में पड़ी रहती है। इस समय उसके मुंह से निकले हुये (गरल रूप) अमृत का पान कर प्राणवायु जीवित रहता है। यह अमृत उसके मुंह में तब गिरता है जब वह जागती है, जागकर मुंह फैलती है तब ऊपर का चन्द्रामृत सरोवर उलट जाता है। इस समय वह अमृत-रस सर्वाङ्ग में भर जाता है और योगी दिव्य शान्ति को प्राप्त करता है।

कुण्डलिनी जागृत होने पर साधक की पपड़ी सी सूखी त्वचा भूसी की तरह निकल जाती है और साधक की देह-कान्ति केसर के रंग या रत्न रूप बीच की कोंपल, सान्ध्यनभलाली, आत्म-चैतन्य-तेज, कनक चम्पा की कला, अमृत के पुतले, कोमलता की बहार, शारदीय पूर्णिमा की आर्द्रता में चन्द्र-बिम्ब की शोभा के समान हो जाती है। यहाँ पर उसे लघिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा क्षिति और जल-तत्त्व के अंशों के विलय के कारण शरीर वायु जैसी हल्की हो जाती है। इस समय साधक को समुद्र पार की वस्तु को देखने, स्वर्ग में होने वाले विचारों के सुनने, चींटी के भी मन की बात जान लेने, पैरों को बिना आर्द्र किये जल के ऊपर चलने जैसी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इसके बाद जागृत कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होकर तेज का लय करती है। इस समय देह वायु का रूप बन जाती है। इस समय मनोनिग्रह, प्राण वायु का निरोध तथा ध्यान करने की इच्छा समाप्त हो जाती है। इस समय साधक खेचर की स्थिति में होता है। वह संसार की आँखों से छिप सकता है। इस अवस्था से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इसके बाद वायु तत्त्व भी ऊपर की ओर आकाश तत्त्व में जाकर विलीन हो जाता है। इस समय कुण्डलिनी का नाम "मारुत" होता है किन्तु शिव के

साथ मिलने के पूर्व तक उसमें शक्तिमत्व रहता ही है। तत्पश्चात् आकाश का आकाश में मिलन होता है। यह "अनिर्वाच्य महासुख" की अवस्था है। यहाँ पर शब्द और मन की सीमा समाप्त हो जाती है। कुण्डलिनी के जागृत होने पर जीव आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।[1]

इस प्रक्रिया के लिये अश्विनी मुद्रा का अभ्यास आवश्यक है। जिसके द्वारा प्राण वायु और अपान वायु को क्रमशः पूरक तथा सङ्कोचन-शिथिलीकरण क्रिया का अभ्यास करके शोधन लक्ष्य को सम्पन्न किया जाता है।

यहाँ पर "शक्ति चालन" की भी अपरिहार्यता होती है। इस मुद्रा के द्वारा पेड़ू को दाहिने से वायें और बायें से दाहिनी ओर चक्राकार रूप में घुमाया जाता है। योनिमुद्रा के साथ ही शक्ति-सञ्चालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। अश्विनी मुद्रा के क्षरा-कन्द स्थान का तब तक सङ्कोचन करते रहना चाहिये जब तक कि प्रायः वायु का सुषुम्णा में प्रवेश न हो जाय! "हंसः" मन्त्र के द्वारा जागृत कुण्डलिनी "कुम्भक" के द्वारा ऊर्ध्वमुखी होती है। उस समय तक साधक शक्ति और शिव के साथ ऐक्य की अनुभूति करते हुये मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अनुभव करने लगता है।

महाबन्ध के साथ महामुद्रा तथा महावेध का अभ्यास करना चाहिये। जब कुण्डलिनी जागृत होती है उस समय सुषुम्णा में प्राण का प्रवेश होता है तथा इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ निर्जीव हो जाती हैं। महाबन्ध आसन की अवस्था में स्थित होकर साधक महावेध के अभ्यास के समय प्राण-वायु को ऊपर की ओर तथा नीचे की ओर करता रहता है। योगी महाबन्ध की अवस्था में हथेलियों को जमीन पर रखकर अपने चूतड़ से पृथिवी पर थपथपाता है, इस समय प्राण वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होने पर इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा एक साथ हो जाती हैं। उस समय शरीर मृततुल्य हो जाता है।[2]

कुण्डलिनी-जागरण की एक दूसरी प्रक्रिया यह भी है कि योगी वज्रासन साधकर नली (पैर के नीचे वाली गाँठ) के थोड़ा ऊपर होकर कन्द-स्थान को थपथपाये और भस्त्रिका कुम्भक करके पेड़ू का संकोचन करें।[3]

खेचरी मुद्रा वह मुद्रा है जिसके द्वारा जिह्वा को भ्रूमध्य तक लम्बा करके नासारन्ध्रमूल को भीतर से उलटी होकर अवरुद्ध करती है। इस समय मन की

---

१. ज्ञानेश्वरी, ६/२५३-३२७ का हिन्दी अनुवाद, पृ० १३८-१४३।

२. द सरपेन्ट पावर, पृ० २०६।

३. घेरण्डसंहिता, ३/११४।

एकाग्रता का अभ्यास आज्ञा चक्र में तब तक चलता रहता है जब तक ऊर्ध्व-कुण्डलिनी पथ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर विजय प्राप्त कर सिद्धि नहीं प्रदान करता। सम्प्रति योगी आत्मा से अभिन्न हो जाता है। शाम्भवी मुद्रा मन के द्वारा मन को सदा वृत्तियों से मुक्त रखना चाहिये।

इस प्रसङ्ग में तीनों बन्ध भी आवश्यक है—पूरक के प्रारम्भ में मूलबन्ध, पूरक के अन्त और कुम्भक के प्रारम्भ के साथ जालन्धर-बन्ध तथा कुम्भक के अन्त में और रेचक के प्रारम्भ के साथ उड्डीयानबन्ध का अभ्यास करना चाहिये। मूलबन्ध के द्वारा प्राण और अपान वायु का मिलन होता है, और वायु सुषुम्णा में प्रवेश करती है। तभी अनहद नाद का श्रवण होता है तथा प्राण और अपान वायु अनाहतचक्र के नाद के साथ मिलकर हृदय में प्रवेश करती है और इसके बाद आज्ञा-चक्र में बिन्दु के साथ मिल जाती है।[1]

मूलबन्ध में योनि-स्थान को पैर की एड़ी से दबाया जाता है तथा अश्विनी-मुद्रा के द्वारा अपान वायु को ऊपर खींचा जाता है। ऐसा करने से अपान वायु सुषुम्णा से ऊर्ध्वमुखी होकर प्राणवायु से मिलती है। इस समय नाभि का अधोभाग वह्नि का त्रिकोण मण्डल अपान वायु के द्वारा झकझोरे जाने पर प्रकाशित हो उठता है—

अपाने ऊर्ध्वगे-जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥[2]

इस समय शरीर में उष्णता की अधिकता हो जाती है तथा इस उष्णता का अनुभव करके कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था छोड़कर जागृत हो उठती है। तब यह सुषुम्णा में प्रवेश करती है। इस समय जालन्धर-बन्ध करना चाहिए। इससे षोडशदल चक्र बँध जाता है और तालु-गह्वर से अमृत प्रवाह आरम्भ होने लगता है तथा इससे श्वास का सुषुम्णा में लय हो जाता है।[3]

यदि कन्द और कण्ठ स्थान एक साथ ही आकृष्ट (सङ्कुचित) किये जायें तथा प्राण वायु को नीचे की ओर तथा अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट किया जाय तो वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होता है। महाबन्ध से इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा का परस्पर मिलन होता है तथा मन की आज्ञाचक्र में स्थिरता होती है। सिद्धासन में स्थित होकर कन्दस्थान में दबाव डालना चाहिये तथा जालन्धर-बन्ध

---

१. द सरपेन्ट पावर, पृ० २०९।
२. हठयोग प्रदीपिका, ३/६६।
३. दि सरपेन्ट पावर, पृ० २१०।

साधना चाहिये। जब मन सुषुम्णा में केन्द्रित हो जाय तब वायु को खींचना चाहिये। वायु को अधिक देर तक रोकना चाहिये। इस बन्ध का प्रयोजन है सुषुम्णा के अतिरिक्त सभी नाड़ियों से वायु के ऊर्ध्वगमन को रोकना।[1]

नाड़ी शोधन की उपयोगिता—

नाड़ो-शोधन के बिना शुद्ध प्राणायाम सम्भव नहीं है। यह शोधन समनु (मन्त्रयुक्त) तथा निर्मनु (मन्त्ररहित) भेद से दो प्रकार का होता है। समनु में योगी गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि से गुरुन्यास पद्मासन में स्थित होकर करता है। और यं बीज मन्त्र का ध्यान इड़ा से पूरक के समय १६ बार, कुम्भक में ६४ बार तथा सूर्य नाड़ी से रेचक में ३२ बार ध्यान करना चाहिये। इसके बाद योगी नासाग्र पर दृष्टि स्थिर करके चन्द्रप्रकाश का ध्यान करता है। तथा पूर्वोक्त विधि से इड़ा नाड़ी से रं बीज मन्त्र का १६ की संख्या में पूरक, बीज मन्त्र का ६४ की संख्या में कुम्भक तथा रं बीजमन्त्र का ३२ की संख्या में जप करना चाहिए। कुम्भक के समय योगी को यह अनुभव करना चाहिए कि अमृतरस से सराबोर हो रहा है और उसकी नाड़ी शुद्ध हो रही है। इसके बाद साधक कुशासन या मृगचर्म पर बैठे तथा उत्तर या पूर्वाभिमुख होकर प्राणायाम करे। इसके अभ्यास के लिए उचित स्थान, समय और भोजन का विशेष महत्व रखना चाहिए। स्थान इतनी दूर नहीं होना चाहिए जिससे व्याकुलता उत्पन्न होने लगे। असुरक्षित, शहर, भीड़ पर्यावरण वाला क्षेत्र भी नहीं होना चाहिए जिससे विघ्न आदि की सम्भावना समाप्त रहे। भोजन शाकाहारी तरह का होना चाहिए। न अधिक उष्ण, न अधिक शीत, तीक्ष्ण, अम्ल या कटु ही होना चाहिए। योगी को तीन घण्टे (एक प्रहर) से अधिक बिना भोजन के नहीं रहना चाहिए। भोजन हल्का और पौष्टिक हो। अति भ्रमण, तीव्र व्यायाम, नये साधक के लिए लैङ्गिक सम्बन्ध बिलकुल बचाना चाहिए। उदर अर्ध-आपूरित ही हो। वसन्त या पतझड़ में योग का प्रारम्भ करना चाहिए। "सगर्भ" प्राणायाम में साधक को रजोगुण युक्त अरुणिम अकार मूर्ति, ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए। इडा से वह १६ बार अकार का जप पूरक के साथ करे। कुम्भक के पहले वह उड्डीयान मुद्रा करे। तत्पश्चात् कुम्भक में सत्वमय विष्णु का तथा "उ" कृष्ण बीजमन्त्र का ६४ बार मनन करके ध्यान करे। इसके बाद तमोमय शिव तथा उनके श्वेत बीज मकार का पिंगला के द्वारा रेचक में ३२ बार जप करके उसी बीज मन्त्र का उसी संख्या के अनुपात में जप करना चाहिए।[2]

---

१. दि सरपेन्ट पावर, पृ० २११।

२. वही, पृ० २१६।

लययोग की उपयोगिता

१. सर्वप्रथम योग के दो मार्ग बताये हैं १. ध्यानयोग या भावनायोग और २. लययोग या कुण्डलिनीयोग। भावनायोग या ध्यानयोग के अन्तर्गत भी ज्ञाननिष्ठ क्रिया, मन्त्र या हठयोग की सहायक क्रिया (कुण्डलिनी जागरण को छोड़कर) और वैराग्य के द्वारा समाधि की प्राप्ति की जाती है। द्वितीय मार्ग—कुण्डलिनीयोग या लययोग के अन्तर्गत ज्ञानात्मक क्रिया की उपेक्षा नहीं की जाती है। इसके साथ ही सम्पूर्ण शरीर की सर्जनात्मक तथा अवरोधक शक्ति का सम्बन्ध परम चैतन्य से किया जाता है और योगी को उस तत्त्व की प्राप्ति होती है जिसकी प्राप्ति ज्ञानयोगी को सीधे ध्यानयोग के द्वारा होती है।[1]

२. तन्त्र शास्त्र में जीव-ब्रह्म का मिलन "मैथुन" कहा जाता है। यह मिलन दो प्रकार का होता है—१. स्थूल-परमात्मा की मूर्तिमत्ता का मिलन तथा २. सूक्ष्म-परमात्मा के प्रशान्त तत्त्व के साथ मिलन। यही मोक्ष-प्रदायी होता है।[2]

३. ध्यानयोगी के समान हठयोगी भी अपनी इच्छा से ही देहपात करता है। वह प्रतिक्षण शरीर को पुष्ट, नीरोग तथा दीर्घजीवी रखने का प्रयास करता रहता है।[3] वैसे मृत्युराहित्य की अपेक्षा मुक्ति प्राप्त करना आसान है।

४. हठयोग के सात भेदों (शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तत्व) में निर्लिप्तत्व के अन्तर्गत लययोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यष्टि और समष्टि-शरीरों को नियन्त्रित करने वाले नियमों के अनुसार प्रकृति-शक्ति को पुरुष-शक्ति में विलय करने वाली चित्तवृत्ति के निरोध में हठयोग की अवस्थिति स्वीकार की जाती है।[4] हठयोग और मन्त्रयोग शारीरिक व्यापारों से पूर्णरूपेण सम्बद्ध नहीं हैं। फिर भी से सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करते हैं। शरीर के अन्तर्जगत् के परा अनुभूयमान शक्ति और व्यापारों तथा परा अनुभूयमान पीठ, (चक्र) से हठयोग का सम्बन्ध है। इस योग का लक्ष्य है समाधि अवस्था में मूलाधारस्थ प्रकृति-शक्ति का सहस्रारस्थ सच्चिदानन्दमय परमात्मा में विलय करना। हठयोग में ज्योतिर्ध्यान का विशेष विधान है। अनवरत अभ्यास से प्रकृति-शक्ति के रूप में कुलकुण्डलिनी के जागृत होने पर इसके प्रतिबिम्बन का आभासन भ्रू-मध्य

---

१. दि सर्पेण्ट पावर, पृ० २९७-९८।
२. वही, पृ० २९६।
३. वही पृ० २९३।
४. वही, पृ० २२२।

मध्य में प्रकाश के रूप में होने लगता है। इसके लिए भी बिन्दु-ध्यान का सह-अभ्यास आवश्यक है। कुण्डलिनी-जागरण के लिग यम, नियम, आसन और मुद्रा आदि स्थूल क्रियाओं तथा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि सूक्ष्म क्रियाओं का विधान है और अन्तः प्रकृति शक्तियों तथा नादबिन्दु से समाधि की ओर अग्रसर होने वाली लयक्रिया (महालय) आदि कुण्डलिनी-जागरण के साधन कहे गये हैं।[1]

नाद-श्रवण को प्रत्याहार के अन्तर्गत तथा कुण्डलिनी-जागरण को धारणा के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। लययोग का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव "धारणा" है। साधना-जगत् में प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भिक सोपान है। "श्वसन" पर अधिकार करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक है। कहा जाता तो यहां तक है कि एक विशेषज्ञ साधक आधे घण्टे में ही कुण्डलिनी का जागरण कर सकता है।[2] कहा जाता है कि जिस प्रकार कुंचिका से हठात् कपाट का उद्घाटन होता है उसी प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा मोक्षद्वार का विभेदन किया जाता है—

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥[3]

अधोगामी स्थूलवीर्य के प्रवाह के बदले सूक्ष्म-शक्ति के रूप में उसे परिवर्तित करके प्राण के साथ शिव तक ऊर्ध्वमुखी कर देना ही हठयोग का लक्ष्य है। भौतिक मृत्यु के स्थान पर आध्यात्मिक जीवन का यह एक साधन है। लैङ्गिक-वासना का शमन हो जाने पर मन समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[4]

नाड़ी और चक्रों की उपयोगिता :—

योगशास्त्र में निर्दिष्ट शारीरिक क्रियाओं की सहायता से इच्छाशक्ति और योगबल के द्वारा कुण्डलिनी का जागरण किया जा सकता है। साधक एक निर्दिष्ट आसनबद्ध होकर भ्रूमध्य में ध्यान को केन्द्रित करके खेचरी मुद्रा के द्वारा मन को दृढ़ करता है। प्राणायाम के अन्तर्गत पूरक करके कुम्भक का साधन कर जालन्धर-बन्ध के द्वारा शरीर का संकुचन करना चाहिए। इस प्राणवायु को

---

१. दि सर्पेण्ट पावर, पृ० २२३।
२. वही, पृ० २२३-२४।
३. हठयोग प्रदीपिका, ३/१०५।
४. योगकुण्डली उपनिषद्, अध्याय १।

अवरुद्ध किया जाता है। अब प्राणवायु का बहिर्गमन रुक जाता है। जब योगी कण्ठ से पेडू पर्यन्त की वायु का नाड़ियों के चक्र से होकर अधोप्रवाह समझ लेता है तब अपान-वायु का बहिर्प्रवाह भी अश्विनीमुद्रा और मूलबन्ध के द्वारा अवरुद्ध किया जाता है। इस प्रकार संग्रहीत वायु मन और इच्छा से निर्दिष्ट होने पर मूलाधार में प्राणशक्ति का तत्त्व हठात् अनुभूत होने लगता है।

ध्यान और निर्दिष्ट मन्त्र-जप के द्वारा जीवात्मा हृद्स्थान से मूलाधार की ओर ले जाया जाता है। ध्यान के साथ मूलाधार चक्र में अवरुद्ध वायु के प्रभाव से यं बीज के द्वारा पुनः वायु को ऊर्ध्वमुखी किया जाता है। कन्दर्प वायु को वाम से दक्षिण की ओर आघात दिया जाता है। कुम्भक में प्राण और अपान के दबाव से सहज उष्णता का प्रादुर्भाव होता है। और वह्नि बीज "रं" कामाग्नि को उत्तेजित कर देता है। यह कामाग्नि घेरकर सुषुप्त कुण्डलिनी को जागृत कर देती है। इस प्रकार शक्ति, ऋण-धन-विद्युत् के समान शिव तक आकृष्ट हो जाती है।[1]

आनन्दलहरी की टीका[2] के अनुसार ब्रह्माण्ड में सूर्य और चन्द्र देवयान या पितृयान में जिस प्रकार भ्रमण करते रहते हैं उसी प्रकार वे दोनों सूक्ष्म-जगत् में इड़ा और पिंगला के द्वारा रात-दिन विचरण करते रहते हैं। चन्द्र, वामनाड़ी इड़ा से विचरण करता हुआ अपने अमृत से सम्पूर्ण शरीर-व्यूह को आर्द्र कर देता है और उधर सूर्य दक्षिण नाड़ी (पिङ्गला) से विचरण करता हुआ चन्द्र द्वारा अभिषिक्त काय-व्यूह को शुष्क करता रहता है। जब सूर्य और चन्द्र मूलाधार में मिलते हैं तो उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। मनो निग्रह से युक्त योगी जब चन्द्र तथा सूर्य को अपने-अपने स्थान में वाध्य कर देता है तव न तो चन्द्र इधर-उधर अपने अमृत को गिरा सकता है और न सूर्य उसे शुष्क ही कर सकता है। जब वायु की सहायता से अग्नि के द्वारा अमृतकोष शुष्क कर दिया जाता है तब कुण्डलिनी सर्प के समान फूफकार करती हुई भोजन के लिए जागृत होती है। वह ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ग्रन्थियों का भेदन करती हुई सहस्रार में जाकर चन्द्र को काट लेती है। तब सुधा-वर्षण होने लगता है और वह अमृत आज्ञा चन्द्रस्थ एक-दूसरे चन्द्रमण्डल को अभिषिक्त कर देता है। यहाँ से सम्पूर्ण शरीर अमृत से आर्द्र हो जाता है। इसके बाद चन्द्रमा की १५ कलायें विशुद्ध चक्र में जाकर विहार करने लगती है। सहस्रारस्थ चन्द्रमण्डल को वैन्दव भी कहते हैं। षोडशी कला वहीं रहती है। उसे त्रिपुरसुन्दरी कहते हैं। कुण्डलिनीयोग के साधक के लिए समीचीन है कि वह शुक्लपक्ष में ही यह साधना करे, कृष्णपक्ष में नहीं।

---

१. द सर्पेण्ट पावर, पृ० २३३-२३४।

२. पं० आर० अनन्तकृष्णशास्त्री द्वारा सम्पादित, पृ० ६९-७०।

जिस प्रकार अश्वारोही एक कुशल अभ्यस्त घोड़ी को लगाम के द्वारा आगे ले चलता है उसी प्रकार अपने ही द्वारा आवृत मुखद्वार से कुण्डलिनी चित्रिणी नाड़ी के प्रवेशद्वार मार्ग में प्रवेश करती है और प्रत्येक चक्र का भेदन करती हुई ऊर्ध्वगामी होती चली जाती है। ऐसा करने से प्रत्येक चक्र ऊर्ध्वमुखी हो जाते हैं। जीवात्मा से संयुक्त होकर कुण्डलिनी प्रत्येक चक्रों से यात्रा करते समय प्रत्येक के अधिष्ठातृ-तत्व को अपने में अन्तर्भूत कर लेती है। उर्ध्वगमन अवस्था में चक्रों के स्थूलतत्त्व क्रमशः विलय को प्राप्त होने लगते हैं और उनके स्थान पर कुण्डलिनी की सम्प्रभुता उपस्थित होती है। आज्ञाचक्र के बाद समस्त तत्त्वों का विलय हो जाता है। तब तत्त्वों के साथ कार्य करने वाली इन्द्रियों का भी विलय उस कुण्डलिनी में हो जाता है। इसके बाद वह आज्ञाचक्रस्थ सूक्ष्मतत्त्वों को भी विलीन कर लेती है। मूलाधार में कुण्डलिनी समस्त स्थूल पदार्थों (विराट्) की शक्ति है और सहस्रार में वह ईश्वर की शक्ति है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी आदि वाक्शक्तियाँ कुण्डलिनी ही है।[1] कुण्डलिनी सहस्रार की ओर प्रयाण करने पर वैखरी के रूप में सर्वप्रथम मूलाधार में स्वयंभू लिङ्ग को मोहित करती है। इसके बाद मध्यमा के रूप में हृद्स्थानीय अनाहत चक्रस्थ वाण लिङ्ग तथा उसके बाद पश्यन्ती रूप में आज्ञाचक्रस्थ इतर लिङ्ग को मोहित करती है। पर विन्दु में पहुँचने पर परावस्था को प्राप्त करती है।

कुण्डलिनी का प्रयाण स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है। मूलाधार में (पाद, प्राण और इन्द्रिय सहित) पृथिवी-तत्त्व गन्ध में विलीन होता है। गन्ध स्वाधिष्ठान की ओर ले जाया जाता है। यहाँ गन्ध तथा (जिह्वा) और हस्त इन्द्रियों के साथ अप्-रस में विलीन होता है। अब रस मणिपूर की ओर गतिशील होता है और वहाँ रस, तेज (अपनी चक्षु और वायु इन्द्रियों के साथ) रूप में, अनाहत में तथा वायु का स्पर्श में विलय होता है। अब स्पर्श विशुद्धचक्र स्थान पर पहुँचता है और वहाँ पर स्पर्श तथा (श्रोतृ और वाक् इन्द्रिय सहित) आकाश, शब्द में विलीन होता है। इसके बाद शब्द आज्ञाचक्र में प्रयाण करता है। यहाँ पर और इसके आगे शब्द का मन में, मन का महत्तत्व में, महत्तत्व का सूक्ष्म प्रकृति में, परविन्दु से संयुक्त होकर सूक्ष्म प्रकृति का सहस्रार में विलय होता है। आज्ञाचक्र से सहस्रार तक लय की विभिन्न अवस्थाएँ बतायी गयी है—नाद का नादान्त में, नादान्त का व्यापिका में, व्यापिका का समनी में, समनी का उन्मनी में और उन्मनी का विष्णुवक्त्र (पुं विन्दु) में विलय स्वीकार किया जाता है।[2] इस प्रकार

१. मायातन्त्र, श्लोक ५१, दि सरपेण्ट पावर, पृ० २३६ पर उद्धृत।
२. वही, श्लो० ५२ (वही, पृ० २३७ पर उद्धृत)।

नाना वर्णों वाले दल विशिष्ट चक्रों का भी लय हो जाता है।

इस प्रकार मूलाधारस्थ ब्रह्मा, सावित्री, डाकिनी आदि देव-मातृकायें और वृत्तियां, लं बीज तथा मही मण्डल आदि सब कुछ कुण्डलिनी में अन्तर्भूत हो जाता है। जब कुण्डलिनी मूलाधार चक्र को छोड़ती है उस समय कुण्डलिनी-जागरण के प्रभाव से जो दल उद्घाटित और ऊर्ध्वमुखी हो गए थे, पुनः बन्द और अधोमुखी हो जाते हैं। कुण्डलिनी के स्वाधिष्ठान में पहुँचने पर चक्र के दल ऊर्ध्वमुखी हो जाते हैं तथा विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती, शाकिणी, मातृकायें, वृत्तियाँ, वैकुण्ठधाम, गोलोक, देव-देवियां कुण्डलिनी-काया में विलय को प्राप्त हो जाती हैं। धराबीज "लं" का अप् में विलय होता है तथा अप् अपने बीजमन्त्र "वं" में विलीन हो जाता है। यही "वं" बीज ही कुण्डलिनी के शरीर के रूप में अवस्थित होता है। जब कुण्डलिनी मणिपूर में पहुँचती है, चक्रस्थ समस्त अवयव उसमें विलीन हो जाते हैं। वरुण बीज "वं" भी अग्नि में विलीन हो जाता है। यहां अग्नि का बीज "रं" कुण्डलिनी के शरीर के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके बाद शक्ति अनाहतचक्र (विष्णु ग्रन्थि) में प्रवेश करती है। वहाँ के समस्त तत्त्व शक्ति में विलीन हो जाते हैं। यहाँ पर अग्नि बीज "रं" वायु में विलय हो जाता है। अब कुण्डलिनी वायु के बीज "यं" के रूप में अवस्थित होती है। तत्पश्चात् शक्ति, भारती या सरस्वती के स्थान विशुद्ध चक्र में प्रवेश करती है। इस समय अर्धनारीश्वर शिव शाकिनी, सोलह स्वर, मन्त्र आदि उस शक्ति में विलय को प्राप्त होते हैं। सम्प्रति वायु बीज "यं" का आकाश में विलय हो जाता है। और आकाश भी अपने बीज "हं" में परिवर्तित होकर कुण्डलिनी-काया में अन्तर्भूत हो जाता है। इसके बाद कुण्डलिनी गुप्त ललनाचक्र का भेदन करके आज्ञाचक्र में प्रवेश करती है जहाँ परमशिव, सिद्धकाली, देव और शक्तियाँ आदि सभी उसमें विलीन हो जाते हैं। इस समय व्योम का बीज "हं" आज्ञाचक्र के सूक्ष्म तत्त्व में तथा पश्चात् कुण्डलिनी के प्रयाण करने पर निरालम्बपुरी प्रणव, नाद और नादान्त आदि देवी में विलय को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यहां तक उस शक्ति में २३ तत्त्वों (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ तन्मात्रा, पञ्चभूत, मन, बुद्धि और सूक्ष्म प्रकृति) का विलय देखा जाता है। इसके बाद कुण्डलिनी परमशिव का सामरस्य लाभ करती है। यहाँ पर जीव को परमात्मा की अनुभूति कुमारी-स्त्री के सुख के समान होती है—

"स्वसंवेद्यम् एतद् ब्रह्म कुमारी-स्त्री सुखं यथा"।[1]

---

१. हठयोग० अध्याय १, श्लोक १५ की टीका।

साधक के शरीर में कुण्डलिनी शक्ति का शिव के साथ समागम को सात्त्विक पञ्चतत्त्व का मैथुन कहते हैं—

"सहस्रारोपरि विन्दो कुण्डल्या मेलनम् शिवे।
मैथुनम् परमं द्रव्यम् यतीनां परिकीर्तितम् ॥"[1]

शिव और शक्ति के सङ्गम के बाद अमृत धारा प्रवाहित होती है तथा समस्त चक्रों के देवताओं को अभिषिक्त करती रहती है।[2] आज्ञाचक्र तक गुरु-निर्देश आवश्यक होता है। इसके बाद साधक को स्वतः ब्रह्मस्थान की अनुभूति हो जाती है। आज्ञाचक्र के बाद गुरु-शिष्य-सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। १४ ग्रन्थियों (३ लिङ्ग, ६ चक्र, ५ शिव) का भेदन करके तथा परमशिव से प्रवाहित होने वाले अमृत का पान करके वह पुनः मूलाधार की ओर लौटती है। अब वह सृष्टि-क्रम-व्यापार को उत्पन्न करती है। इस समय पुनः समस्त चक्र अपने तत्त्वों सहित अपने अस्तित्त्व में आ जाते हैं।

कुण्डलिनी के जागृत होने पर प्रचण्ड उष्णता की अनुभूति होती है। जब कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होती है तो नीचे की वे सभी ग्रन्थियां शव के समान जड़ तथा अतिशीत हो जाती हैं जिन्हें कुण्डलिनी पार कर जाती है। इसके विपरीत सिर का उच्च भाग प्रभा से आपूरित हो जाता है। जिस समय योग पूरा होता है उस समय योगी अभ्यस्त आसन पर दृढ़ता से स्थित रहता है और उसके पूरे शरीर में उष्णता केवल शिरोभाग में देखी जा सकती है जहां शिव के साथ शक्ति का समागम हुआ रहता है। कुण्डलिनी के सहस्रार में पहुँचने पर समग्र शरीर निर्जीव सा लगता है। कुण्डलिनी का अवरोह-क्रम उष्णता, प्राणशक्ति तथा सहज चैतन्यावस्था के कारण जाना जाता है।[3]

कुण्डलिनी के आरोह और अवरोह-क्रम के लिए भूतशुद्धि का अभ्यास आवश्यक है। कुण्डलिनी-जागरण के लिए अपेक्षित प्राणायाम के अन्तर्गत पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात १ : ४ : २ होना चाहिए। जैसे "यं" बीजमन्त्र का बाईं नासिका से पूरक के समय श्वास लेते समय १६ बार जप, कुम्भक के समय ६४ बार तथा रेचक के समय ३२ बार जप करना चाहिए। कुम्भक के साधक को पेड़ू के वामगर्त में वायु के द्वारा शुष्क किये जाते हुए पाप-पुरुष का विचार करना चाहिए। इसके बाद मणिपूरस्थ बीजमन्त्र "रं" के साथ भी इसी प्रकार का

---

१. योगिनीतन्त्र, पटल ६, श्लोक ४१।

२. द सर्पेण्ट पावर, पृ० २४०।

३. वही, पृ० २४२।

प्राणायाम करना चाहिए। यहाँ भी कुम्भक के समय बीजमन्त्र का जप करते समय यह सोचना चाहिए कि पुरुष को भस्म किया जा रहा है तथा राख में मिलाया जा रहा है। इसके बाद साधक चन्द्र वीज "थं" तन्त्र पर ध्यान करता है। यह ध्यान भी पूरक, कुम्भक और रेचक के समय १६:६४:३२ के अनुपात में बीजमन्त्र के 'जप के साथ' आवश्यक है। यहाँ पर प्राणायाम के समय यह विचार करना चाहिए कि चन्द्र से डरते हुए अमृत के द्वारा एक नवीन और दिव्य शरीर की रचना हो रही है। जब बीज "वं" के द्वारा शरीर की उक्त रचना सतत रूप में चलती रहनी चाहिए। और इस शरीर को पृथिवी-तत्त्व से संयुक्त "लं" बीजमन्त्र के द्वारा पुष्ट तथा पूरा किया जाना चाहिए। इसके बाद साधक "सोऽहम्" मन्त्र के द्वारा जीवात्मा को हृदय में (स्व-स्थान पर) ले जाता है।

पहली वार में कुण्डलिनी सहस्रार में अधिक देर तक नहीं रुक सकती। वहाँ पर कुण्डलिनी के रुकने की अवधि योगी की अभ्यास-शक्ति पर अवलम्बित है। धीरे-धीरे कुण्डलिनी के अवरोह का एक संस्कार बन जाता है। अब योगी इस उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है कि उसकी कुण्डलिनी कम से कम परिश्रम में अधिक से अधिक देर तक सहस्रार में स्थिर रह सके। यह कहा जाता है कि जो साधक ३ दिन और ३ रात कुण्डलिनी को सहस्रार में अवस्थित किये रहता है वह समस्त सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।[1] मूलाधार से लेकर किसी भी चक्र में कुण्डलिनी को ऊर्ध्वमुखी कर देने से कुछ न कुछ सिद्धि अवश्य प्राप्त हो जाती है। किन्तु मुक्ति तो तब प्राप्त होती है जब कुण्डलिनी का स्थायी आवास सहस्रार में हो जाता है। यह भी कहा जाता है कि जो साधक कुण्डलिनी को स्थायी रूप से सहस्रार में नहीं रोक पाते हैं वे कुछ देर के लिए उस शक्ति को सहस्रार में रोक-कर पुनः हृदय में (अनाहत) में ले आकर उसकी पूजा करते हैं। इस साधना के प्रथम चरण में[2] साधक को शारीरिक तथा मानसिक सात्त्विकता की प्राप्ति होती है तथा ब्रह्मद्वार या सुषुम्णा के प्रवेश-द्वार का उद्घाटन होता है। जागृत होने पर कुण्डलिनी सहस्रार तक प्रकाश-रूप में हो जाती है।

कुण्डलिनी-जागरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा जीवात्मा का परमात्मा में विलय होता है। जो प्रत्येक भारतीय योग का परम लक्ष्य है। समयागम शास्त्रों के अनुसार कुण्डलिनी-जागरण की दो पद्धतियां विहित हैं—१. तप अथवा प्राणायाम २. मन्त्र जप। जपयोग मन्त्रों में पञ्चदशी सबसे महत्त्वपूर्ण है।[3]

---

१. दि सरपेण्ट पावर, एफ०एन०, पृ० २४४।

२. वही, पृ० २४४।

३. वही, पृ० २४७।

यह भी कहा जाता है कि यदि साधक एकाध चक्र का ही जागरण कर पाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है तो आगे के चक्रों का जागरण करने के लिए वह पुनः जन्म लेता है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान की साधना में साधक अपेक्षाकृत अधिक तामसी होता है और उसका अधिष्ठातृ-देव अग्नि होता है। आगे की दो अवस्थाओं में मणिपूर और अनाहत की साधना में साधक राजस गुण से युक्त होता है। यहाँ पर सूर्य को अधिष्ठातृ-देवता के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके वाद की दो अवस्थाओं में विशुद्ध और आज्ञाचक्र की साधना में साधक सात्त्विक गुण से युक्त होता है तथा उसका अधिष्ठातृ-देव चन्द्र है। किन्तु साधक जब तक सहस्रार तक की यात्रा नहीं कर लेता उसे शुद्ध सत्त्व की उपलब्धि नहीं हो पाती है। कुण्डलिनी-जागरण की यात्रा दो भागों में विभक्त की जाती है। प्रथम—मूलाधार से आज्ञा तक तथा द्वितीय—आज्ञा से सहस्रार तक। प्रकृति कुण्डलिनी चित् का स्थूलतम रूप है। जिस क्षण कुण्डलिनी जागृत होती है, वह उसकी कुमारी अवस्था कहलाती है। अनाहत पर पहुँचने पर वह योषित अवस्था तथा सहस्रार में पहुँचने पर वह "पतिव्रता" कही जाती है।[1] सहस्रार सदाशिव और चित् का मिलन स्थान है। चित् या शुद्धा विद्या को सदाख्या—१६वीं कला कहते हैं। कुण्डलिनी की पतिव्रता अवस्था के प्राप्त होने पर साधक जीवनमुक्त होता है।

शाक्त उपासना के अन्तर्गत कौल प्रसुप्त कुण्डलिनी (कुल) की पूजा करते हैं। मूलाधार से आगे वे कुण्डलिनी का जागरण नहीं करते। वे वामाचार की साधना करके कुछ सिद्धियों को प्राप्त कर आनन्द-लाभ करते हैं। वे आवागमन के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाते। वे कुण्डलिनी की पूजा तक छोड़ देते हैं। 'मिश्र' मत वाले स्वर्ण-निर्मित यन्त्रों पर सूर्य-मरुद् में शक्ति की उपासना करते हैं और कुण्डलिनी की पूजा तथा जागरण करते रहते हैं।

समय मार्ग के साधक को चाहिए कि वे पिण्डगत चक्रों में ही कुण्डलिनी की पूजा करें तथा वे शिव और शक्ति की पूजा अधिष्ठान साम्य (मूलाधार) अवस्था-साम्य (नर्तक) अनुष्ठान-साम्य (क्रियाशक्ति), रूपसाम्य (रक्तवर्ण), नामसाम्य (भैरव-भैरवी) के आधार पर करें।[2]

समय मार्ग में अनभ्यस्त साधक के लिए निम्नलिखित सोपान आवश्यक हैं—१. गुरु में असीम आदर और विश्वास २. गुरु से पञ्चदशीमन्त्र से दीक्षित

---

१. तैत्तिरीय आरण्यक, १-२७.१२ (वहीं पर २४६ पर उद्धृत)।
२. द सर्पेण्ट पावर, पृ० २५२।

होकर ऋषि, छन्द और देवता के साथ उसका जप करना, ३. आश्विन मास की शुक्लपक्ष की महानवमी को अर्धरात्रि के समय गुरु के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करके गुरु के किसी मन्त्र की तथा षट्चक्र-भेदन की दीक्षा लेना।[1]

मन्त्र, हठ और लययोग के द्वारा साधक सविकल्पक समाधि के योग्य हो जाता है। राजयोग के द्वारा वह निर्विकल्पक समाधि में प्रवेश करता है। कुण्डलिनीयोग इस योग की प्राथमिक प्रक्रिया है। मन्त्रयोग की समाधि में स्थिरता तथा मौन के द्वारा महाभावावस्था को प्राप्त किया जाता है और साधक शववत् हो जाता है। लययोग की समाधि में साधक का बाह्य चैतन्य संमाप्त हो जाता है और वह आनन्द के महासमुद्र में डूब जाता है। राजयोग की समाधि चित् स्वरूप-भाव तथा निर्विकल्प रूप है। योग की इन चार अवस्थाओं में, वैराग्य की ४ अवस्थायें होती हैं—मृदु, मध्यम, अधिमात्र और पर। राजयोग के १६ विभाग बताये गये हैं—सप्तविचार-ज्ञानदा, सन्यासदा, योगदा, लीलोन्मुक्ति, सत्पदा, आनन्दपदा और परात्परा; धारणाद्वय-प्रक्रियाश्रय तथा ब्रह्माश्रय; ध्यान त्रय-स्थूल, ज्योति तथा सूक्ष्म; समाधि चतुष्टय-ऋतम्भरा, प्रज्ञालोक, प्रशान्तवाहित, निर्विकल्पकत्व।

कुण्डलिनी शक्ति का विकास-क्रम :—

महाशक्ति कुण्डलिनी और उसका जागरण, साधना जगत् का एक गम्भीर रहस्य है। इसका स्वरूप वाणी का या भाषा का विषय नहीं बन सकता। यह पूर्णरूपेण साधना-गम्य है, जिसकी अनुभूति सच्चे साधक या योगी को ही हो सकती है। शास्त्रों के द्वारा तो हम उसके सैद्धान्तिक पक्ष का तात्पर्य समझ सकते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ प्रभृति हठयोग के प्रवर्तक आचार्यगण की दृष्टि में समस्त संस्कारों और कर्मों के विनाश के बाद परम पुरुषार्थ (मुक्ति) की उपलब्धि कुण्डलिनी-जागरण से ही सम्भव हैं। जिस कर्म, दान अथवा भक्ति से कुण्डलिनी जागृत हो सके, उसी कर्मादि की सार्थकता है।[2]

कुण्डलिनी के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट करना समीचीन प्रतीत हो रहा है कि इसके विकास पर दृष्टिपात करें। ऋषिकल्प महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज जी ने इस पर प्रकाश डाला है और उन्होंने अपने अध्ययन से यह स्वीकार किया है कि वैदिक वाङ्मय में इस विद्या का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त जैन-बौद्ध साहित्य में भी कुण्डलिनी या उसकी साधना

---

१. द सर्पेण्ट पावर, पृ० २५३।

२. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० ३०२।

का वर्णन नहीं मिलता। सम्भवतः पतञ्जलि ने भी इसकी ओर संकेत नहीं किया। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि यह "तन्त्रशास्त्र का गुह्य विषय है और कुछ यह स्वीकार करते हैं कि इस विषय से सम्बन्धित वर्णोपासना की प्रणाली भारत से बाहर "मग" देश से आई है। कविराज जी यही स्वीकार करते हैं कि भारतवर्ष में हठयोग और अक्षर-उपासना के नवीन आन्दोलन के समय ही कुण्डलिनी विद्या की स्थापना माननी चाहिये।[1]

तन्त्रशास्त्र को यदि वैदिक वाङ्मय का समकालीन मानें "वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुतिः कीर्तिता" तो कुण्डलिनी विद्या को उतना ही प्राचीन मान सकते हैं जितना प्राचीन तन्त्रों को। तान्त्रिक वाङ्मय में भी पूर्ववर्ती साहित्य यामल-गन्थों में कुण्डलिनी के स्वरूप, षट्चक्रों और उनके जागरण पर चर्चा होने के कारण यह निःसंदिग्ध कहा जा सकता है कि यह विद्या बहुत ही प्राचीन है। चूंकि यह हठयोग की साधना का विषय है, इसलिये जब से हठयोग का विकास हुआ तब से यह विद्या चर्चा की वस्तु स्पष्टरूपेण बन गई।

हठयोग के ग्रन्थों में कुण्डलिनी को अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। इसकी कुटिलाङ्गी, भुजङ्गी, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती आदि अनेक संज्ञायें हैं।[2] तान्त्रिक क्षेत्र में कुण्डलिनी की साधना "कुण्डलिनीयोग" के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप और जागरण-प्रक्रिया तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में अवश्य वर्णित है तथा भारतीय और पाश्चात्य विचारकों ने गहन चिन्तन करके शब्दों द्वारा इस महाशक्ति की व्याख्या अवश्य की है, तथापि यह महाशक्ति साधनागम्य ही है तथा वह साधना भी शत-प्रतिशत किसी परमेष्ठी गुरु की कृपा पर ही अवलम्बित होती है। शास्त्रों के द्वारा हमें इस परम शक्ति के स्वरूप, स्थान, जागरण के साधन, लाभ, प्रभाव आदि के विषय में जानकारी अवश्य होती है, किन्तु साधना-जगत् के सिद्ध योगी या महागुरु की सहायता, संरक्षण या निर्देशन के बिना साधना-विद्या का जिज्ञासु साधना के प्रारम्भिक अवयवों—आसन, शोधन, प्राणायाम, न्यास, बन्ध, मुद्रा, ध्यान आदि के यथार्थ प्रायोगिक ज्ञान से वंचित रह जाता है और उसे सिद्धि प्राप्त करना तो दूर की बात है, इसके विपरीत उसे भयंकर शारीरिक और मानसिक असन्तुलन का शिकार होना पड़ सकता है।

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग-१, पृ० ३०३।

२. कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दा पर्यायवाचकाः॥
—हठयोग प्रदीपिका, ३/१०४।

महाशक्ति कुण्डलिनी के दो स्वरूप कहे गये हैं—

१. कुण्डलिनी २. कुलकुण्डलिनी। कुलकुण्डलिनी ही महाकुण्डलिनी या ब्रह्मकुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है। इसका स्थान "सहस्रार" माना गया है मूलाधार चक्र में सुषुप्तावस्था में विद्यमान शक्ति "कुण्डलिनी" है, जो सर्वरूपिणी है और जीवात्मा के रूप में जानी जाती है।[1] यही जाग्रत होने पर षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में पहुँचकर अपनी दूसरी संज्ञा (कुलकुण्डलिनी) को चरितार्थ करती है! यही महाकुण्डलिनी मूल प्रकृति का संचालन करती है,[2] जो प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार—इन आठ भागों में विभक्त है।

तन्त्रशास्त्र में कुण्डलिनी को एक पारिभाषिक शब्द माना गया है। जिसका अर्थ "शब्द ब्रह्म" या "परावाक् शक्ति" है। सभी मन्त्र, देवता कुण्डलिनी की अभिव्यक्ति है। मन्त्र में प्रयुक्त मातृकाओं (वर्णों) से ही विश्व-सृष्टि होती है, वही नाद-शक्ति और सर्वशक्ति-सम्पन्न कला तथा परमेश्वरी है, वही निर्गुण ब्रह्म से प्रवहमान अमृतस्रोत-रूप है, वही ब्रह्म है, वह चित्-शक्ति वर्णों और शब्दों के रूप में प्रकट होती है। मातृकायें ही शाश्वत ब्रह्म का यन्त्र हैं। उनकी शक्ति जब मन्त्रशक्ति से मिलती है तब साधक शक्ति का साक्षात्कार कर पाता है। इसी शक्ति का सूक्ष्म रूप कुण्डलिनी है। उसका स्थूल रूप देवता का रूप है। कुण्डलिनी को अष्टप्रकृति-स्वरूपा कहा गया है।[3]

कुण्डलिनी को विद्युत् के समान भास्कर कहा गया है। मधुमक्खियों के गुञ्जार की ध्वनि के समान इसकी ध्वनि है। यह श्वास-प्रश्वास-रूप होने के कारण सभी जीवों की जीवनदात्री है। वह समस्त मातृकाओं की जननी होने से मन्त्रों की अधिष्ठात्री है, वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि-रूप में है तथा तीनों का कारण भी है।[4]

अध्यात्म-शास्त्रों के द्वारा यह प्रमाणित है कि-जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है। परम शिव अपनी महाशक्ति से संयुक्त होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-रूप पिण्ड में निवास करता है।[5] महाशक्ति कुण्डलिनी उस परमेश्वर की ही चेतना शक्ति है।

---

१. मूलाधारे तु या शक्तिर्भुजगाकाररूपिणी।
जीवात्मा परमेशानि तन्मध्ये वर्त्तते सदा ॥—मातृकाभेदतन्त्र

२. तन्त्रसाधनासार, पृ० २६।

३. शाण्डिल्य उपनिषद्, अध्याय-१, योग कुण्डलिनी उप०अ० १।

४. तन्त्रसाधनासार, पृ० २७।

५. विरूपाक्षपञ्चाशिका, १/२।

पिण्ड में उस शक्ति का स्थान शास्त्रों द्वारा स्वीकृत मूलाधार चक्र में है। जिस प्रकार पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण योग तन्त्रों का आधार कुण्डलिनी है।[1] मूलाधारचक्र लिङ्गमूल (अण्डकोश) से नीचे और गुदा द्वार से ऊपर (दोनों के बीच में—ध्वजोऽधो गुदोर्ध्वम्) स्थित है।[2] इसका क्षेत्र ४ अंगुल मान है।[3] यह स्थान कन्द और सुषुम्णा का सन्धि-स्थल है (कन्दसुषुम्णयोः सन्धिस्थानं संलग्नपत्रम्)।[4] कुण्डलिनी कन्द या कन्दयोनि स्थान पर सुषुप्तावस्था में रहती है। सामान्य रूप से यह स्थान लिङ्ग (मेढ्र) से २ अंगुल नीचे तथा गुदा स्थान से २ अङ्गुल ऊपर माना जाता है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार मूलस्थान से एक बलिस्त ऊपर नाभि और लिङ्ग के मध्य चार अंगुल विस्तार वाला वन्द स्थान है। यह स्थान कोमल है, शुभ्र है, मानो किसी वस्त्र से आवृत हो—

> ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
> मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्॥[5]

गोरक्षशतक के अनुसार मेढ्र से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के समान कन्द-योनि है। उसी में ७२००० नाड़ियां उत्पन्न होती हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार गुदा से दो अङ्गुल ऊपर तथा लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे मनुष्यों के शरीर के मध्यभाग से नौ अङ्गुल ऊपर और चार अङ्गुल विस्तार वाला अण्डों की आकृति वाला त्वचादिकों से भूषित स्थान ही कन्द है। यह स्थान पशु-पक्षियों में पेट के बीच में होता है। गुदा से २ अङ्गुल ऊपर १ अङ्गुल बीच में उनका मध्य भाग होता है। उससे ६ अङ्गुल कन्द स्थान मिलाकर १२ अङ्गुल प्रमाण वितस्तिमात्र होता है। मूलाधार चक्र के मध्य त्रिकोण के बीच में एक स्वयम्भू लिङ्ग है।[6] इस स्वयम्भूलिङ्ग को कुण्डलिनी साढ़े तीन बार वेष्टित किये हुए है।[7] यह महाशक्ति मृणाल-तन्तु सदृश है और जगत्-मोहिनी के रूप में ब्रह्मद्वार के मुख (सुषुम्णा-द्वार) का अपने ही मुखकमल से संछादन करती हुई अमृत-रस का पान करती रहती है। अमृत के संयोग से उसका मुख मधुर है। अतएव वह शंख-वेष्टनाकार

---

१. हठयोग प्रदीपिका ३/१।
२. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ४।
३. हठयोग प्रदीपिका, ३।११३।
४. षट्चक्रनिरूपणम् के श्लोक ४ का विवरण।
५. हठयोग प्रदीपिका, ३/११३।
६. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ९।
७ सौन्दर्यलहरी, श्लोक १०।

सदृश है। वह नूतन विद्युल्लेखा के समान है। वह स्वयम्भू लिङ्ग पर सुषुप्तावस्था में साढ़े तीन वृत्ताकार (कुण्डलाकार) होकर स्थित होने से कुण्डलाकार-स्वरूप वाली है और इसीलिए उसका नाम कुण्डलिनी है।[1]

योगियों के हृदय-कमल में नित्य ही नृत्य करने वाली तथा समस्त जीवों के मूलाधार में विद्युत् के समान आकृति वाली स्फुरण करती हुई शंख के आवर्त के क्रम से यह शक्ति सब को आवृत्त करके अवस्थित है। यह कुण्डली भूत-सर्पों की अङ्गश्री को प्राप्त करने वाली है। यह सब देवों तथा मन्त्रों से पूर्ण शिवा है। यह सब तत्त्वों से परिपूर्ण, साक्षात्, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और व्यापक है। ब्रह्मरूप है। यह समस्त वर्णात्मिका है। यह पर देवता है। यह मन्त्रमय जगत् को प्रसूत करने वाली है।[2]

कुण्डलिनी ८ अङ्गों की अवयवी है—मूलाधारादि-षट्चक्र तथा शक्ति और सदाशिव। कुण्डलिनी सहस्रार में आत्मशक्ति में विलीन हो जाती है। आनन्दलहरी की श्लोक संख्या ३५ की टीका में डिण्डिम ने आठ अवयवों में—मन, व्योम, मरुद्, तेज, अप्, क्षिति, सूर्य तथा चन्द्र को स्वीकार किया है। कुण्डलिनी चूंकि प्राणशक्ति है, इसलिए प्राण के प्रवहमान होने पर वह भी गतिशील हो जाती है। अनेक प्रकार के आसनों, कुम्भकों, बन्ध और मुद्रा आदि साधनों से महाशक्ति कुण्डलिनी के जागृत होने पर प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाती है। इस अवस्था में कुण्डलिनीशक्ति का ज्ञाता अपने समस्त कर्मों का परित्याग करके स्वयं की तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है।[3]

कुण्डलिनीशक्ति कन्द के ऊपर के भाग में योगियों के मोक्ष तथा मूर्खों के बन्धन के लिए सो रही है—उसे जानने वाला योगी कहा जाता है। यह सर्पिणी के समान कुटिल आकार वाली है। कुण्डलिनी को गतिशील करने वाला निःसंदिग्ध रूप से मुक्त हो जाता है।[4]

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक १०।

२. शारदातिलक, १/५३-५७।

३. हठयोग प्रदीपिका, ४/१०-११.

४. कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनीम्।
बन्धनाय च मूर्खाणां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
स शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥

—हठयोगप्रदीपिका ३, १०७, १०८।

मूलाधार में कुण्डलिनी के निवास तथा स्वयम्भू लिङ्ग पर सुषुम्णा के छिद्र को बन्द किये हुए साढ़े तीन वार आवृत्त होकर स्थित रहने की बात प्रायः तंन्त्र और हठयोग के सभी ग्रन्थों में समान रूप से पाई जाती है। वह निर्दिष्ट स्थान पर कोटिविद्युत्प्रभा के समान, कोटि सूर्य की आभा के समान तथा शीतलता में कोटि चन्द्रमा के समान स्वीकार की गई है। कमलनाल के तन्तु के समान वह कोमल और शुभ्र भी है।[1] वह आत्मशक्तिरूप, परदेवतारूप है। जब तक वह निद्रित है तब तक जीव पशु (पाश से वद्ध) है। कोटियोग का अभ्यास करने पर भी विना कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान के वोघ हो हीं नहीं सकता।[2] वही प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या और महाविद्या है। उसे जानने वाला "वेदज्ञ" होता है।[3] ऐसी कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिये जो स्वयम्भूलिङ्ग पर स्थित है, जो श्यामरूपा, सूक्ष्मा, सृष्टिरूपा, सृष्टिस्थितिलयात्मिकारूपा, विश्वातीता, ज्ञानरूपा, ऊर्ध्वस्वरूपा है।[4] यह ऊंकार रूपा है। यही शरीर के अन्दर ७२००० नाड़ियों का नियमन करती है।

—: ० :—

---

१. मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये॥
विसतन्तुस्वरूपां तां विन्दुत्रिवलयां प्रिये।
ऊर्ध्वशक्तिनियतेन सहजेन वरानने॥—ज्ञानार्णव तन्त्र, ३/२,३।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम विसतन्तुनिभा शुभा।
मूलकन्दफणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत्॥—सौन्दर्यलहरी (आनन्दलहरी, श्लोक ९ की अरुणामोदिनी टीका में उद्धृत)।

२. मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्॥—घेरण्डसंहिता, ३/४३-४४।

३. कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति॥
कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्रीप्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्॥—गोरक्षपद्धति, १/४६-४७।

४. ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिंगसंस्थिताम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्॥
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम्।
ऊँकारवर्णसम्भूतां कुण्डली परदेवताम्॥—शाक्तानन्दतरङ्गिणी, २१।

चतुर्थ पटल

कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान

मूलाधारचक्र से सहस्त्रार तक का "कुण्डलिनी-गमन" ही "षट्चक्रभेदन" या "कुण्डलिनी जागरण" के नाम से प्रसिद्ध है। ध्यातव्य है कि महाशक्ति का जागरण साधना के विभिन्न सोपानों के निरन्तर अभ्यास तथा सद्गुरु की कृपा पर अवलम्बित है।[1] कुण्डलिनी-जागरण के लिये अनेक आसनों में से सिद्धासन को सबसे अधिक उपयोगी माना गया है। इसके अतिरिक्त किसी-किसी विशेष चक्र के जागरण में शलभासन, धनुरासन, अर्ध सर्वाङ्ग आसन, सर्वाङ्गासन और शीर्षासन भी उपयोगी और निर्दिष्ट हैं। इसके बाद "शोधन" का प्रकरण महत्वपूर्ण है। इस प्रकरण में षट्कर्मों (पवित्रीकरण), आचमन, शिखा वन्धन, संक्षिप्त प्राणायाम, न्यास, पृथिवी-पूजन के द्वारा शरीर का शुद्धीकरण किया जाता है। इसी सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट कर देना अनावश्यक नहीं होगा कि हठयोग के साधक नेति, धौति, वस्ति, नौलि (नेडली), दन्ति, बज्रोली (नाड़ी क्षालनादि)—इन षट्कर्मों को सम्पन्न करके शरीर का शुद्धीकरण तथा हल्कापन करते हैं। शोधन के बाद प्राणायाम का अभ्यास अनिवार्य है। इसका अभ्यास ही जागरण की मुख्य भूमिका का निर्वाह करता है। प्राणायाम के पूरक, कुम्भक और रेचक—ये तीन अवयव हैं। हठयोग की मान्यता के अनुसार "भस्त्रिका कुम्भक" के द्वारा कुण्डलिनी-जागरण किया जाता है।[2] प्राणायाम के प्रसङ्ग में "बन्ध" की भी अपरिहार्यता साधकों ने स्वीकार की है, क्योंकि प्राणायाम के समय ही "बन्ध" किया जाता है। बन्ध के तीन भेद हैं—मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध। बन्ध में अवस्थितिपूर्वक इस प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को सुषुम्णा में प्रवेश कराया जाता है। मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध की सहायता से अपान वायु को ऊपर की ओर और प्राण वायु का कण्ठ-स्थान से नीचे की ओर नाभि-स्थान में सङ्गम करते रहने से प्रायः वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होता है। विशेषकर यह साधना मणिपूर चक्र को जागृत करती है। सुषुम्णा में वायु के प्रविष्ट होने पर मूलाधार में अग्नि (ऊष्मा) प्रदीप्त होती है और इस उष्णता से सुषुप्त कुण्डलिनी का जागरण होता है। तब वह अपना कुण्डलाकार स्वरूप त्यागकर सीधी होकर सुषुम्णा-मार्ग में प्रविष्ट होती है और षट्चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र (सहस्त्रार) में पहुँच जाती है। इस साधना में विभिन्न प्रकार की मुद्रायें भी उपयोगिनी हैं। इस सन्दर्भ में अश्विनी, शक्तिचालन, योगिनी, काकिनी, खेचरी—मुद्रायें उल्लेखनीय हैं। खेचरी

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ३/२।

२. वही, ३/११५।

मुद्रा के बाद "ध्यान योग" अपरिहार्य हैं, जो संकल्पनिरोध पूर्वक सम्पन्न किया जाता है। ध्यान में षट्चक्रों के दलों के वर्ण (मातृका), मण्डल, अधिष्ठातृ देवता, शक्ति, बीजमन्त्र का निदिध्यासन किया जाता है।

शक्ति-जागरण की पृष्ठभूमि

कुण्डलिनी-गमन की साधना को सम्पन्न करने के पूर्व शरीर का शोधन करना चाहिये। इसके साथ अपेक्षित आसनों का अभ्यास कर लेना चाहिये। साधना के पूर्व तीन प्राणायाम करना चाहिये। इसके बाद भूतन्यास, अङ्गन्यास, करन्यास, बीजन्यासादि करते हुये भूतशुद्धि करनी चाहिये।[1] शरीर के पवित्रीकरण या शुद्धीकरण के लिये न्यासों की आवश्यकता पड़ती है। न्यासों के द्वारा शरीर के अङ्ग-अङ्ग में इष्ट देवता या मन्त्र को स्थापित किया जाता है। न्यास के द्वारा शरीर की शिराओं में दिव्यशक्तियों का प्रवाह होने लगता है। साधक का सम्पूर्ण शरीर मन्त्रमय या देवतामय हो जाता है।

भूतशुद्धि, कुण्डलिनी जागरण की पृष्ठभूमि है। यह वह क्रिया है जिसके द्वारा शरीर में विद्यमान पञ्चभूत शुद्ध होकर परमब्रह्म से संयुक्त होते हैं अथवा यह वह क्रिया है जिसके द्वारा मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी का ध्यान करते हुये शनैः शनैः सुषुम्णा-मार्ग से जीवात्मा का परमात्मा के साथ योग किया जाता है।[2] भूतशुद्धि के विना कुण्डलिनी जागरण सम्भव ही नहीं है। महाशक्ति कुण्डलिनी का मूलाधार आदि चक्रों से सहस्रार तक गमन ही जीवात्मा का परमात्मा से योग है। यह कार्य भूतशुद्धि पर आधारित है और भूतशुद्धि विभिन्न प्रकार के न्यासों पर आश्रित है।

कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान के अन्तर्गत कुण्डलिनी[3]-जागरण के प्रारम्भिक सोपानों पर स्पष्ट चर्चा करना अपरिहार्य लग रहा है। इसलिये प्राणायाम, न्यास, भूतशुद्धि पर विचार करके शक्ति-जागरण की सैद्धान्तिक और प्रायौगिक साधनाओं पर विचार किया जायेगा।

प्राणायाम के साधक को दस प्रमुख नाड़ियों में चलने वाले प्राण के संवेग-आवेग को सदा जानना चाहिये। इन नाड़ियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) इड़ा (मेरुदण्ड के अन्त में नीचे बाईं ओर, मूलाधार चक्र के त्रिकोण के बाईं ओर से प्रारम्भ होकर वाम नासिका में समाप्त होने वाली), (२) पिङ्गला (मेरुदण्ड के

---

१. रुद्रयामल०, ६०/२४-२५।
२. हिन्दी तन्त्रसार, पृ० ७५।
३. तन्त्रसाधनासार, पृ० २८, २९।

अन्त में दाईं ओर मूलाधार चक्रस्थ त्रिकोण के दाहिनी ओर से प्रारम्भ होकर दक्षिण नासिका में समाप्त होने वाली), (३) सुषुम्णा (मेरुदण्ड के अन्दर मूलाधार चक्रस्थ त्रिकोण के मध्य से प्रारम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त), (४) गान्धारी (वाम नेत्र), (५) हस्तिजिह्वा (दक्षिण नेत्र), (६) पूषा (दक्षिणकर्ण), (७) यशस्विनी (वामकर्ण), (८) अलम्बुषा (मुख), (९) कुहू (लिङ्ग) और (१०) शंखिनी (गुदा)।[1]

१. प्राणायाम

कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया के लिये इतनी अधिक सूक्ष्म साधना का पूर्व अभ्यास आवश्यक है, जिससे चक्रों के जागृत होने के समय साधक उस जागरण शक्ति को सम्भाल पाने में सक्षम रह सके। यदि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि अष्टाङ्गयोग में साधक अभ्यस्त नहीं है तो वह शक्ति के जागरण का भार सहन नहीं कर सकता और वह शारीरिक विकार, मस्तिष्क विकार से युक्त हो सकता है तथा उसे जीवन से भी हाथ धोना पड सकता है। आसनों के दृढ़ होने पर ही योगी को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।[2]

षट्चक्रों की साधना में एक-एक चक्र को जागृत करने के समय भिन्न-भिन्न प्रकार की श्वासोच्छ्वास क्रिया का अभ्यास किया जाता है। वह भी एक प्रकार का प्राणायाम है। यहाँ सर्वप्रथम हम प्राणायाम के सामान्य स्वरूप पर चर्चा करेंगे और बाद में महाशक्ति के जागरण में विभिन्न चक्रों में श्वासोच्छ्वास क्रिया का क्या प्रारूप होना चाहिये—इस पर विचार करेंगे।

प्राणवायु का नियन्त्रण (श्वास लेना, रोकना और निकालना) ही प्राणायाम है। इसके तीन अवयव हैं—१. पूरक २. कुम्भक ३. रेचक। प्राणवायु को शरीर में नासिकारन्ध्र से प्रवेश कराना "पूरक", अन्दर रोके रहना "कुम्भक" और नासिकारन्ध्र से बाहर निकालने को "रेचक' कहते हैं। इसमें समय का अनुपात भी ध्यान देने योग्य है। जितने समय में पूरक किया जाय, उससे चार गुने समय तक श्वास को अन्दर रोका जाय। तथा पूरक के समय के दो गुने समय तक रेचक करना चाहिये। इसीलिये प्राणायाम के समय साधक किसी इष्ट मन्त्र का उपयोग करते हैं। जैसे प्रारम्भ में पूरक के समय किसी मन्त्र का १ बार मानस जप, कुम्भक में ४ बार तथा रेचक में २ वार जप करना प्राणायाम का संतुलित

१. कुण्डलिनीयोगतत्त्व, पृ० ३०-३१।
२. हठयोग प्रदीपिका, २/१।

अभ्यास है। प्राणवायु के नियन्त्रण से स्थिरता की प्राप्ति होती है अन्यथा मन और चित्त चञ्चल ही रहता है।[1]

प्राणायाम के पूर्व नाड़ी-मल-शोधन का अभ्यास होना चाहिये। विना नाड़ी-शोधन के प्राणवायु को स्थिर करने में कठिनाई होती है। बद्धपद्मासन में बैठकर चन्द्र नाड़ी (इड़ा या वाम नासिकारन्ध्र) से प्राणवायु को अन्दर भरे तथा यथा सामर्थ्य अन्दर धारण कर पुनः सूर्य नाड़ी (पिङ्गला या दक्षिण नासारन्ध्र) से प्राणवायु को निकाल देना चाहिये। इसी प्रकार सूर्य नाड़ी से पूरक कर, अन्दर रोक कर चन्द्र नाड़ी से रेचक करना चाहिये। यह प्रक्रिया क्रमशः होनी चाहिये अर्थात् जिस रन्ध्र (नाड़ी) से बाहर रेचक किया जाय उसी से पूरक किया जाना चाहिये। यह अभ्यास ३ महिने तक करते रहने से नाड़ी का शोधन हो जाता है।[2]

(क) प्राणायाम का स्वरूप :—

प्राणायाम का अभ्यास करते समय उसके तीन स्वरूप हमारे सामने आते हैं—१. कनिष्ठ या अधम प्राणायाम २. मध्यम प्राणायाम ३. उत्तम प्राणायाम। कनिष्ठ प्राणायाम वह है जिसकी सम्पन्नता में स्वेद (पसीना) आता हो।[3] मध्यम वह है जिसे सम्पन्न करते समय कम्पन उत्पन्न होता हो और उत्तम प्राणायाम उसे कहते हैं जिसे सम्पन्न करते समय स्थिरता, शान्ति, एकाग्रता की उपलब्धि तथा ब्रह्मरन्ध्र में स्थिति होने लगे।[4] विधिपूर्वक किया गया प्राणायाम "युक्त" और विधि की अवहेलना करके स्वच्छन्दतापूर्वक किया गया प्राणायाम "अयुक्त" कहलाता है। "युक्त" प्राणायाम से रोगों का निवारण तथा "अयुक्त" से रोगों का उद्भव होता है।[5]

(ख) प्राणायाम के भेद :—

कुण्डलिनी जागरण की साधना में "भस्त्रिका कुम्भक" का विशेष महत्त्व है।[6] इसलिये अब हम कुम्भक के भेदों पर चर्चा करेंगे। हठयोग-प्रदीपिका में कुम्भक के आठ प्रकार बताये गये हैं—१. सूर्यभेदन २. उज्जायी ३. सीत्कारी

---

१. हठयोग प्रदीपिका, २/२।

२. वही, २/७, ८, ९, १०।

३. रुद्रयामल उ० त०, १७/६०।

४. हठयोग प्रदीपिका, २/१२।

५. वही, २/१६।

६. वही, ३/११५।

४. शीतली ५, भस्त्रिका ६. भ्रामरी ७. मूर्च्छा ८. प्लाविनी ।[1]

१. सूर्यभेदन :—

सुखद (स्वस्तिकासन, सिद्धासन, पद्मासन) आसन लगाकर ग्रीवा, सिर, शरीर सीधा रक्खें। इसके बाद सूर्य नाड़ी (दक्षिण नासारन्ध्र) से प्राणवायु को खीचें (पूरक करें)। तब संयम-नियम से कुम्भक करें। कुम्भक के बाद चन्द्र नाड़ी (वाम नासिकारन्ध्र) से रेचक करें। यही सूर्य कुम्भक है ।[2]

२. उज्जायी कुम्भक :—

मुख को बन्द करके सूर्य-चन्द्र नाड़ी से वायु को धीरे-धीरे खींचना चाहिये, जिससे वह शब्द करती हुई कण्ठ से हृदय तक पहुँच जाय। तब कुम्भक करके वाम नासिकारन्ध्र से रेचक करना चाहिये ।[3]

३. सीत्कारी कुम्भक :—

यह प्राणायाम उज्जायी कुम्भक के समान है। प्राणवायु को खींचते समय मुख में सीत्कार होना चाहिये। रेचक-क्रिया मुख से नहीं, नासिकारन्ध्रों से ही की जानी चाहिये ।[4]

४. शीतली कुम्भक :—

जिह्वा के द्वारा अर्थात् ओष्ठों से बाहर निकली जिह्वा से वायु को खींचकर सूर्यभेदन के समान कुम्भक को करें तत्पश्चात् नासिकारन्ध्रों से वायु का रेचक करें ।[5]

५. भस्त्रिका कुम्भक :—

पद्मासन में बैठकर ग्रीवा और उदर को एक सीध में रखकर, मुख को बन्दकर, नासिका के एक रन्ध्र से वायु का इस प्रकार रेचन करें जिससे शब्दन करता हुआ प्राण हृदय, कण्ठ और कपाल पर्यन्त लगे, तत्पश्चात् वेगपूर्वक हृदय-कमल तक वायु को पूरित करे। यह क्रिया लोहार की धौकनी की भाँति करनी चाहिये ।[6] यदि इस क्रिया में श्रम अनुभव हो तो सूर्यनाड़ी से पूरक, अंगुष्ठ,

---

१. हठयोग प्रदीपिका, २/४४।
२. वही, २/४८।
३. वही, २/५१, ५२।
४. वही, २/५४।
५. वही, २/५७।
६. वही, २/६०, ६१, ६२।

अनामिका और कनिष्ठा से दोनों नासारन्ध्र को दबाकर कुम्भक और वाम नासारन्ध्र से रेचक करना चाहिये। इससे कुण्डलिनी जागृत होती है।[1]

६. भ्रामरी कुम्भक :—

भृङ्गनाद के समान वेगपूर्वक घोषयुक्त पूरक करें। तत्पश्चात् कुम्भक करके भृङ्गीनाद के समान मन्द-मन्द रेचक करें। घेरण्डसंहिता में यह प्राणायाम दोनों कानों को बन्द करके किये जाने का विधान है। इससे नाना प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। हृदयस्थ शब्द की प्रतिध्वनि के मध्य साधक ज्योति स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इसमें मन का लय होने से उसे विष्णु का परम पद प्राप्त होता है।[2]

७. मूर्च्छा कुम्भक :—

सर्वप्रथम सिद्धासन में बैठना चाहिये। दोनों नासिकारन्ध्रों से गहरा श्वास लेकर कुम्भक करें। पूरक के अन्त में कुम्भक के समय ठोड़ी (चिबुक, दाढ़ी) को गले से नीचे के गड्ढे में टिकाकर "जालन्धर बन्ध" लगाना चाहिये।[3] इसके बाद दोनों तर्जनी-मध्यमा से आँख की पलकों को कोमलता से बन्द करके दोनों अनामिका से नासिकारन्ध्रों को बन्द करें। पुनः कनिष्ठा से अधर को दबाकर ओष्ठ बन्द करें। श्वास अन्दर रोककर मूलबन्ध और रेचक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करें। दम घुटने से पूर्व अंगुलियों को हटाकर दोनों नासिकाओं से श्वास बाहर निकालना चाहिये।

मूलबन्ध में सिद्धासन लगा रहेगा अर्थात् एड़ी से कन्द स्थान (जननेन्द्रिय मूल और गुदा के बीच) को दबाकर दूसरी एड़ी से लिङ्गमूल को दबाना चाहिये। इसके बाद गुदा का संकुचन करते हुये अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट करें[4] तथा साथ ही प्राणवायु को कण्ठ से नाभि की ओर ले जाना चाहिये। पूरक के आरम्भ के साथ-साथ इस क्रिया का भी आरम्भ हो जाना चाहिये। कुम्भक के समय तक नाभि-स्थान में प्राण और अपान वायु का संगम कराना चाहिये। यही मूलबन्ध है। इसके बाद रेचक के समय श्वास निकालने के साथ अपान वायु के विरेचन की स्थिति में गुदा के संकुचन का त्याग या शिथिलीकरण करना चाहिये। उड्डीयान बन्ध कुम्भक के अन्त में रेचक के प्रारम्भ में करना चाहियें। इस समय

---

१. हठयोग प्रदीपिका, २/६३-६६

२. घेरण्डसंहिता, ५/८०-८१।

३. हठयोग प्रदीपिका, २/६९।

४. वही, ३/६१।

नाभि के ऊपरी तथा नीचे के भाग (उदर) को पीठ की ओर इस प्रकार ताने अर्थात् आकर्षण करें कि नाभि के ऊपर नीचे के भाग पीठ से मिल जायँ।[1]

८. प्लाविनी कुम्भक :—

पद्मासन में बैठकर उदर को, वायु से भरकर, आपूरित करें (पूरक करे) पुन: रेचक करके श्वास बाहर निकाल कर उदर को अन्दर की ओर करे। बार-बार यही क्रिया करनी चाहिये।[2]

प्राणायाम कर्ता के धर्म :—

प्राणवायु की देवी ही वायवी शक्ति है। साधक श्रद्धा, पराभक्ति, मन निग्रह के द्वारा सूक्ष्मगामिनी वायवी पराशक्ति को प्राप्त करता है। उस महान् यति को धीर, शान्त, स्वल्पाहारी, क्षमाशील, सत्यवादी, ब्रह्मचारी, दया-धर्म-सुख-समृद्धियुक्त, मानसिक संयमी, ज्ञानी, दिगम्बर, समदर्शी, परमाणुवेत्ता होना चाहिये।[3] भूमितल ही साधक की श्रेष्ठ शय्या है। वायवी शक्ति अमृत-स्वरूपा है। जो साधक प्राणवायु का पान करता है उस पर शीघ्र ही वायवी देवी की कृपा होती है। गुरुसेवापरायण, शुद्ध तथा सात्त्विक शरीर की कान्तिवाला, अष्टाङ्ग योग में लीन, स्वयं न खाकर भी अतिथि को भोजन कराने वाला साधक सभी पापों से रहित होकर वायवी शक्ति की कृपा को प्राप्त करता है। जो महात्मा, प्राणायाम करता है, देवता और गुरु के प्रति सत्यबुद्धि रखता है, जिसका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं व्यतीत होता और जो हमेशा वायवी में चित्त को एकाग्र करता है उसी पर देवी की कृपा होती है।[4]

साधक को एक-एक पीठ में एक संवत्सर पर्यन्त प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। साधक को अन्तर्यागान्तर्गत पीठ चक्र में ध्यान करना चाहिये। ध्यान, धारणा करने वाला ही देव की कृपा को प्राप्त करता है। पशुभाव में विद्यमान, अधो रेतस् का परित्याग करने वाला, पवित्र, मैथुनहीन, समय-असमय में नित्य प्राणवायु के धारण में संलग्न, योगियों के साथ रहने वाला होकर भी वायवी कृपा को प्राप्त करता है।[5]

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ३/५७-५९।
२. वही, २/७०।
३. रुद्रयामल उ० त०, १७/३०-३२।
४. वही, १७/३३-३७।
५. वही, १७/३९-४३।

स्थिरचेता के गुण :—

प्राणायाम के साधक को बन्धु-बान्धव से हीन अर्थात् सन्यस्त जीवन में होना चाहिये। उसे विवेकी, सुख, दुःख में समत्वभाव वाला, सर्वदा प्रसन्न हृदय वाला, समय को जानने वाला, योग साधना में लीन, मौनव्रती, मौन जप करने वाला होना चाहिये। निर्जन स्थान में रहने वाला चेष्टाहीन, दीनवत्सल, तथा मितभाषी स्थिरचेता कहलाया जाता है। योगशिक्षा को सम्पन्न करने के लिये हास्य, सन्तोष तथा हिंसारहित और जप क्रिया में निपुण ही स्थिरचेता है। कामशास्त्र की कला के ज्ञान से रहित, स्थिर भावना वाला, स्वल्पाहारी, विकल्प से रहित, साधक को स्थिरचेता कहते हैं।[1] जो साधक कलियुग में कामरूप स्थान में श्रीकालिका पीठ में इष्टमन्त्र से युक्त होकर प्राणायाम करके जप करता है, कौलधर्म तथा महाविद्याओं के मन्त्र को जानने वाला है, शुद्धभक्ति से युक्त तथा शान्त है, उसे स्थिरचेता कहते हैं।[2]

पीठ-ध्यान :—

मूलाधार में कामरूप, हृदय में जालन्धर, ललाट में पूर्णगिरि, ललाटोर्ध्व (वृद्धक) में उड्डीयान, भ्रूमध्य में वाराणसी, त्रिनेत्र में ज्वलन्ती, मुखवृत्त में माया, कण्ठ(षड्पुर) में मधुपुरी, नाभिदेश में अयोध्या और कटि प्रदेश में काँची—इन भूलोक के पीठों में यत्नपूर्वक चित्त को लगाना चाहिये अर्थात् न्यास करना चाहिये।[3]

प्राणायाम-प्रक्रिया :—

वायवी शक्ति के स्वरूप, साधक पर शक्ति की कृपा, स्थिरचेता के गुण और पीठ-ध्यान के बाद प्राणायाम-प्रक्रिया पर विचार किया जा रहा है। यह कहा जा चुका है कि प्राणायाम के तीन अवयव हैं—पूरक, कुम्भक तथा रेचक। सर्वप्रथम पूरक के द्वारा उदर को आपूरित करना चाहिये। इसके बाद पादगुल्फ, जङ्घा, दोनों जानु, चतुर्दल (मूलाधार), षड्दल (स्वाधिष्ठान), दशदल (मणिपूर), सिद्धिप्रद द्वादश दल (अनाहत), षोडशदल (विशुद्ध), पूर्णतेजस्वरूप द्विदल (आज्ञाचक्र), निर्मलतेजोमय कैलास नामक ब्रह्मरन्ध्र स्थान के करोड़ों चन्द्रप्रभा से युक्त सहस्रार महापद्म में प्राणवायु को ले जाकर कुम्भक करना

---

१. रुद्रयामल उ० त०, १७/४४-४८।
२. वही, १७/५०।
३. वही, १७/५१-५३।

चाहिये ।[1] इसके बाद रेचक करना चाहिये । यह क्रिया बार-बार करनी चाहिये ।

मनुष्य शरीर में साढ़े तीन कोटि रोम हैं और इतनी ही संख्या में नाड़ियाँ भी हैं। वहीं घर्म विन्दु (पसीने) की अवस्थिति रहती है। प्राणायाम में पसीने के गिरने का समय "लय" कहा जाता है। स्वेद विन्दु का पात जिसमें हो वह अधम सिद्धि प्रदान करने वाला प्राणायाम है। मनोरम लय स्थान स्वरूप रोम कूप में मन का सन्धान करने वाला निःसंदिग्ध स्थिरचेता बनता है। यदि चित्त स्थिर नहीं हुआ है तो मध्यम प्राणायाम भी नहीं समझना चाहिये ।[2] इस स्थिति में केवल कम्पन होता है ।[3] पीठ-स्थान और चक्र स्थान में मन को एकाग्र करके कालज्ञानी या मंत्री, एकान्त स्थान में प्राणायाम करने वाला मन्त्र-साधक कालज्ञानी स्थिरचेता होता है। विना चित्त की स्थिरता के उत्तमसिद्धि नहीं प्राप्त होती है। उत्तमा सिद्धि उत्तम प्राणायाम से होती है जिसके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थिति होती है ।[4] अर्थात् स्वयं उसका उपभोग किया जाय तथा मुक्ति प्राप्त की जाय। योगी वर्ष भर की साधना के बाद नित्य सुख तथा महाधर्म को प्राप्त करता है। इस मन्त्र, यन्त्र, नित्य, सुख, आत्म-सुख तथा कुलमार्ग का प्रकाशन नहीं करना चाहिए। ऐसा न करने वाला योगभ्रष्ट हो जाता है, जिससे मृत्यु की प्राप्ति हो वह कार्य नहीं करना चाहिये ।[5]

२. न्यास

न्यास एक प्रकार की शुद्धीकरण की क्रिया है, जिसमें निर्दिष्ट मन्त्रों के द्वारा शरीर के विभिन्न अवयवों को शुद्ध किया जाता है। यहाँ पर हम कुछ आवश्यक न्यासों पर चर्चा करना चाह रहे हैं—

(क) भूतन्यास :—

विभिन्न प्रकार की शक्ति-साधना में विभिन्न प्रकार के मन्त्रों से न्यास किया जाता है। न्यास की प्रक्रिया प्रत्येक न्यास में लगभग एक ही प्रकार की होती है। किन्तु शक्तिभेद साधना के कारण मन्त्र भेद स्वाभाविक है। और एक विशिष्ट प्रकार के न्यास में शक्ति भेद या इष्ट भेद के कारण विभिन्न प्रकार के

---

१. रुद्रयामल उ० त०, १७/५८-६२

२. हठयोगप्रदीपिका, २/१२।

३. रुद्रयामल उ० त०, १७/६३-६४।

४. हठयोग प्रदीपिका, २/१२।

५. रुद्रयामल उ० त०, १७/७०-८४।

मन्त्रों से अवयवों का स्पर्श किया जाता है। इस न्यास में पञ्चमहाभूतों—क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम के स्थान भूत क्रमशः मूलाधार (कन्द), स्वाधिष्ठान (लिङ्गमूल), मणिपूर (नाभि), अनाहत (हृदय), विशुद्ध (कण्ठ) और आज्ञा (भ्रूमध्य) आदि स्थानों का न्यास करना चाहिये।

(ख) अङ्गन्यास :—

इसमें हाथ की अंगुलियों से हृदय, शिर, शिखा, स्कन्ध, नेत्र और ललाट-मध्य तथा करतल पर स्पर्श किया जाता है। देवता-भेद से मन्त्र भेद हो सकता है। अङ्गों का स्पर्श मन्त्र द्वारा किया जाता है किन्तु देवता-भेद से मन्त्र-भेद हो सकता है। अङ्गन्यास में अंगुलिनियम भी हैं। कहीं-कहीं तो (दुर्गा की साधना में) दाहिने हाथ की पांचों अंगुलियों से, मन्त्र पढ़ते हुए, हृदय, शिर, शिखा, स्कन्ध, नेत्र और ललाट मध्य तथा करतल का स्पर्श करने का विधान है।[1] कहीं पर हृदय का स्पर्श मध्यमा, अनामिका और तर्जनी से, मस्तक का मध्यमा और तर्जनी से, शिखा का अंगुष्ठ से, स्कन्ध का सभी अंगुलियों से, नेत्र का मध्यमा और अनामिका से तथा करतल का तर्जनी और मध्यमा से स्पर्श का विधान है।[2] विशिष्ट मन्त्र के साथ--हृदयाय नमः (हृदय को), शिरसे स्वाहा (शिर को), शिखायै वषट् (शिखा को), कवचाय हूँ (वाजू को), नेत्रत्रयाय वौषट् (यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका द्वारा अन्यथा यदि देवता द्विनेत्र हो तो तर्जनी, तथाम मध्यमा द्वारा न्यास करें, अस्त्राय फट् (दाहिने हाथ को सिर के ऊपर से बाईं ओर से पीछे की ओर ले जाकर दाहिनी ओर से आने की ओर ले आयें तथा तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों से बायें हाथ की हथेली पर ताली बजावें) का उच्चारण करना चाहिये।[3] यह षडङ्गन्यास है।

(ग) करन्यास :—

इसमें हाथ की अङ्गुलियो, हथेलियों तथा करपुष्ठ में न्यास किया जाता है। विभिन्न बीजमन्त्रों के साथ अङ्गुष्ठाभ्याम् नमः (दोनों हाथों की तर्जनी से दोनों हाथों के अङ्गुष्ठ का स्पर्श), तर्जनीभ्यां नमः (दोनों हाथों के अङ्गुष्ठ से दोनों हाथ की तर्जनी का स्पर्श), मध्यमाभ्यां नमः (दोनों अँगूठे से दोनों मध्यमा का स्पर्श), अनामिकाभ्यां नमः (दोनों अङ्गुष्ठ से दोनों कनिष्ठकाओं का स्पर्श), कनिष्ठिकाभ्यां नमः (दोनों अङ्गुष्ठ से दोनों कनिष्ठकाओं का स्पर्श), करतल-

---

१. दुर्गासप्तशती पृष्ठ, ५०-५४।

२. हिन्दी तन्त्रसार, पृ० ८४।

३. दुर्गासप्तशती, पृ० ५४, हिन्दी तन्त्रसार, पृ० ८४।

करपृष्ठाभ्यां नमः (दोनों हाथ की हथेलियों और उनके पृष्ठभाग का स्पर्श के द्वारा करन्यास सम्पन्न किया जाता है।

(घ) बीजन्यास :—

भुवनेश्वरी ही महाशक्ति कुण्डलिनी है। इसलिये महाशक्ति कुण्डलिनी का बीजमन्त्र भुवनेश्वरी का ही बीज-मन्त्र मानना चाहिये। भुवनेश्वरी का बीज-मन्त्र ह्रीं है। निम्नलिखित निर्दिष्ट स्थानों में "ह्रीं" बीजमन्त्र के साथ न्यास करना चाहिये। "ब्रह्मरन्ध्रे ह्रीं नमः, भ्रूमध्ये ह्रीं नमः, ललाटे ह्रीं नमः, नाभौ हूँ नमः, गुह्ये हूँ नमः, मुखे ह्रीं नमः, सर्वाङ्गे ह्रीं नमः" के द्वारा इन-इन स्थानों का स्पर्श करना चाहिये।

(ङ) षोढान्यास :—

पहले सभी मातृकाओं द्वारा उनके स्थानों में न्यास करना चाहिये। जिस देवता की आराधना करनी हो उसके बीजमन्त्र से बिन्दु युक्त मातृकावर्ण को पुटित करके तथा बीजमन्त्र को विन्दु युक्त मातृकावर्ण से पुटित करके मातृकान्यास के स्थानों में न्यास करना चाहिये। उदाहरणार्थ— श्री बीज (श्रीं) मन्त्र के साथ मातृकान्यास में मात्रिका स्थानों पर बीजमन्त्र और मातृका को परस्पर पुटित कर चतुर्थ्यन्त पद देवता के नाम के साथ "नमः" पद का प्रयोग करना चाहिये। ललाटे—"श्रीं अं श्रीं श्रीकण्ठेशाय नमः" इसी प्रकार मुखे—"श्रीं आं श्रीं अनन्तदेशाय नमः" या "आं श्रीं आं अनन्तदेशाय नमः" इत्यादि।

१. रुद्रन्यास :—

विभिन्न मातृकाओं के पूर्व ह्रीं बीजमन्त्र जोड़कर मातृका स्थानों के देवताओं का (चतुर्थ्यन्त) नाम लेकर और अन्त में नमः पद के द्वारा मातृका स्थानों का न्यास करना चाहिये। यथा—

"ह्रीं अं श्रीकण्ठेशाय नमः"—ललाटे। "ह्रीं आं अनन्तदेशाय नमः" मुखवृत्ते। "ह्रीं इं सूक्ष्मेशाय नमः"—दक्षः नेत्रे। "ह्रीं ईं त्रिमूर्तीशाय नमः"—वामनेत्रे। "ह्रीं उं अमरेशाय नमः"—दक्षः कर्णे। "ह्रीं ऊं अर्घीशाय नमः"—वामकर्णे। "ह्रीं ऋं भारभूतीशाय नमः"—दक्षः नासायां। "ह्रीं ॠं अतिश्रीशाय नमः"—वामनासायां। "ह्रीं ऌं स्थाणूकेशाय नमः"—दक्षगण्डे। "ह्रीं ॡं हरेशाय नमः"—वामगण्डे। "ह्रीं एं झिण्डीशाय नमः"—ऊर्ध्व ओष्ठे। ह्रीं ऐं भौतिकेशाय नमः—अधरोष्ठे। ह्रीं ओं सद्योजातेशाय नमः—ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ। ह्रीं औं अनुग्रहेशाय नमः—अघोदन्तपङ्क्तौ। ह्रीं अं अक्रूरेशाय नमः—ब्रह्मरन्ध्रे। ह्रीं अः महासेनेशाय नमः—मुखे। इसी प्रकार "ह्रीं और नमः के संपुट में कं क्रोधीशाय—दक्षबाहुमूले। खं चण्डेशाय—दक्षकर्पूरे। गं पंचान्तकाय—दक्षमणिबन्धे। घं शिवोत्तमेशाय—दक्षकराङ्गुलिमूले। ङं एकरुद्रेशाय—दक्षकरा-

ङ्गुल्यग्रे । चं कुर्मेशायवामबाहुमूले। छं एकनेत्रेशाय—वामकर्पूरे। जं चतुराननेशाय—वाममणिबन्धे—झं अजेशाय—वामकराङ्गुलिमूले। ञं सर्वेशाय—वामकराङ्गुल्यग्रे। टं सोमेशाय—दक्षोरुमूले। ठं लाङ्गलीशाय—दक्षजङ्घामूले। डं दारुकेशाय—दक्षपादमूलसन्धौ । ढं अर्धनारीश्वराय—दक्षपादाङ्गुलिमूले । णं उमाकान्तेशाय—दक्षपादाङ्गुल्यग्रे । तं आषाढीशाय—वामोरुमूले। थं दण्डीशाय—वामजङ्घामूले। दं अद्रीशाय—वामपादमूलसन्धौ। धं मीनेशाय—वामपादाङ्गुलिमूले। नं मेषेशाय—वामपादांगुल्यग्रे। पं लोहितेशाय—दक्षपार्श्वे । फं शिखीशाय—वामपार्श्वे। बं छगलण्डेशाय—पृष्ठे। भं द्विरण्डेशाय—नाभौ। मं महाकालेशाय—उदरे। यं वालीशाय—वक्षे। रं भुजङ्गेशाय—दक्षस्कन्धे। लं पिनाकीशाय—ककुस्थाने। वं खड्गीशाय—वामस्कन्धे। शं वकेशाय—हृदयादिदक्षहस्ते। षं श्वेतेशाय—हृदयादिवामहस्ते। सं भृग्वीशाय—हृदयादि दक्षपादे। हं नकुलीशाय हृदयादिवामपादे। लं शिवेशाय—हृदयादि उदरे। क्षं सम्वर्तकेशाय—हृदयादिमुखे।

२. ग्रहन्यास :—

शरीर के विभिन्न अङ्गों में मन्त्र द्वारा ग्रहों की स्थापना करना ग्रहन्यास है—"ह्रीं अं आं‥ ‥अं अः रक्तवर्णसूर्याय नमः"—हृदये। "ह्रीं यं रं लं वं शुक्लवर्णसोमाय नमः"—भ्रूमध्ये। "ह्रीं कं‥‥ङं लोहितवर्णमङ्गलाय नमः"—नेत्रत्रये। "ह्रीं चं‥‥ञं श्यामवर्णबुधाय नमः"—हृन्मण्डले। "ह्रीं टं‥‥णं पीतवर्णबृहस्पतये नमः"—कण्ठ कूपे। "ह्रीं तं‥‥नं पाण्डुवर्णशुक्राय नमः"—गलदेशे। "ह्रीं पं‥‥मं शनैश्चराय नमः"—नाभौ। "ह्रीं लं क्षं धूम्रवर्णकेतवे नमः"—गुह्ये। "ह्रीं शं षं सं हं धूम्रवर्णराहवे नमः"—वदने।

३. लोकपालन्यास :—

मस्तक के आठों दिशाओं में इन्द्रादि अष्टदेवों का न्यास करना चाहिये—

"ह्रीं अं आं कं‥‥ङं इन्द्राय नमः"। "ह्रीं इं ईं चं‥‥ञं अग्नये नमः"। "ह्रीं उं ऊं टं‥‥णं यमाय नमः"। "ह्रीं ऋं ॠं तं‥ ‥नं नैऋताय नमः"। "ह्रीं लृं लॄं पं ‥‥म वरुणाय नमः"। "ह्रीं एं ऐं यं ‥‥वं वायवे नमः"। "ह्रीं ओं औं शं‥‥हं कुबेराय नमः"। "ह्रीं अः लं क्षं ईशानाय नमः"। "ह्रीं अनन्ताय नमः"—अघोदेशे। "ह्रीं ब्राह्मणे नमः"—ऊर्ध्वदेशे।

४. शिवशक्तिन्यास :—

बीजमन्त्र के साथ षट्चक्रों की मातृकाओं, शक्तियों और देवताओं का न्यास षट्चक्रों में किया जाता है—

"ह्रीं, वं‥‥सं डाकिनीसहितब्रह्मणे नमः"—मूलाधारे। "ह्रीं व भं मं

यं रं लं राकिणीसहितविष्णवे नमः"—स्वाधिष्ठाने। "ह्रीं डं ढं णं तं········फं लाकिनीसहितरुद्राय नमः।"—मणिपूरे। "ह्रीं कं·····ठं काकिनीसहितईश्वराय नमः"—अनाहते। "ह्रीं अं········अः शाकिनीसहितसदाशिवाय नमः"—विशुद्धे। "ह्रीं हं क्षं हाकिनीसहितपरशिवाय नमः"—आज्ञाचक्रे।

५. तारादिन्यास :—

ब्रह्मरन्ध्र और ललाट के साथ षट्चक्रों के स्थानों में बीजमन्त्र के साथ सभी मातृकाओं द्वारा न्यास किया जाता है—

"ह्रीं अं·······अः तारायै नमः"—ब्रह्मरन्ध्रे। "ह्रीं कं·········ङं उग्रायै नमः"—ललाटे। ह्रीं चं·····ज महोग्रायै नमः"—भ्रूमध्ये। "ह्रीं टं···णं वज्रायै नमः"—कण्ठगह्वरे। "ह्रीं तं·····नं काल्यै नमः"—हृदये। "ह्रीं पं·········मं सरस्वत्यै नमः"—नाभिदेशे। ह्रीं यं·····वं कामेश्वर्यै नमः"—लिङ्गे। "ह्रीं शं·····हं लं क्षं चामुण्डायै नमः''—मूलाधारे।

६. पीठन्यास :—

शरीर के विभिन्न पीठ रूप अवयवों में न्यास किया जाता है—

"ह्रीं अं आं कं·····ङं कामरूपपीठाय नमः"—मूलाधारे। "ह्रीं इं ईं चं·····ञं जालन्धरपीठाय नमः"—हृदि। ह्रीं उं ऊं टं·····णं पूर्णगिरिपीठाय नमः"—ललाटे। "ह्रीं ऋं ॠं तं·····नं उड्डीयानपीठाय नमः"—ललाटोर्ध्वे। "ह्रीं ऌं ॡं पं·····मं वाराणसीपीठाय नमः"—भ्रूवोर्मध्ये। ह्रीं एं ऐं यं······वं ज्वलन्तीपीठाय नमः"—लोचनत्रये।" ह्रीं ओं औं रां हं मायावतीपीठाय नमः" —मुखवृत्ते। "ह्रीं अः लं क्षं मधुपुरीपीठाय नमः"—कण्ठे। "ह्रीं अयोध्यापीठाय नमः"—नाभिदेशे। "ह्रीं कांचीपीठाय नमः"— कट्यां।

३. भूतशुद्धि :—

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र (६२ वें पटल) में शाकिनीपूजा और शाकिनीध्यान के प्रसङ्ग में भूतशुद्धि पर अति संक्षिप्त चर्चा की गयी है। शाकिनी, कण्ठ पद्म या विशुद्ध चक्र की अधिष्ठातृ शक्ति है। शाकिनी के स्वरूप का ध्यान करने के बाद भूतशुद्धि को सम्पन्न करने की बात कही गयी है।[1] भूतशुद्धि के द्वारा आकाशगामिनी सिद्धि प्राप्त होती है,[2] क्योंकि विशुद्ध चक्र का तत्त्व आकाश है।[3] भूत शुद्धि की सामान्य पद्धति यह है कि सर्व प्रथम मूलाधार चक्र में स्थित कुण्डलिनी के साथ जीव को संयुक्त करे और तब सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा तत्रस्थ चक्रों का

---

१. रुद्रयामल उ०त०, ६२/३६।
२. वही, ६२/३७।
३. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० १०७।

क्रमशः भेदन करते हुये जीवात्मा को सहस्रार में स्थित परम शिव (परमात्मा के साथ संयोजन करना चाहिये। यह प्रक्रिया प्राणायाम के द्वारा सम्पन्न की जाती है। भूतशुद्धि की प्रक्रिया के क्रम में शास्त्रों में थोड़ा सा अन्तर है। रुद्रयामल में मूलाधार चक्रमें कुण्डलिनी-जागरण के बाद मणिपूर चक्रके बीजमन्त्र "रं" के द्वारा पाप पुरुष (पुरुष के विकारों) को भस्मसात् करने की बात कही गई है। इसके बाद साधक अनाहत चक्र के बीज मन्त्र "यं" के द्वारा देह को वायु से आपूरित करे तथा शरीर का शोधन करे। तत्पश्चात् स्वाधिष्ठान चक्र स्थित वरुण बीज "वं" के द्वारा (ललाटस्थ चन्द्रमा से टपकने वाले) अमृत से नूतन शरीर की रचना करे। इन सब क्रियाओं के पूर्व एक लय भावना की जानी चाहिए—पञ्चभूत, पञ्चतंमात्रायें, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, अन्तःकरण आदि क्रमशः चक्रों में विलीन हो रहे हैं। विलय की क्रिया का पर्यंवसान विशुद्ध चक्र में किया जाना चाहिये। वहीं शाकिनी के समीप जीव की अवस्थिति की अनुभूति होनी चाहिये।[1] विलय-प्रक्रिया के क्रमशः होने का एक विशेष स्वरूप है। मूलाधार चक्र का तत्त्व-पृथिवी, तन्मात्रा गन्ध, ज्ञानेन्द्रिय-घ्राण और कर्मेन्द्रिय-पायु है। स्वाधिष्ठान चक्र का तत्त्व—अप्, तन्मात्रा-रस, ज्ञानेन्द्रिय-रसना और कर्मेन्द्रिय लिङ्ग है। मणिपूर चक्र का तत्त्व—अग्नि, तन्मात्रा-रूप, ज्ञानेन्द्रिय चक्षु और कर्मेन्द्रिय-पाद है। अनाहत चक्र तत्त्व—वायु, तन्मात्रा स्पर्श, ज्ञानेन्द्रिय त्वक्, कर्मेन्द्रिय हस्त है। विशुद्ध चक्र का तत्त्व—आकाश, तन्मात्रा-शब्द, ज्ञानेन्द्रिय-श्रोत्र तथा कर्मेन्द्रिय-वाक् है। आज्ञा चक्र का लोक-तपः, तन्मात्रा, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय-मनादि अन्तःकरण हैं। लय क्रम में साधक यह भावना करे कि मूलाधार के सभी अवयव स्वाधिष्ठान में, स्वाधिष्ठान चक्र के सभी अवयव मणिपूर में, मणिपूर के सभी अवयव अनाहत में, अनाहत के सभी अवयव विशुद्ध में तथा विशुद्ध चक्र के सभी अवयव आज्ञा चक्र में और आज्ञा चक्र के अवयव सहस्रार में विलिन हो रहे हैं। रुद्रयामल में यह लय प्रक्रिया विशुद्ध चक्रतक कही गयी है।[2] विशुद्ध चक्र में त्रिलोकी ईशान, पञ्चवक्त्र, त्रिलोचन, शाकिनीश, सदाशिव का ध्यान करना चाहिये।[3] चक्र-भेदन के समय तत्रस्थ मातृकामय मन्त्रों की भावना अनिवार्य है। यहाँ शिव का शक्ति के साथ संयोजन का अनुभव करते हुए मणि के ध्यान के धूम्र सदृश महाकाश को तेज से आवृत हुआ ध्यान करना चाहिये।[4]

---

१. रुद्रयामल उ०त०, ६२/३८, ३९, ४०।

२. वही, ६२/३८।

३. वही, ६२/४१।

४. वही, ६२/४२-४३।

कुण्डलिनी-जागरण के विभिन्न स्तर

महाशक्ति के जागरण की विभिन्न पृष्ठभूमियों पर चर्चा के बाद जागरण के विभिन्न स्तरों पर विचार करना आवश्यक है। जागरण की विभिन्न भूमियाँ ही सोपान हैं, जिन्हें षट्चक्रों के नाम से कहा जा सकता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा आदि षट्चक्र तथा सहस्रार में बिन्दु-विसर्ग की साधना ये ही महाशक्ति के जागरण के सोपान हैं। कुछ योगी इस साधना में मूलाधार से प्रारम्भ करके सहस्रार तक का क्रम अपनाते हैं, यह आरोह-क्रम है और कुछ साधक आज्ञा चक्र से प्रारम्भ करके क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और बिन्दु-विसर्ग की साधना-क्रम निर्दिष्ट करते हैं[1] यह अवरोह-क्रम है।

इस ग्रन्थ में प्राणायाम की पद्धति के अन्तर्गत प्राणायाम के बाद सर्वप्रथम आज्ञा चक्र के ध्यान की चर्चा की गयी है, इससे लगता है कि यह शास्त्र चक्रावरोहण क्रम की साधना को पुष्ट करता है।[2] इसके अतिरिक्त ६० वें पटल में कण्ठपद्मादिभेद विज्ञान के प्रकरण में भी आज्ञाचक्र की पूर्वता पुष्टि हुई है।[3] आज्ञाचक्र से साधना को प्रारम्भ करने का एक और महत्वपूर्ण प्रयोजन है। आज्ञाचक्र को इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा का सन्धि-स्थल कहा जाता है। ये तीनों नाड़ियाँ गङ्गा, यमुना और सरस्वती की प्रतीक हैं। इसलिये आज्ञा चक्रस्थल को "तीर्थराज" कहा जाता है।[4] ऐसी मान्यता है कि हर १२ वर्ष के बाद महाकुम्भ के अवसर पर त्रिवेणी के सगम पर सिद्ध योगी जन जाकर संगम की अमृतमयी धारा में स्थान करके अमरत्व या पुण्य लाभ करते हैं।[5] उसी प्रकार योग-जगत् में भी यह प्रसिद्ध है कि इड़ादि तीन नाड़ियों के प्रयोग स्वरूप आज्ञाचक्र के ध्यान से साधक का मन पवित्र होता है।[6] वह सभी पापों से विनिर्मुक्त होकर सिद्ध हो

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० २२।

२. रुद्रयामल उ०त०, १७/१०२-१०५।

३. वही, ६०/३०।

४. इड़ा च भारती गङ्गा पिङ्गला यमुना मता।
इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा च सरस्वती॥
त्रिवेणी संगमों यत्र तीर्थराज स उच्यते।
त्रिवेणी संगमे वीरश्चालयेत्तान् पुनः पुनः॥—वही, २५/४५-४६।

५. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० २२।

६. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० २४।

जाता है[1] तथा सत्त्व लाभ करके निर्विघ्न रूप से योग में प्रविष्ट होता है और महाशक्ति के जागरण के समय उद्भूत संस्कार को सहने में साधक समर्थ हो पाता है।[2] आज्ञाचक्र की साधना के प्रारूप के विषय में षट्चक्र भेदन के प्रसङ्ग में चर्चा की जायेगी।

प्रकृत ग्रन्थ में आज्ञाचक्र के प्रारम्भिक ध्यान के सम्बन्ध में लिखा है कि आज्ञाचक्र के दल में समाधिस्थ चित्त के द्वारा अथर्वयोगिनी' का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद चतुर्दल (मूलाधार) में चित्त एकाग्र करना चाहिए। तत्पश्चात् चक्रों का क्रमशः जागरण करते हुए सहस्रार में नित्यानन्दस्वरूप जगदीश्वर विष्णु का दर्शन करना चाहिए।[3] आज्ञाचक्र के दो दलों के अन्दर की ओर तीर्थराज-स्थल (अधोमुख त्रिकोण) एक वृत्त से घिरा हुआ है। वह ज्योतिचक्र है, जहाँ आज्ञाचक्र का शोधन किया जाता है। आज्ञाचक्र का शोधन अश्विनी मुद्रा द्वारा किया जाता है जिसका वर्णन हम आज्ञा चक्र की साधना में करेंगे। साधक जिस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से आज्ञाचक्र के दो दलों को देखता है, उसी प्रकार समाधि के तीन धर्मों शून्य, चैतन्य और आनन्द में से प्रथम धर्म शून्य के प्रतीक-स्वरूप ज्योति चक्र या वृत्त[4] के मध्य में (त्रिकोण के ऊपर[5] अर्धचन्द्र के भी ऊपर) योग मार्ग द्वारा उल्लसित या विलसित (मकार स्वरूप) विन्दु[6] का दर्शन करता है तथा ब्रह्म ज्ञानी होकर कालान्तर में सिद्धि प्राप्त करता है। कील मार्ग को अपना कर साधक को कोटि सूर्य की ज्वालाओं की माला से विभूषित महाविद्या शक्ति के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। इस प्रक्रिया के बिना शक्ति का साक्षात्कार नहीं हो सकता है।[7]

(क) सुषुम्णा में सुखपूर्वक वायु का प्रवेश :—

भूत शुद्धि के बाद और महाशक्ति की जागरण-प्रक्रिया पर विचार करने के पूर्व कुछ महत्वपूर्ण बातें और कहनी हैं। भूत शुद्धि के बाद ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रार) में जीवात्मा का परमात्मा से ऐक्य करने के बाद सुषुम्णा में सुख पूर्वक वायु का

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २५/४७।
२. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० २४।
३. रुद्रयामल उ० त०, पृ० २७/१०२-१०३।
४, तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० २९।
५. रुद्रयामल उ० त०, १७/१०४।
६. षट्चक्र निरूपणम्, श्लोक ३५।
७. रुद्रयामल उ० त०, १७/१०५-१०६।

प्रवेश कराना चाहिये ।[1] इसका सविस्तार वर्णन हठयोग प्रदीपिका में किया गया है । इसलिये इस प्रक्रिया का ज्ञान कर लेना समीचीन प्रतीत हो रहा है—

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।
यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥[2]

अर्थात् विधि के अनुसार प्राणायाम के संयम से नाड़ीचक्र का शोधन हो जाने पर प्राण वायु, सुषुम्णा के मुख का भेदन कर उसमें सुख पूर्वक प्रविष्ट होता है । जब प्राण वायु सुषुम्णा के मध्य गतिशील होती है, मन में स्थैर्य उत्पन्न होता है और मन के स्थिर होने पर उन्मनी अवस्था होती है । इसलिये साधक को विधिपूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करके नाड़ी का शोधन कर लेना चाहिए । सुषुम्णा में वायु-गमन होने पर मन की चञ्चलता समाप्त हो जाती है । मन की दृढ़ता उन्मनी अवस्था को जन्म देती है और खेचरी मुद्रा से उन्मनी-अवस्था का प्रादुर्भाव होता है । मन के व्यापार जहाँ प्रविलय को प्राप्त हो जायँ वहीं उन्मनी-अवस्था होती है—

उन्मना तु सा विज्ञेया मनो यत्र न विद्यते ।[3]

वस्तुतः मन की स्थिरता की पराकाष्ठा ही उन्मना को जन्म देती है । भास्कर राय के शब्दों में भी यही बात स्पष्ट होती है—

···रूपान्तरं प्राप्तस्यैव मनसो धृतिविषयतेत्यतु उत्क्रान्तमनस्कत्वादुन्मना ।[4]

उन्मनी या उन्मना दशा की प्राप्ति की प्रक्रिया का वर्णन शाण्डिल्योपनिषद् में भी किया गया है—

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमय्य भ्रुवौ ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥
तस्मात् खेचरी मुद्रामभ्यसेत् । ततोन्मनी भवति ॥[5]

अर्थात् सर्वप्रथम किसी ज्योति पर नेत्र की पुतली को संयुक्त करके त्राटक (या त्रोटक) का अभ्यास करना चाहिये और भौंहों को थोड़ा सा ऊपर रखना

१. रुद्रयामल उ० त०, ६०-२६ ।
२. हठयोग प्रदीपिका, २/४१-४२ ।
३. विरूपाक्ष पञ्चाशिका, ४/४४ (टीका) ।
४. वरिवस्यारहस्यम्, पृ० १९ ।
५. हठयोग प्रदीपिका, पृ० ७७ पर उद्धृत ।

चाहिये। यह पूर्वाभ्यास का मार्ग है। इससे क्षण भर में उन्मनी-दशा की उपलब्धि होती है। इसलिये त्राटक के साथ-साथ खेचरी मुद्रा का अभ्यास करें, तभी उन्मनी अवस्था की स्थिति होती है। मन के स्थिर हो जाने पर प्राणवायु स्थिर होता है और वायु के स्थिर हो जाने पर वीर्य स्थिर होता है तथा वीर्य के स्थिर हो जाने पर शरीर में सर्वथा वल स्थिर हो जाता है।[1] प्राणवायु के सुषुम्णावाही मनोन्मनी की अवस्था सिद्ध होती है। प्राणवायु को जीतने वाला मन को भी जीत लेता है और मन को जीतने वाला प्राणवायु को जीतने वाला होता है।[2]

प्राणवायु और मन में एक के लीन हो जाने पर दूसरें के विलीन होने की स्थिति होती है।

सुषुम्णा में सुख पूर्वक वायु का प्रवेश प्राणायाम में "कुम्भक" के द्वारा सम्पन्न होता है। विशेषकर यह अभ्यास आज्ञाचक्र की साधना में अश्विनी मुद्रा तथा मूलाधार की साधना में मण्डूकी क्रिया के द्वारा सफल किया जाता है। अश्विनी मुद्रा तथा मण्डूकी क्रिया का स्पष्ट स्वरूप हम आज्ञाचक्र और मूलाधार चक्र की साधना (जागरण) में वताने का प्रयास करेंगे। सुषुम्णा के मुख का भेदन करके उसमें प्राणवायु का प्रवेश (गमण) कराना कुण्डलिनी-जागरण का पूर्वाभ्यास है। विना इस अभ्यास के शक्ति का जागरण असम्भव है और यह सुषुम्णा में वायु का प्रवेश भी विना आज्ञाचक्र और मूलाधारचक्र की साधना के सम्भव नहीं है तथा इस सावना में भी दो क्रियाओं का (अश्विनी और मण्डूकी) पूर्ण अभ्यास अपरिहार्य है। ये सब शक्ति-जागरण की पृष्ठ भूमियाँ हैं। विभिन्न प्रकार के कुम्भक की विधियों को जानने वाले साधक ही सुषुम्णा में वायु के प्रवेश के अभ्यस्त होकर उन्मनी की सिद्धि के लिये अनेक प्रकार के प्राणायाम करते रहते हैं क्योंकि उन्हीं से अद्‌भुत शक्ति की उपलब्धि होती है। सुषुम्णा में वायु का प्रवेश होकर जब वायु ऊर्ध्वगामी होती है, तो आज्ञा से ऊपर विन्दु से भी ऊर्ध्व (अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना के बाद) उन्मना की अवस्थिति होती है। इसके वाद महाविन्दु की अवस्था होती है।[3] इस प्रकार वायु पर नियन्त्रण करने वाला साधक जितेन्द्रिय, मिताहारी, अल्पनिन्द्रा वाला, तेजस्वी, वलवान और योगविद्या में सिद्ध हो जाता है। वह अकाल मृत्यु

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४/२८।

२. वही, ४/२०-२१।

३. वरिवस्यारहस्यम्, १/२२-२६।

की भय से मुक्त होकर दीर्घ आयु वाला होता है।[1]

सुषुम्णा में प्राणवायु का प्रवेश हो जाने पर और अन्तःकरण के देशकाल-वस्तु-ज्ञान से शून्य ब्रह्म में पहुँच जाने पर योगी प्रारब्ध रहित सभी कर्मों को निर्मूल कर देता है।[2] अति संक्षिप्त में यदि अश्विनी मुद्रा और मण्डूकी क्रिया के विषय में हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सिद्धासन में बैठकर दृष्टि को नासिकाग्र पर ध्यान एकाग्र करके श्वास अन्दर की ओर लेने के साथ जनेन्द्रिय मूल (कन्द) का संकुचन और श्वास के छोड़ने के साथ उस स्थान का शिथिलीकरण किया जाना "अश्विनी मुद्रा" है। यह आज्ञाचक्र की अति संक्षिप्त साधना है। इसके अतिरिक्त बज्रासन में बैठकर अपनी गोद में परस्पर आबद्ध अगुलियों वाली हथेलियों को उत्तान भाव से नाभि के नीचे रख कर कभी बन्द और कभी किंचित् उन्मीलित आखों से नासिकाग्र पर मन को एकाग्र करना "मण्डूकी क्रिया" है। मह मूलाधारचक्र की साधना है।

महाशक्ति-जागरण के प्रसङ्ग में कुण्डलिनी-गमन-विज्ञान के प्रकरण के अन्तर्गत अति संक्षेप में ब्रह्मरन्ध्र में जीव और शिव के ऐक्य-भावना रूप भूत शुद्धि के बाद षट्चक्रों के भेदन के मात्र क्रम पर चर्चा की गयी है।[3] सुषुम्णा-मुख पर कन्द स्थान में या कर्णिका-स्थान में चतुर्दल (मूलाधारस्थ) को अवस्थिति है। चतुर्दल के अन्त में अर्थात् मध्य के त्रिकोण के स्वयम्भू लिङ्ग पर वह महाशक्ति कुण्डलिनी विराजमान है। साधक को उसी का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। यत्नपूर्वक अर्थात् नाना प्रकार की यौगिक क्रियाओं द्वारा उसमें क्षोभन करना चाहिये जिससे वह ऊर्ध्वमुखी हो सके। ऐसा करने वाला सिद्ध रूप हो जाता है। इस चक्र के बाद षट्दल वाले स्वाधिष्ठानचक्र की साधना करनी चाहिये। यहाँ पर मूलाधारस्थ देवताओं के साथ कुण्डलिनी का प्रवेश कराना चाहिये। यह राकिणी शक्ति का स्थान है। इसके बाद स्वाधिष्ठानचक्र की देवी और देवता तथा कुण्डलिनी को साथ-साथ मणिपूरचक्र की ओर प्रयाण कराना चाहिये। इसी क्रम से हृत्पद्म (अनाहतचक्र) तथा आगे की ओर कण्ठपद्म (सोलह दलों वाले विशुद्ध चक्र) की ओर कुण्डलिनी का गमन करना चाहिये।

(ख) षट्चक्र ध्यान :—

शरीर के विभिन्न ग्रन्थि-स्थलों पर योगियों ने चक्रों की कल्पना की है।

---

१. ब्राह्मणोपनिषद्।

२. हठयोगप्रदीपिका, ४/१२।

३. रुद्रयामल उ० त०, ६०/२७-२९।

जो ज़ीवात्मा का परमात्मा में विलीन होने के साधन कि वा मोक्ष के द्वार हैं। इन चक्रों की संख्या ६ है, जिन्हें क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र कहते हैं। इन चक्रों से होकर ही महाशक्ति कुण्डलिनी का सहस्रार में गमन सम्भव होता है। ये सारे चक्र सुषुम्णा के मार्ग में स्थित हैं। व्यक्ति के बायीं ओर से इड़ा और दाहिनी ओर से पिङ्गला नाड़ी सुषुम्णा द्वार से होकर परस्पर एक दूसरे को काटती हुई आगे बढ़ती है। जहाँ ये नाड़ियाँ एक दूसरे को काटती है, वे ही चक्रस्थल हैं। इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा—ये तीनों नाड़ियाँ भ्रूमध्य में मिलती हैं, जहाँ आज्ञाचक्र की संरचना करती है। यही योगियों का "तीर्थराज" है। साधना-मार्ग के योगी सर्वप्रथम यहीं पर ध्यान (स्नान) करके पवित्र होकर साधना पथ पर अग्रेषर होते हैं। अब हम षट्चक्रों की स्थिति, रचना, मातृका, बीजमन्त्र, दल, देवी, देवता, तत्त्व, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मन्द्रियों पर अति संक्षिप्त में चर्चा करना चाहते हैं।

(१) मूलाधारचक्र

मेरूदण्ड (पीठ की रीढ़) के मध्य चन्द्र-सूर्य-अग्नि स्वरूपा (वाईं ओर) इड़ा (दाहिनी ओर) पिङ्गला और बीच में सुषुम्णा की कल्पना की गयी है। यह सुषुम्णा कन्द-स्थान के मध्य से सिर की ओंर प्रसरित है। इसके अन्दर बज्रा नाड़ी है। उसके भी मध्य चित्रा या चित्रिणी नाड़ी है। चित्रिणी के भी मध्य में उनका प्रवाह-साधन रूप ब्रह्म नाड़ी है। यह मुनियों के मन में विलसित होती है। इसका मुख ब्रह्म-द्वार है। यह सुषुम्णा का मुख तथा अमृत-धारामय प्रदेश का प्रवेश स्थल है। यही मूलाधारचक्र है। यह शरीर के अवयव की दृष्टि से गुदा-द्वार के ऊर्ध्व तथा जनेन्द्रिय के नीचे स्थित है। यह स्थान कन्द कहलाता है। मूलाधार में रक्त वर्ण के चार दल हैं जिन पर दक्षिणावर्त मार्ग से "वं शं षं सं" ये चार स्वर्णिम मातृकायें हैं।[1] आधारपद्म की कर्णिका के मध्य एक चतुष्कोण है जिसे "धरामण्डल" कहते हैं, जो आठ शूलों से आवृत है। इसके मध्य धरा बीज "लं" है, जो चार भुजाओं वाला माना जाता है तथा जो ऐरावत पर आसीन है। धरा बीज "लं" के बिन्दु (अनुस्वार) में चतुर्मुख ब्रह्मा विराज-मान है, जिनकी चार भुजायें, दण्ड, कमण्डलु, रुद्राक्ष और अभय मुद्रा से विभूषित हैं। कर्णिका में एक और रक्ताभ कमल है, जिस पर शूल, खट्वांग, खड्ग और चषक से युक्त चार भुजाओं वाली अधिष्ठातृ देवी डाकिनी विराजमान हैं। कर्णिका के ही मध्य में विद्युत्प्रभावत् "त्रैपुर" नामक त्रिकोण है, जिसके अन्दर कामरूप पीठ, काम वायु और काम बीज़ "क्लीं" है। इसी के थोड़ा सा ऊपर

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक, १-४।

स्वयम्भूलिङ्ग है, जिसका वर्ण श्याम है। इसी को कुण्डलिनी चारों ओर से साढ़े तीन वलय आवेष्टित किये हैं।[1] इसके ऊपर "चित् कला" विराजमान है।

(२) स्वाधिष्ठान चक्र

लिङ्गमूल में ६ दलों वाला यह चक्र सिन्दूरी वर्ण का है। इसके ६ दलों में दक्षिणावर्त में "बं भं मं यं रं लं" मातृकायें हैं। कर्णिका के मध्य में आठ दल श्वेतवर्ण वाला जल मण्डल है, जिसमें अर्धचन्द्र विराजित है। इसके बीच में वरुण बीज "वं" है, जो मकर पर अधिष्ठित है।[2] बीज की गोद में (बिन्दु या अनुस्वार में) गरुणाधिरूढ़ विष्णु है, जो अपनी चार भुजाओं में शंख, गदा, चक्र और पद्म धारण किये हैं तथा जो अपने गले में वनमाला तथा वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न और कौस्तुभमणि से शोभन लग रहे हैं। कर्णिका के अन्दर विष्णु के समीप रक्त कमल पर श्यामवर्णा राकिणी शक्ति अधिष्ठित है, जिनके चार हाथों में शूल, अब्ज, डमरू तथा टंक सुशोभित है। इस शक्ति के तीन नेत्र हैं तथा उनकी नासिका से रक्त की धारा प्रवाहित होती रहती है।[3]

(३) मणिपूरचक्र

नाभि-मूल में १० दलों से युक्त कृष्ण मेघ सदृश वर्ण वाले इस चक्र के दलों पर दक्षिणावर्त्त क्रम में डं ढ णं तं थं दं धं नं पं फं दस मातृकायें हैं, जो चमकते नील वर्ण वाली हैं। कर्णिका के मध्य में रक्त वर्ण वाला अग्नि मण्डल है, जो त्रिकोण है, तथा जिसकी तीनों भुजाओं पर स्वस्तिक चिह्न है। इस त्रिकोण के बीच में अग्नि वीज "रं" है जो मेषाधिरूढ़ है, तथा जिसकी चार भुजाओं में से दो में बज्र और शक्ति अस्त्र है, तथा अन्य दो हाथ वर और अभय मुद्राओं वाले है। वह्निबीज "रं" की गोद (बिन्दु या अनुस्वार) में रक्ताभ रूद्र वृषभारूढ़ है, जो त्रिनेत्र और भस्मालिप्त अङ्ग वाले हैं। रुद्र के समीप में कर्णिका के अन्दर रक्त कमल पर शक्ति लाकिनी विराजमान है। वह श्यामा है, उनके तीन मुख तीन-तीन नेत्रों से युक्त है। उनकी चार भुजायें हैं, दो में वज्र और शक्ति नामक अस्त्र है तथा दो हाथ वर और अभय मुद्राओं से युक्त हैं।[4]

(४) अनाहतचक्र

यह चक्र बन्धूक पुष्प के रङ्ग का है। इसके १२ दलों में "कं खं गं घं ङं

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक, ५-१०।

२. वही, श्लोक, १४-१५।

३. वली, श्लोक, १६-१७।

४. वही, श्लोक, १९-२१।

चं छं जं झं षं टं ठं" वर्ण हैं। कर्णिका के मध्य में धूम्र सदृश षट्कोणीय वायु-मण्डल है।[1] इसके मध्य में (ऊपर) दशकोटि विद्युत्प्रभायुक्त वाले त्रिकोण से युक्त सूर्य मण्डल है, जिसके मध्य धूमावलि से धूसरित वायु बीज "यं" है, जो कृष्ण मृग पर अधिरूढ़ है। यह बीज ४ हाथों वाला है तथा अंकुश से युक्त है। वायु बीज "सं" के बिन्दु (अनुस्वार) में हंस के समान त्रिनेत्री ईश है जिनके दो हाथ अभय और वर मुद्राओं वाले हैं।[2] कर्णिका के अन्दर ईश के बगल रक्ताभ कमल पर त्रिनेत्री देवी काकिनी अधिष्ठित है जिनके चार हाथ-पाश, कमल, वर और अभय मुद्राओं से युक्त है। वह कङ्काल माला धारण किये हैं।[3] त्रिकोण के मध्य में वाण लिङ्ग नाम से "शिव" विराजमान हैं, जिसके ऊपर बिन्दु युक्त अर्धचन्द्र विराजमान है।

५. विशुद्ध चक्र

धूम्र-आभासदृश कण्ठस्थानीय इस चक्र के १६ दलों में "अं आं इं ईं उं ऊं ॠं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः" रक्त वर्ण के १६ स्वर विराजमान हैं। कर्णिका में वृत्ताकार श्वेत वर्ण का नभमण्डल है। इसके अन्दर पूर्ण चन्द्रमण्डल है और इसके ऊपरी भाग में श्वेत वर्ण वाला आकाश बीज "हं" ऐरावत पर अधिरूढ़ है और जिसके चार हाथ, पाश, अङ्कुश, वर और अभय मुद्राओं से सुशोभित हैं। "हं" बीज मन्त्र के बिन्दु (अनुस्वार) में वृषभ के पीठ पर सिद्धासन के ऊपर अर्धनारीश्वर के रूप में सदाशिव विराजमान हैं, जिनका अर्धशरीर हिमवत् तथा अर्धशरीर सुवर्णाभ है। वे पञ्च मुख तथा दश भुजाओं से युक्त हैं।[4]

इनकी दश भुजायें शूल, टंक, कृपाण, वज्र, दहन (आग्नेयास्त्र), सर्प, घण्टा, अङ्कुश, पाश और अभय मुद्रा से युक्त हैं। वह बाघाम्बर तथा भस्म-धूसरित है और गले में सर्पों की माला धारण किये हैं। उनके मस्तक पर सुधावर्षी चन्द्रमा सुशोभित है। कर्णिका के अन्दर के चन्द्र मण्डल में धवल वर्ण वाली देवी शाकिनी अस्थि पर अधिष्ठित हैं, जो चार भुजाओं, पञ्च मुख तथा तीन नेत्र से युक्त है, और जिनकी भुजाओं में शर, चाप, पाश और अङ्कुश विराजमान हैं।[5]

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक, २२।
२. वही, श्लोक, २३।
३. वही, श्लोक, २४।
४. वही, श्लोक, २८-२९।
५. वही, श्लोक, ३०।

(६) आज्ञाचक्र

यह चक्र-भ्रूमध्य-स्थानीय है। इनके दो श्वेत दलों में "हं" और क्षं वर्ण हैं। कर्णिका में हाकिनी शक्ति विराजमान है जिसके ६ मुख हैं और प्रत्येक के तीन नेत्र है तथा इस शक्ति की ६ भुजायें हैं और यह शक्ति शुक्ल वर्ण के कमल पर अधिष्ठित है। इसकी भुजायें वर, अभय मुद्रा, रुद्राक्षमाला, मनुष्य-कपाल, डमरू और पुस्तक से सुशोभित हैं।[१] इस शक्ति के ऊपर कर्णिका के अन्दर के त्रिकोण के भीतर प्रकाशित इतर नामक शिवलिङ्ग है जिसके ऊपर प्रणव (ॐ) है। यही अग्निशिखा के समान अन्तरात्मा की अवस्थिति हैं।[२] बड़े त्रिकोण के अन्दर के प्रणव (ॐ) के ऊपर अर्धचन्द्राकाररूप बिन्दु से युक्त है। इसके ऊपर वक्राकृत नाद है, जो जलकण की अमृतधारा के समान दीप्ति वाला है।[3] आज्ञा-चक्र से लेकर ऊपर की ओर कुछ विशेष पद और अवस्थायें हैं, जो अति सूक्ष्म है। इस सन्दर्भ में षट्चक्र विवरण में बिन्दु, कला, निबोधिका, अर्धेन्दु, नाद, नादान्त, उन्मनी, विष्णुबक्त्र और ध्रुव मण्डल और शिव पद का क्रम निर्दिष्ट हैं।[४] भास्कर राय ने ध्यान के सूक्ष्म तीर्थों का क्रम इस प्रकार कहा है—आज्ञा चक्र, बिन्दु, अर्धचन्द्र रोधिनी, नाद, नादान्त शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मनी और महा बिन्दु।[५] त्रिकोण में अवस्थित अन्तरात्मा चारों ओर अन्तरिक्ष में प्रकीर्ण होने वाली अपनी प्रकाश युक्त स्फुलिङ्ग से वेष्टित है तथा मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक के समस्त क्षेत्रो का प्रकाशक है। इसके ऊपर सूक्ष्म रूप मन और उसके ऊपर चन्द्रमण्डल के हंस की क्रोड में शक्ति सहित शिव की स्थिति हैं।[६]

(ग) सहस्रार :—

आज्ञाचक्र की साधना के बाद गुरु के चरण-कमलों की सेवा करके योगी महानाद का दर्शन करता है। यह वायु का लय-स्थान है। यहां शिव, वर और अभय भाव प्रदान करते हैं। इन सब के ऊपर जहाँ शंखिनी नाड़ी है विसर्ग स्थान के नीचे सहस्र-कमल-दल है।[७] इसे अकुल भी कहा जाता है। यह सहस्रार अधो-

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक, ३२।

२. वही, श्लोक, ३३।

३. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक, ३५।

४. षट्चक्रनिरूपणम् की श्लोक संख्या ३४ के विवरण में उद्धृत।

५. वरिवस्यारहस्यम्, प्रथमोऽशः, श्लोक, २२-२६।

६. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक, ३८।

७. वही, श्लोक, ३९।

मुख है और यह पूर्ण चन्द्र से भी अधिक-शुभ्र है। इसके तन्तु पुञ्ज तरुण रवि की कान्ति से रंजित हैं। सहस्रार का सम्पूर्ण वपु अकार से लकार पर्यन्त ५० वर्णों से विलसित है तथा केवलानन्दरूप है।[1] सहस्रार के अन्दर शशक विरहित स्फुरद् ज्योत्स्ना से युक्त सम्पूर्ण चन्द्र अवस्थित है, जो अमृत के समान स्निग्ध तथा शीतल है। चन्द्रमण्डल के अन्दर सतत विद्युत्प्रभावत् प्रकाशित त्रिकोण है और इस त्रिकोण के अन्दर सभी सुरों द्वारा गुप्त रूप से सेवित महाशून्य है।[2] यह शून्य मुक्ति की मुख्य जड़ है और जो अमा कला के साथ निर्वाण कला का आभासन करता है। यही परम शिव का पद है, वह सर्वात्मा है और रस तथा विरस का (शिव शक्ति योग सामरस्यरूप) ऐक्य है। वह अज्ञान और मोह रूप अन्धकार को नष्ट करने वाला सूर्य सदृश हंस है।[3] अमा-कला के अन्दर निर्वाण कला पर से भी परतर है जो केशाग्र के सहस्र भाग के समान सूक्ष्म है तथा अर्धचन्द्र के आकार की है। वह नित्य प्रबोध रूपा तथा सभी प्राणियों में व्याप्त है और एक साथ १२ सूर्य प्रभावाली है।[4] यही शिव का नित्य पद है, जो माया से रहित है तथा योगियों द्वारा गम्य है और नित्यानन्द नाम से प्रसिद्ध है। यह सकल सुखमय, शुद्ध ज्ञानमय, ब्रह्मरूप और हंसरूप है। यही विष्णु पद, आत्मज्ञान का स्थान तथा मुक्ति-पद भी कहा जाता है।[5]

(घ) बिन्दु-विसर्गचक्र :—

विन्दु-विसर्ग एक अति सूक्ष्म चक्र है, जो विशुद्ध चक्र से सम्बद्ध माना जाता है।[6] विन्दु का सामान्य अर्थ है बूंद (ड्राप) तथा अति सूक्ष्म नुकीला स्थान (पोइन्ट) यहाँ पर बिन्दु का अर्थ है—बूंद। बिन्दु-विसर्ग का अर्थ है—बूंद का प्रवाह। मस्तिष्क के अन्तःभाग में एक छोटा सा गर्त है, जो एक विशिष्ट स्राव युक्त है। इसे भौतिक शरीर में भी देखा जा सकता है। स्वामी सत्यानन्द जी ने इस स्राव का परिमाण १/४ चम्मच के द्रव (अधिक से अधिक दो या तीन बूंद) के बराबर बताया है।[7] इसी स्राव के मध्य में, झील के बीच टापू के समान एक

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक, ४०।
२. वही, श्लोक, ४१।
३. वही, श्लोक, ४२।
४. वही, श्लोक, ४७।
५. वही, श्लोक, ४९।
६. तन्त्र आफ कुण्डलिनी योग, पृ० ११०।
७. वही, पृ० १११।

बिन्दु के बराबर थोड़ा सा उभार है। खेचरी मुद्रा के द्वारा जब इस बूंद (बिन्दु) को प्रवाहशील बनाया जाता है तो यह बिन्दु-विसर्ग चक्र की साधना कहलाती है। इन बूंद का प्रवाह बिन्दु-विसर्ग चक्र है।

कुण्डलिनी-जागरण की साधना पद्धति

महाशक्ति कुण्डलिनी के स्वरूप और जागरण विज्ञान के विषय में दि सर्पेन्ट पावर (सर जौन उडरफ), तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग (स्वामी सत्यानन्द), कुण्डलिनी (पं० गोपीकृष्ण), दि मिस्ट्रीरियस कुण्डलिनी (वसन्त जी० रेले), पाथ टू हायर कान्सियसनैस, कुण्डलिनी—दि सैक्रेट ऑफ योग, कुण्डलिनी—दि बाइलोजिकल वेसेस ऑफ रिलिजन एण्ड जैनिएस, दि चक्राज (सी० डब्लू० लीडबेटर), कुण्डलिनी योगतत्त्व (दीवान गोकुल चन्द्र कपूर), तंत्र सार साधना (पं देवदत्त शास्त्री), तन्त्र विज्ञान (गोविन्द शास्त्री), भारतीय संस्कृति और साधना तथा तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि (म० म० गोपीनाथ कविराज) आदि समालोचनात्मक ग्रन्थों तथा षट्चक्रनिरूपणम्, सौन्दर्यलहरी, चक्रकौमुदी (वदरी नाथ), हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षसंहिता, घेरण्डसंहिता, गोरक्ष पद्धति आदि मूल ग्रन्थों में बहुत कुछ कहा जा चुका है और इस विषय में आज भी निरन्तर शोध गतिशील है। जम्मू में गोपी कृष्ण के निर्देशन में कुण्डलिनी फाउन्डेशन इसका प्रमाण है। इस विपय पर कई भागों में कार्य हो सकता है। इसलिये अपने शोध-विषय के छोटे से अध्याय में अधिक और मौलिक कुछ कह पाना पुनरावृत्ति मात्र होगी। परिणाम स्वरूप हम यहां पर महाशक्ति के जागरण में षट्चक्रों की प्रायोगिक साधना पर प्रकाश डालना चाह रहे हैं, क्योंकि महाशक्ति कुण्डलिनी मूलाधारचक्र से उत्थित होकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, जनाहत, विशुद्ध, आज्ञा चक्रों का भेदन करती हुई क्रमशः पृथिवी तत्त्व, जल तत्त्व, वायु तत्त्व, आकाश तत्त्व और चित्त तत्त्व (मन) को स्पर्श करती हुई सम्पूर्ण कुल-पथ (शक्ति-मार्ग) को पार करके सहस्रार पद्म में पति (परमात्मा या शिव) के साथ एकान्त में विहार करती है—[1]

> महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
> स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदिमरुतमाकाशमुपरि।
> मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपिभित्वा कुलपथं,
> सहस्रारे पद्मे सहरहसिपत्या विहरसि॥

---

१. सौन्दर्य लहरी, श्लोक, ९।

जहाँ तक यौगिक विधि का प्रसङ्ग है, इसमें साधना-पद्धति के पाँच सोपान है—

(१) जन्म-जागरण, (२) मन्त्र-साधना, (३) तपस्या, (४) औषधि, (५) समाधि।[1]

(१) जन्म-जागरण

कुण्डलिनी-जागरण से सम्पन्न पितरों के बच्चों में जन्म से एक या दो चक्रों का जागरण स्वतः हुआ करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बच्चा पूर्णरूपेण जागृत अवस्था में ही उत्पन्न होता है। आंशिक जागरण वाले शिशु को हम सन्त कहते हैं और पूर्ण जागरण की अनुभूति विशिष्ट शिशु को हम ईश पुत्र या (ईश्वर का अवतार) कह देते हैं। पौराणिक आख्यानों में भगवान् शुकदेव इसके अप्रतिम उदाहरण है। दिव्य परिस्थितियों में ही ऐसी आत्माओं का अवतरण होता है। इसके लिये हमें तन्त्र की सम्पूर्ण विधा पर विचार करना आवश्यक होगा। हमें यह जानना होगा कि स्थूल शरीर, संवेग शरीर, मानस शरीर, आत्म शरीर के प्रत्येक तन्तु कैसे रूपान्तरित होते हैं। यही रूपान्तरित तन्तु अवतारवाद को जन्म देते हैं।

(२) मन्त्र साधना

सारी आपत्तियों से रहित सरल, सहज, किन्तु विशेष शक्ति-सम्पन्न मन्त्र साधना है। यह मन्त्र योग है। इसके लिये किसी मन्त्र की एक हजार बार, एक लाख बार, एक करोड़ बार या निरन्तर अधिक से अधिक संख्या में जप करने से मस्तिष्क के प्रत्येक अवयव निर्मल हो जाते हैं। यह साधना पर्याप्त-समय-साध्य है। मन्त्र के लिये किसी सिद्ध सद्गुरु से किसी मन्त्र की दीक्षा लेनी चाहिये। वह साधनाभ्यासी को निर्देश तथा हर प्रकार का संरक्षण प्रदान करता है। मन्त्र, वीज का कार्य करता हैं और साधक का अन्तस्, भूमि या क्षेत्र का।

(३) तपस्या

तपोमय साधना में साधक के लिये आवश्यक है कि वह आसनों और खेचरी आदि मुद्राओं से इस योग्य हो जाय कि चयापचय की क्रिया को अवरुद्ध कर सके तथा अन्तर्मुखी हो सके, जिससे साधक का मन नाना प्रकार की समस्याओं, बुराईयों, दुखों से मुक्त हो सके। यह एक प्रकार का शुद्धीकरण है। तप वह मनोवैज्ञानिक तथा मनोसांवेगिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ७-९।

में अन्तर्मुखी भावना का विकास करता है और अपनी संकल्प शक्ति को जागृत या दृढ़ करता है।

(४) औषधि

औषधि का अर्थ किसी दवा से नहीं, अपितु एक प्रकार की जड़ी-बूटी से है, जिसका ज्ञान किसी सिद्ध योगी से करना चाहिये। कुछ औषधि इड़ा को, कुछ केवल पिङ्गला को तथा कुछ सुषुम्णा को जागृत करती है। औषधि द्वारा जागरण-कार्य वहुत ही संकट जन्य होता है। यद्यपि इससे अतिशीघ्र जागरण होंता है फिर भी जानकारी के अभाव में यह पूर्णरूपेण असम्भव है। कुण्डलिनी-जागरण के पूर्व सम्पूर्ण अन्तस् क्षेत्र पूर्णरूपेण इस प्रकार अभ्यस्त हो जाना चाहिये, जिससे वह जागरण के प्रभाव को सह सके। अच्छे अभ्यास और सुदृढ़ तैयारी के बाद ही जागरण-विधि अपनायी जानी चाहिये।

(५) समाधि

सुषुम्णा के जागरण के बाद सहस्रार का जागरण होता है। व्यष्टि चेतना को पर चेतना में लीन कर देना ही समाधि है, जो एकाग्रता, ध्यान, तादात्म्य की परिपक्वता पर अवलम्बित है। समाधि के इन अवयवों के द्वारा जागरण का पूर्णत्व लाभ मिल सकता है।

षट्चक्रों की साधना

(१) आज्ञाचक्र की साधना

अश्विनी मुद्रा के द्वारा आज्ञाचक्र का जागरण किया जाता है। हम सबसे पहले अश्विनी मुद्रा को स्पष्ट करेंगे। सिद्धासन में बैठ कर दोनों घुटनों पर दोनों हाथों के अग्रभाग को इस प्रकार रक्खें जिससे हथेलियां ऊपर की ओर रहे। पुनः तर्जनी उँगली के अग्रभाग को अँगूठे की जड़ के पास रक्खें, शेष मध्यमा, अनामिका कनिष्ठिका का इन दोनों (अंगूठा और तर्जनी) से अलग तथा परस्पर मिली हुई सीधी रक्खें। हाथों की अँगुलियों की यह मुद्रा चिन्मुद्रा कहलाती है। सिद्धासन लगाने के लिये यह ध्यातव्य है कि बायें पैर की एड़ी को गुदा द्वार तथा अण्डकोश के वीच में (जननेन्द्रिय के मूल या योनि-स्थान, जिसे कन्द कहते हैं) रक्खें तथा दूसरी एड़ी दिखाई पड़ने वाले लिङ्गमूल के ऊपर रक्खें, अर्थात् अपनी दोनों एड़ियों से लिङ्गमूल और अण्डकोश के नीचे के भाग को दबाये रक्खें। यह पूर्ण सिद्धासन है। यदि पूर्ण-सिद्धासन लगाने में कठिनाई हो तो केवल एक पैर की एड़ी से गुदाद्वार तथा अण्डकोश की नीचे के (दोनों के बीच में) भाग (कन्द) को दबाये रक्खें तथा दूसरा पैर अपने अनुकूल ढंग मे पालथी मार कर रक्खें। यह

अर्द्ध सिद्धासन होगा। आसन ऐसा हो जिससे शरीर को कष्ट न हो, ऐसा न हो कि ध्यान ध्यातव्य स्थान पर न होकर पैरों के हठात् प्रतिकूल वेदनीय व्यापार पर पड़े। यदि स्त्रियाँ इस आसन को लगायें तो इसे सिद्धयोनि आसन कहेंगे। इसके बाद चिन्मुद्रा के साथ मेरुदण्ड को सीधा रक्खें। आंख पर ऐनक नहीं होना चाहिए। सबसे पहले आंखों को बन्द करके हम यह स्मरण करें कि हम अपनी आंखों की पलकों को असहज (अनक़ान्सेसली) में तो नहीं दबा रहे हैं, क्योंकि कुछ साधना के आकांक्षी ध्यान के समय जोर देकर अपनी पलकों को असहजभाव से दबाते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए। आंखें कोमलता से निमीलित होनी चाहिए।[1]

जब आंखें बन्द रहें तब चाहिये कि उन्हें किसी काल्पनिक स्थान पर केन्द्रित करें। इस ध्यान के लिये दो स्थान प्रमुख माने गये हैं—भ्रूमध्य तथा नासिकाग्र भाग। इस क्रिया का सम्पादन स्वतः के अनुभव से सम्भव है। इस सम्पूर्ण मुद्रा को अश्विनी मुद्रा कहते हैं।

अश्विनी मुद्रा के बाद साधना का द्वितीय तथा प्रमुख चरण आरम्भ होता है। एड़ी से जो भाग दबाया जाता है, वहां पर शारीरिक संकोच और प्रसार की क्रिया का अभ्यास करना चाहिये। इस क्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है। वीर्य का स्खलन करते समय अन्तिम बूंद का स्खलन जब किया जाता है तो उक्त स्थान का संकोच होता है या मूत्र विसर्जन के समय अन्तिम बूंद को गिराने के लिये जिस स्थान का संकोच करते हैं, यह वही स्थान है और उसका संकोच भी उसी प्रकार करना चाहिये। लैङ्गिक उत्तेजना के समय भी कन्द का संकोच और प्रसार होता है। एड़ी से दबाये गये स्थान कन्द का खिचाव ही "संकोच" तथा खिचाव का त्याग "प्रसार" कहलाता है। संकोच के लिये जोर देने का उपयोग नहीं करना चाहिये। यह क्रिया सहज रूप से की जानी चाहिये, जिससे थोड़ी सी भी संकुचन क्रिया हो सके। इस संकोच और प्रसार के साथ ध्यातव्य बात यह है कि संकोच और प्रसार की क्रिया श्वसन क्रिया के लय के साथ ही करनी चाहिये। श्वसन-क्रिया के लय का तात्पर्य यह है कि जब हम श्वास खीचें, तब कन्द का संकोच और जब प्राण वायु को बाहर निकालें तब कन्द का प्रसार करना चाहिये। इस क्रिया में व्युत्क्रम नहीं होना चाहिये। इस प्रकार श्वास का सम्बन्ध संकोच से तथा प्रच्छ्वास का सम्बन्ध प्रसार से हैं। श्वासोच्छ्वास की स्वाभाविकता के साथ कन्द का संकोच तथा प्रसार करना चाहिये। इसमें किसी भी प्रकार का जोर या दबाव अथवा अस्वाभाविकता नहीं करनी चाहिये। संकोच

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ३६।

और प्रसार की क्रिया प्रारम्भिक अवस्था में ५० बार करनी चाहिये।[1] मूलाधार के संकोच और प्रसार के विषय में बराबर सतर्कता बनाये रखना है। श्वसन-क्रिया की स्वाभाविक गति ही संकोच-प्रसार क्रिया की गति होनी चाहिये, न कम और न अधिक। यह सब क्रिया अश्विनी मुद्रा द्वारा सम्पन्न होती है। अन्त में एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि इस चक्र की साधना (आंखें बन्द, ध्यान भ्रूमध्य या नासिकाग्र पर, श्वास-प्रच्छ्वास के साथ कन्द का संकोच और प्रसार) के बाद कम से कम १० मिनट तक शरीर को इधर-उधर किसी भी प्रकार हिलाना-डुलाना नहीं चाहिये। यही इस चक्र का साधना पक्ष है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी का जागरण इस श्वास-प्रच्छ्वास के साथ कन्द के संकोच-प्रसार के द्वारा ही सम्भव है। इसलिये इस महाशक्ति को श्वासोच्छ्वास रूप दो क्रिया की आवृति वाली, योगिनी और खेचरी रूप तथा मूलाधार स्थित कहा गया है—

श्वासोच्छ्वासत्वद्व्यावृत्ति द्वादशाङ्गुलरूपिणीम्।
योगिनीं खेचरीं वायुरूपां मूलाम्बुजस्थिताम्॥[2]
तामुपाकुञ्च्य यत्नेन सिद्धरूपी प्रबुद्धयेत्।[3]

म०म० गोपीनाथ कविराज ने इस प्रसार और संकोच को शक्ति की दो अवस्थाएं माना है।[4] प्रसार और संकोच के प्रारम्भ तथा अन्त में साम्यावस्था रहती है, मध्य में इसका वैषम्य रहता है। संकोच शक्ति की पुष्टि, प्रसार शक्ति की क्षीणता के बाद होती है। शक्ति के प्रसार को सृष्टि तथा संकोच को संहार कहा जा सकता है। यही कालचक्र है। इसी पर समग्र विश्व घूम रहा है। यह कालचक्र मध्यस्थ बिन्दु की परिक्रमा कर रहा है, जो शिव का प्रतीक है, तथा तटस्थ उदासीन और द्रष्टा है। मूलाधार से लेकर सहस्रार तक अनेक बिन्दु और मण्डल की कल्पना की गयी है। षट्चक्रों के संहार क्रम में हम इस पर विचार करेंगे।

(२) मूलाधारचक्र की साधना

आज्ञाचक्र में एक बात और ध्यान रखनी होगी कि साधना प्रारम्भ करते समय विद्युत् प्रकाश बन्द कर देना चाहिये। साधना समाप्त होने पर प्रकाश कर लेना चाहिये। मूलाधारचक्र की साधना में सबसे पहले बज्रासन में बैठना

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० ३९।

२. रुद्रयामल उ० त०, ८/१६।

३. वही, ६०/२८।

४. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग-१, पृ० १०४-१०५।

चाहिये। उसके बाद मण्डूकी क्रिया सम्पन्न की जाती है। वज्रासन में साधक दोनों टाँगों को मोड़कर इस प्रकार बैठें, जिससे पैरों की तालुओं पर नितम्ब पड़े। दोनों हाथों की हथेलियाँ घुटनों पर नीचे की ओर मुड़ी न रक्खीं जायें, अपितु नाभि से थोड़ा नीचे हथेलियाँ ऊपर की ओर और अँगुलियां परस्पर सम्बद्ध (मिली हुई) रहें। दोनों हाथों की कलाई दोनों जँघों पर रहे। यह ध्यान रहे कि मुड़े घुटनों के बीच थोड़ी जगह अवश्य रहे। वैसे तो वज्रासन में दृष्टि सामने की ओर होनी चाहिये। किन्तु इस साधना को प्रारम्भ करते समय आंखें बन्द कर लेनी चाहिये।

अब साधना आरम्भ होती है। वज्रासन में स्थित। आंखे बन्द। बन्द आँखों से ध्यान नासिकाग्र पर इस प्रकार रहे जैसे लगे कि आप खुली आंखों से नासिकाग्र पर देख रहे हैं, किन्तु आँखें बन्द ही रहनी चाहिये। मन की एकाग्रता भी नासिकाग्र पर अबाध तथा अनवरत गति से रहनी चाहिये। इसी समय (बीच में) आंखों को थोड़ा सा खोले और आंख तथा मन की एकाग्रता नासिकाग्र पर ही रहे। आंखें इस प्रकार किंचित् खुली रहें कि नासिकाग्र न दीख पड़े तो कोई बात नहीं। इस प्रक्रिया में नासिका की हड्डी पर दबाव का अनुभव होगा, किन्तु इस दबाव को हमें नासिकाग्र पर ही अनुभव करना चाहिये। पुनः आंखें बन्द ध्यान नासिकाग्र पर। पुनः आंखें किंचित् उन्मीलित, किन्तु वहीं नासाग्र पर। जब आप इस क्रिया में अभ्यस्त हो जायें, तब बार-बार अर्धोन्मीलित तथा पूर्णनिमीलित नेत्रों का तथा मन का ध्यान या एकाग्रता नासिका के अग्रभाग पर ही रक्खें। यह क्रिया कम से कम १५ मिनट तक प्रारम्भिक अवस्था में की जानी चाहिये। इसके बाद विद्युत्प्रकाश तथा विश्राम।[1]

(२) स्वाधिष्ठानचक्र की साधना

इस चक्र का ध्यान नाभि से नीचे लिङ्गमूल (विकसित अवस्था, जिसे हम पेडू कहते हैं) में हैं। इस चक्र की साधना में सर्वप्रथम सिद्धासन में बैठें। अर्थात् एक एड़ी अण्डकोष के नीचे कन्द पर और दूसरी नाभि के नीचे सीधे बीच में। हथेलियों को ऊपर करके तर्जनी और अँगूठे के अग्रभाग को मिला कर शेष तीनों अँगुलियों को अलग एक साथ सीधी करके दोनों घुटनों पर रक्खें, आँखें बन्द, स्थिर। नाभि के नीचे एड़ी द्वारा दबाये गये स्थान के दबाव का अनुभव करें। यहीं ध्यान को एकाग्र करना है। प्रकाश बन्द।

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ५३-५४।
२. वही, पृ० ६७-७०।

साधक अब खेचरी का अभ्यास करें। जिह्वा के अग्रभाग को ऊपर की ओर से मोड़ कर मुँह के अन्दर पीछे की ओर ले जाकर वह तालु-मूल के कोमल भाग का स्पर्श करें। जितनी देर तक यह क्रिया कर सके उतना ही अच्छा होगा। थक जाने पर बीच-बीच में विश्राम कर लेना चाहिये।

भौंह के मध्य भाग को "ख" (आकाश) कहते हैं। वहां जिह्वा के गमन की मुद्रा खेचरी मुद्रा कही जाती है—

चित्तं चरति खेयस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैशा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥[1]

कपाल--कुहर में विपरीत की गयी जिह्वा का प्रवेश होने पर तथा दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन आदि कलाओं (क्रियाओं) द्वारा चिह्वा की वृद्धि करके भौंहों के मध्य भाग का जब स्पर्श होने लगे तो खेचरी मुद्रा की सिद्धि माननी चाहिये।[2] जिह्वा मूल के शिराबन्धन को नीचे से काट देने से जिह्वाग्र को पकड़ कर बायें-दायें हिलाने-डुलाने से तथा गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करते रहने से जिह्वा की वृद्धि होती है। योग जगत् में यह बात प्रसिद्ध है कि जिह्वा को तालु-रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर, वहां आधे क्षण भी टिका लेने से योगी विषमता रूप रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्यु आदि बन्धन से मुक्त हो जाता है।[3] इस मुद्रा के जानकार साधक रोग, मृत्यु, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा से मुक्त हो जाते हैं। वह साधक कर्म से लिप्त तथा काल से बाधित नहीं होता—

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा
न मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रा वेत्ति खेचरीम् ॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥[4]

यह बात यथार्थ है कि खेचरी का साधक भूख, प्यास से मुक्त रहता है। इसके प्रमाण हठयोग के साधक हैं, जो ४०-४० दिन तक भूमि के अन्दर समाधिस्थ देखे गये हैं।[5] वे इसी मुद्रा को लगा लेते हैं और अमृत-पान करते रहते हैं। इससे

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ३/४१।
२. वही, ३/३२-३३।
३. वही, ३/३८।
४. वही, ३/३९-४०।
५. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० १११।

उनके शरीर में किसी भी प्रकार का चयापचय नहीं होता। यहां तक नाखून और बाल या दाढ़ी जितनी बढ़ी रहेगी, ४० दिन बाद भी उतनी ही रहेगी। उसमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होगी। उन्हें श्वसनक्रिया की भी आवश्यकता नहीं होती। साधक को अपेक्षित आक्सीजन तथा भोजन का तत्त्व मिलता रहता है।[1]

खेचरी मुद्रा के विषय में और विस्तार से हम विन्दु-विसर्ग की साधना में वर्णन करेंगे, क्योंकि यहां स्वाधिष्ठानचक्र में खेचरी के साथ बज्रोली क्रिया का भी उपयोग होता है। बज्रोली क्रिया का उपयोग यह है कि खेचरी मुद्रा के प्रभाव से साधक का स्पर्श कामिनी से होने पर भी उसके बिन्दु का क्षरण नहीं होता और यदि कामिनी की योनि में साधक का बिन्दु चलायमान भी हो जाय तो वह बज्रोली के बन्धन से खिंचा हुआ ऊपर की ओर चला जाता है।[2] इसलिये यहां खेचरी के साथ बज्रोली का भी महत्त्व है। जननेन्द्रिय के ऊपर वाले भाग, जहां एड़ी से दबाव डाला जा रहा है, में संकोच करना चाहिये और साथ ही साथ उस स्थान का ध्यान भी। धीरे-धीरे इस ध्यान और संकोच का क्षेत्र विस्तृत करते हुये जननेन्द्रिय, अण्डकोष और अण्डाशय तक रहना चाहिये। मूलाधार का भी क्षेत्र हम ले सकते हैं, किन्तु यह ध्यान रहे कि कन्द स्थान को संकोच-क्रिया से मुक्त रक्खें, क्योंकि वह तो मूलाधारचक्र की साधना का क्षेत्र है। यद्यपि ऐना करना कठिन है, फिर भी सम्भव है।[3]

उक्त स्थान के संकोच और प्रसार की क्रिया शनैः शनैः की जानी चाहिये। इस स्थान के दबाव पर ध्यान भी निरन्तर बना रहेगा। यह क्रिया कुछ देर तक करें। संकोच-प्रसार में किसी भी प्रकार का हठ नहीं करना चाहिये। सब कुछ स्वेच्छया नियन्त्रित ढंग से धीरे-धीरे करना चाहिये। यद्यपि ऐसा करने में समय लगेगा। इन मांस पेशियों पर नियन्त्रण करने के लिये उड्डीयान वन्ध, शलभासन और धनुरासन का अभ्यास किया जा सकता है।

(४) मणिपूरचक्र की साधना

इस चक्र के साधनात्मक प्रयोग पर चर्चा करने से पूर्व स्वामी सत्यानन्द द्वारा निर्दिष्ट उन तीन साधनाओं पर हम दृष्टिपात करना चाहते हैं जो इस चक्र के जागरण में उपयोगी हैं।[4] हठयोग के अनुसार मणिपूरचक्र के जागरण की

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ११२।

२. हठयोग प्रदीपिका, ३/४२-४३।

३. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ६८।

४. वही, पृ० ७६-७८।

प्रथम साधना है त्राटक योग, क्योंकि मणिपूरचक्र सीधे आंखों से तथा पैर से सम्बद्ध है और इस चक्र की कर्मेन्द्रिय पाद है, ज्ञानेन्द्रिय चक्षु है तथा तन्मात्रा-रूप है। त्राटक योग की साधना का संक्षिप्त रूप यह है कि भूमि से लगभग १ फुट की ऊँचाई वाली चौकी पर सुखपूर्वक बैठ कर चक्षु की सीध में दो फिट की दूरी पर किसी नीले (शून्य शक्ति वाले) बल्व पर या अन्य किसी सूक्ष्म पदार्थ पर दृष्टि को तब तक एकाग्र किये रहें जब तक अश्रुपात न होने लगे। अश्रुपात के बाद पुनः इसी क्रिया का अभ्यास करें। कभी-कभी नासिकाग्र या भ्रूमध्य पर दृष्टि को स्थिर करके भी त्राटक सिद्ध किया जाता है। इस क्रिया में चित्त की स्थिरता बहुत ही आवश्यक है। इसे योगियों ने सुवर्ण पेटी को गुप्त रखने के समान यत्नपूर्वक गोप्य कहा है।[1]

अब हम प्रायोगिक साधना पर चर्चा करेंगे। इस साधना से आज्ञाचक्र का स्थान सक्रिय होता है न कि जागृत। आज्ञाचक का अन्वेषण करने के लिये मूलाधार के संकोच और प्रसार का अभ्यास आवश्यक है। इस साधना के प्रथम चरण में ध्यातव्य तथ्य हैं—मूलाधार स्थान के संकोच और प्रसार के समय आँखें वन्द, चिन्मुद्रा युक्त, मेरुदण्ड सीधा, किसी दूसरे व्यक्ति का स्पर्श नहीं। मन में मूलाधार का चिन्तन। इसके बाद मूलाधार का बार-बार संकोच-प्रसार। यह कार्य श्वासों को लेने और छोड़ने के साथ हो। यह क्रिया कुछ समय तक करें इसके बाद दीर्घ विश्राम!

साधना के द्वितीय चरण में आँखें बंद, सिद्धासन की स्थिति, (Abdomini Viscera) पेड़ू के नीचे मूत्राशय के मूल में संकोच करें। इसके बाद सम्पूर्ण जननेन्द्रिय, मूत्राशय तथा अण्डकोष तक संकोच का आकर्षण करके शिथिलीकरण (संकोच का त्याग) करें। यह क्रिया कुछ देर करके पुनः दीर्घ विश्राम।

साधना के तृतीय चरण में वहुत ही सावधानी पूर्वक बज्रोली का अभ्यास करें। इसके बाद पुनः जननमूत्राशय (Genito-urinary complex) का संकोच करें।

चतुर्थ चरण में उसी पूर्व आसन में दृढ़ रह कर मूलाधार तथा कण्ठ से दो शक्तियों (अपान और प्राण वायु) का नाभि की ओर "पूरक" करने के साथ गमन कराना चाहिये। जब यह समझें कि प्राण वायु और अपान वायु का मिलाप नाभि में हो रहा है तब कुम्भक करें और मानसिक रूप से दोनों शक्तियों के मिलन-स्थान पर सावधान रहें। इस प्रकार मूलबन्ध का अभ्यास करें। इसके बाद

---

१. हठयोग प्रदीपिका, २/३१-३२।

रेचक के साथ इस क्रिया का परित्याग करे। नाभि में शक्ति को केन्द्रित करने में कुम्भक को जितनी देर तक रोक सकें उतना ही अच्छा है। अब कुछ देर तक आंखे बन्द करके चुपचाप बैठे रहें।

साधना के पांचवें चरण में सिद्धासन बदल कर बज्रासन लगावें। घुटने मुड़े हुये, नितम्ब पैर के तलुवों पर, परस्पर मिली हुई अंगुलियों वाली हथेलियाँ ऊपर की ओर नाभि के नीचे गोद में, आँखें वन्द, शान्त। बन्द आँखों से नासिकाग्र पर ध्यान। नासिकाग्र ध्यान की सावधानी बरावर बनी रहे। बीच में आँखें किंचित् उन्मीलित करें किन्तु ध्यान नासिकाग्र पर ही रहे। पुनः आँखें वन्द, ध्यान वहीं नासिकाग्र पर। कुछ देर तक यह क्रिया करते रहने के वाद दीर्घ विश्राम। साधना समाप्त, आँखें खोलें, पूर्ण आराम करें, पुनः प्रकाश।

(५) अनाहतचक्र की साधना[1] :—

इस चक्र की साधना "सोऽहं साधना" कही जाती है। सुखासन (जिस आसन में सुविधा लगे) बैठें। शरीर पर कोई विशेष नियन्त्रण नहीं, कण्ठ में ध्यान करें। ध्यातव्य है कि कण्ठ में प्राण वायु के विषय में सावधान रहें कि किस प्रकार प्राण वायु कण्ठ से होकर नीचे गहन राज्य में जा रही है।

इसके बाद हृदय आकाश में सावधानी रखें और उसे श्वास के द्वारा भरा जाता हुआ अनुभव करें। श्वसन क्रिया और उसकी अनुभूति ही हार्दाकाश के अनुभव का प्रमुख आधार है। श्वसन क्रिया के लय (गति) के साथ हृदय के संकोच और विस्तार की अनुभूति करें। एक बार हृदय-स्थान का ज्ञान हो जाने पर पुनः उस स्थान का सहज ज्ञान होता रहेगा। वार-वार स्वतः और स्वाभाविक श्वसन क्रिया के लय पर हार्दाकाश के संकोच और विस्तार का अनुभव करना चाहिये। श्वास लम्बी या विशेष प्रकार की न हो। इस अभ्यास में हार्दाकाश की सावधानी महत्त्वपूर्ण है। यदि संकोच-प्रसार की अनुभूति द्वारा हार्दाकाश की सावधानी दृढ़ और स्थिर है तो वहाँ कुछ समय वाद अन्य वहुत सी वस्तुओं का भी अन्तः साक्षात्कार होता है। उस मानस दर्शन के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता है। वह छाया स्वतः अनुभूत होती है। केवल प्रतीक्षारत रहने की आवश्यकता है। वह छाया एक वापी और नील कमल की होती है। यदि हार्दाकाश (हृदय स्थान) के संकोच और प्रसार की अनुभूति हो गयी हो तव तो ठीक है अन्यथा संक्षेप में तीन अवस्थाओं का अभ्यास करना चाहिये। प्रथम-हृदय स्थान में प्राणवायु के भरे जाने की अनुभूति, द्वितीय-श्वसन क्रिया के लय के साथ

---

१. तन्त्र आफ कुण्डलिनीयोग, पृष्ठ ९८-१००।

हृदय-स्थान के संकोच-विस्तार की सीधी अनुभूति, तृतीय-वापी में नील कमल की सावधानी।

साधना के अगले चरण में सहज श्वसन-क्रिया के साथ सोऽहं के अजपाजप की अनुभूति करनी चाहिये। श्वास लेते समय सो और छोड़ते समय अहम् का भाव हो। इस अभ्यास के द्वारा यह अजपाजप सहज हो जाना चाहिये। श्वास को या तो नासिकारन्ध्र में या नाभि और कण्ठ के मध्य में अथवा केवल कण्ठ में अथवा सोऽहम् के साथ हृदय-स्थान में अनुभव करना चाहिये। श्वास को नासारन्ध्र, नाभि-कण्ठ के मध्य, और कण्ठ-इन तीन स्थानो में एक साथ या क्रमशः अनुभव करना चाहिये। साधना समाप्त; दीर्घ विराम, पूर्ण आराम।

(६) विशुद्धचक्र की साधना :—

बिन्दु के द्रव पदार्थ का शुद्धीकरण करने वाला यह चक्र है।[1] कण्ठ ही वह स्थान है जहाँ अन्तः और बाह्य दोनों ही विष का शुद्धीकरण होता है यहाँ केवल साधानात्मक प्रक्रिया पर ही विचार करना समीचीन होगा। जालन्धर बन्ध विशुद्धचक्र के जागरण में बहुत उपयोगी है। पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिये। पूरक के अन्त में कुम्भक के समय ठोड़ी (चिबुक या दाढ़ी) को गले के नीचे के गड्ढे में टिकाना चाहिये—

कंठयाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥[2]

नाड़ियों के समूह तथा कपाल-कुहर-रूप नभ के जल को बाँधने के कारण इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। यह विशुद्धचक्र में वायु को रोक कर बन्धन करता है अतएव उसे मध्यचक्र भी कहा जाता है।[3]

जालन्धर बन्ध के अतिरिक्त विपरीतकरणी मुद्रा भी इस चक्र के जागरण में सहायक सिद्ध होती है।[4] इस मुद्रा का अभ्यास तीनों साधनों द्वारा किया जाता है—अर्धसर्वाङ्गासन, सर्वाङ्गासन, और शीर्षासन। जो क्रिया योगी के नाभि (सूर्य) को ऊर्ध्वभाग में तथा तालु (राशि) को अधोभाग में करे उसे विपरीतकरणी मुद्रा

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० १०१।
२. हठयोग प्रदीपिका, ३/७०।
३. वही, ३/७१-७३।
४. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० १०३।

कहते हैं ।[1] इसके अतिरिक्त अमृत-पान की क्रिया का अभ्यास करना चाहिये, जो विभिन्न मानसिक और शारीरिक मुद्राओं के साथ प्राणायाम से सम्बद्ध है ।

अब हम विशेष प्रायौगिक साधना पर चर्चा करेंगे । जिस प्रकार मणिपूर-चक्र के जागरण में अश्विनीमुद्रा (आज्ञाचक्र), वज्रोलीमुद्रा (स्वाधिष्ठान), मण्डूकी (मूलाधार) और नौलि क्रियाओं की सहायता ली जाती है, उसी प्रकार विशुद्धचक्र का जागरण भी आज्ञा से मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत का ध्यान किया जाता है, इसे चक्रावरोहण कहते हैं ।

साधना-प्रकाश बन्द । प्रथम चरण में आज्ञाचक्र के ध्यान का अभ्यास—सिद्धासन, चिन्मुद्रा, आँखें बन्द, दृढ़, शान्त, स्थिर, अश्विनी मुद्रा का अभ्यास (श्वसन क्रिया के साथ मूलाधार का संकोच और विस्तार) । जब आज्ञाचक्र का पता चल जाये तब सीधे आज्ञाचक्र पर ध्यान करें, अन्यथा अश्विनीमुद्रा का अभ्यास करें । यह क्रिया प्रारम्भ में चार मिनट तक करें ।

साधना के द्वितीय चरण में मूलाधार के ध्यान का अभ्यास-बज्रासन-घुटने हल्के से अलग-अलग आबद्ध अँगुलियों वाली ऊर्ध्वमुखी हथेलियाँ नाभि के नीचे गोद में । बन्द आँखों से नासिकाग्र पर मानसिक एकाग्रता, बीच-बीच में आँखों का किंचिद् उन्मीलन और ध्यान नासिकाग्र भाग पर । इस मण्डूकी क्रिया का तीन मिनट तक अभ्यास करें ।

तृतीय चरण में स्वाधिष्ठान के ध्यान का अभ्यास—वज्रोलीमुद्रा का तीन मिनट तक अभ्यास करें ।

चतुर्थ चरण में मणिपूरचक्र का अभ्यास करें । इसमें श्वास लेने के साथ (पूरक के समय) मूलाधार से या गुदा-स्थान से अपान वायु को नाभि की ओर तथा कुम्भक के समय दोनों वायु का नाभि-स्थान में मिलाप करके थोड़ी देर रोके रहने का अनुभव करें । रेचक के समय दोनों वायु का विलगाव होना चाहिये । नाभि में शक्ति की एकाग्रता अनुभव करें । यह क्रिया ४ मिनट तक की जानी चाहिये ।

साधना के अगले चरण में अनाहतचक्र के लिये ३ ध्यान का अभ्यास करें । प्रथम—हृदय-स्थान को कण्ठ-स्थान से गमनशील प्राणवायु द्वारा भरा जाना, द्वितीय—श्वसन-क्रिया के लय के साथ हृदय के संकोच और प्रसार का अभ्यास,

---

१. हठयोगप्रदीपिका, ३/७९ ।

तृतीय—हृदयाकाश की वापी में नीलकमल का छाया के दर्शन की प्रतीक्षा। यह अभ्यास ४ मिनट तक करें।

इसके वाद प्रत्येक चक्र पर एकाग्र हों। उन चक्रों का ध्यान करते समय यह अनुभव करें कि आप किसी छोटे पुष्प से या अपने अँगूठे से उन चक्र-स्थानों का स्पर्श कर रहे हों। चक्रों के ध्यान का क्रम इस प्रकार हो—

मूलाधार, मणिपूर, स्वाधिष्ठान, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इसके बाद आज्ञा, विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधार। यह क्रम चार बार किसी गुरु के निर्देशन में होना चाहिये और उसके बाद स्वतः उसका अभ्यास तीन मिनट तक करें। इस प्रकार इस चक्र की सम्पूर्ण साधना में २१ मिनट लगेंगे। यह समय काफी अभ्यास के बाद नियन्त्रित हो पायेगा। प्रारम्भ में तो आधे घन्टे का समय लग सकता है।

७. विन्दु-विसर्ग की साधना :—

शिर के शिखर भाग में स्थित विन्दु का जो द्रव पदार्थ, नासिका-रंध्र से तालुमूल में जिह्वा (खेचरीमुद्रा) के स्पर्श से क्षरणशीलता को प्राप्त होता है, वह विशुद्धचक्र (कण्ठ) में शुद्धीकृत होकर अमृत-रूप धारण करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विशुद्ध और विन्दु-विसर्ग की साधना भी परस्पर सम्बद्ध ही है। विन्दु-विसर्ग का जागरण वज्रोली मुद्रा तथा मूर्च्छा प्राणायाम से सम्बन्ध रखता है।[1] इन दोनों का क्रमशः शलभासन, धनुरासन, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्ध द्वारा अभ्यास करना चाहिये। योनि मुद्रा या शक्तिचालिनी मुद्रा के द्वारा विन्दु का अन्वेषण किया जा सकता है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है। उक्त सभी क्रियाओं पर चर्चा हो चुकी है। मूर्च्छा प्राणायाम के अन्तर्गत कुम्भक के समय दोनों हाथों के अँगूठे को कान में डालकर, दोनों तर्जनी और मध्यमा से आँखों को कोमलता से बन्द करें तथा दोनों अनामिका से नासिका और दोनों कनिष्ठा से अधर को दबावें। तत्पश्चात् स्वतः उद्भूत अनवरत नाद की अनुभूति की जा सकती है। इस नाद-स्थान का अन्वेषण करने से विन्दु-स्थान का ज्ञान होता है, क्योंकि नाद-स्थान ही विन्दु-स्थान है। वज्रोली मुद्रा तथा मूर्च्छा प्राणायाम भी नाद-स्थान के अन्वेषण में सहायक होता है।

इस चक्र के जागरण से सुधा-धारा प्रवाहित होती है। विन्दु से ही मादक स्राव होता है, जो योगियों के लिए अमृत है, जीवन है। इस अमृत का पान करके

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० ११५।

योगी जन भूख-प्यास से मुक्त हो जाते हैं। अमृत-पान की क्रिया खेचरी मुद्रा द्वारा सम्पन्न की जाती है। खेचरी मुद्रा में जिह्वा पीछे की ओर मुड़कर घाटी में कार्क (ढक्कन) के समान स्थित हो जाती है। इस अभ्यास से विन्दु से प्रवाहित हुई अमृत-बूँदें सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर आक्सीजन, भोज्य तत्त्व, जल तत्त्व प्रदान करती हैं। इस अमृत-बूँद का प्रवाह-मार्ग विन्दु (शिखास्थान) से विशुद्ध (कण्ठ) तक एक विशेष नाड़ी-जाल के माध्यम से जुड़ा है, जो नासिका-रन्ध्र के अन्तःभाग और तालुमूल से लेकर जाता है। सुधा का निर्माण विन्दु-चक्र में और उस अमृत का संग्रह नासारन्ध्र के अन्तःचक्र लालन (तालु) चक्र में होता है।[1] जब खेचरी मुद्रा के द्वारा यह चक्र (लालनचक्र) उत्तेजित किया जाता है, तब योगी अमृत-पान करता है और यही इस चक्र की जाग्रृत अवस्था है।

अब हम इस चक्र के लिये अपेक्षित "सोऽहम्" मन्त्र-साधना पर चर्चा करेगें।। अनाहतचक्र की साधना के कुछ-कुछ समान इस चक्र की भी साधना है। जैसे सुखपूर्वक किसी भी आसन पर बैठना। आँखें बन्द, जिससे किसी भी प्रकार का विघ्न न हो। अजपाजप के लिये अपनी श्वास क्रिया पर ध्यान रखें। यदि मस्तिष्क इधर-उधर भ्रमण करे तो कोई बात नहीं। केवल श्वास लेने और प्रच्छ्वास के निकालने पर सावधानी रखें। निरन्तर यह विचार (ध्यान) रखे रहें। यह क्रिया दो मिनट तक करें।

दूसरे चरण में श्वसन-क्रिया के साथ "सोऽहम्" के नाद पर सावधानी रखें। श्वसन-क्रिया का अनुभव कण्ठ, नासिका या कण्ठ और नाभि के मध्य करें। "सोऽहम्" के अतिरिक्त किसी अन्य मन्त्र का भी सहारा ले सकते हैं, लेकिन ध्यान (एकाग्रता) श्वसन-क्रिया पर ही रहे। हम यह ध्यान रखें कि क्या-क्या घटनायें इस क्रिया में हो रही हैं। इस क्रिया का अभ्यास चार मिनट तक करें।

तीसरे चरण में श्वसन-क्रिया और "सोऽहम्" मन्त्र पर विशेष सावधानी (एकाग्रता) रखनी चाहिये। यह अभ्यास चार मिनट तक करें।

चतुर्थ चरण में अपने को श्वसन-क्रिया और मन्त्र के साथ लीन कर दें। अब श्वसन-प्रक्रिया को विशुद्ध और विन्दु के मध्य ऊपर-नीचे सम्पन्न करें। यह अभ्यास तीन मिनट तक करना चाहिये।

कुण्डलिनी-जागरण का स्वरूप

साधना के पूर्व कथित सोपानों का अभ्यास करने से साधना परिपक्व होने

---

१. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० ११३।

पर सुषुप्त चेतना शक्ति कुण्डलिनी उद्‌बुद्ध होकर प्रत्येक चक्र पर आक्रमण करती है। चक्रों के जागृत हो जाने पर मन प्रबुद्ध हो जाता है और योगी चमत्कृत शक्तियों को प्राप्त करता है। वह देहभावाभिमानी नहीं रह जाता, मन से भी ऊपर उन्मना राज्य में प्रवेश कर जाता है तथा आत्मा भी सभी बन्धनों से मुक्त हो जाती है।[1]

कुण्डलिनी-जागरण की अवस्था में चक्रों के वर्ण, नाद रूप में तथा नाद, बिन्दु रूप में परिणत होते हैं। विलीन होते हुये यह बिन्दु आज्ञा के ऊपर नित्य विराजमान रहता है। षट्‌चक्रों का भेदन करने वाला योगी उस बिन्दु से बिखरे समस्त अंशों को उसी बिन्दु में समाहार करता है अर्थात् ऊर्ध्वगामी महास्रोत से युक्त कर देता है। यह ऊर्ध्वमुखी धारा सुषुम्णा नाड़ी का अवलम्बन कर प्रवाहित होती है। साधना के द्वारा वैखरी के सभी वर्ण मध्यमा में नादाभास, पश्यन्ती में नादमयज्योति तथा परा में शब्दब्रह्म रूप हो जाते हैं। इसके भेद से परमसिद्धि का उदय होता है।[2]

वर्णों को नाद रूप में परिणत करने के लिये ऊष्मा का होना आवश्यक है। यह चिदग्नि कही जाती है, जो कुण्डलिनी के जागृत होने पर उत्पन्न होती है।[3]

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कुण्डलिनी-जागरण चक्रों का ही जागरण है, किन्तु इस जागरण के कई आंशिक और पूर्ण स्वरूप भी हैं। जब सुषुम्णा में जागरण होता है, तब पूर्ण जागरण माना जाता है और जब केवल मूलाधार या किसी एक चक्र में जागरण होता है तब पूर्ण प्रकाश की अनुभूति नहीं हो पाती। यह आंशिक जागरण है।[4] सबसे पहले मूलाधार पद्म पर संक्षोभ होने से चारों वर्ण शक्ति की ऊष्मा से विगलित होकर प्रवाह रूप धारण करते हैं। वर्णों का नाद और बिन्दु में क्रमशः विलय होता जाता है। मूलाधारचक्र में स्थित मध्य बिन्दु, वर्णात्मक तथा नादात्मक सम्पूर्ण चक्र को अपने में विलय करके, ब्रह्म नाड़ी के ऊर्ध्व आकर्षण के प्रभाव से ऊपर उठकर, ऊर्ध्वचक्र में प्रवेश करता है। इसी क्रम में प्रत्येक चक्र के वर्ण, नाद और बिन्दु में विलीन होकर अन्त में एक बिन्दु में

---

१. द मिस्टीरियस कुण्डलिनी, पृ० ३९।

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ९९।

३. वही, पृ० ९९।

४. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनीयोग, पृ० ६।

विश्रमित हो जाते हैं। इस प्रकार षट्चक्रों के विध्वस्त होने के वाद और उनके बिन्दु एक दूसरे के विन्दुओं में क्रमशः विलीन होते हुए आज्ञाचक्र के ऊर्ध्व में दिव्य ज्ञान के विन्दु के रूप में उन्मुक्त होते हैं। यही कुण्डलिनी की उन्मेष प्राप्त अवस्था है।[1]

षट्चक्रभेद पूरा हो जाने पर आत्मा का तृतीय नेत्र (ज्ञान चक्षु) मल शून्य होकर निर्मल हो जाता है। सारे विकल्पों का विलय हो जाता है और निर्विकल्प स्वरूप का दर्शन होता है, अर्थात् "शिवोऽहं" रूप आत्मा का साक्षात्कार होता है।[2] कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि शक्ति का जागरण अपनी प्रारम्भिक अवस्था में सहज ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में चूँकि जागरण हेतु भूमियाँ तैयार नहीं की गई रहती, इसलिये व्यक्ति को बहुत ही कष्ट की अनुभूति होती है।[3] कुण्डलिनी के जागरण से चित् शक्ति प्रकाशित होती है। यह चिदग्नि रूप है। सद्गुरु-कृपा, ईश्वर-कृपा, साधना के परिपाक, तीव्रतम संवेग या शक्तिपात से इस शक्ति का जागरण होता है। इस समय ललाट में परम ज्योति के अमृत कोश की उत्पत्ति होती है। इसके वाद महाशक्ति के आकर्षण से अति सूक्ष्मभाव से महा-शून्य का भेद कर योगी सहस्रार का साक्षात्कार करता है। सहस्रार में महाविन्दु है। भ्रूमध्य बिन्दु से महाविन्दु तक अनेक स्तर हैं। जागृत शक्ति रूपा कुण्डलिनी इन सभी स्तरों का भेदन करती हुई महाविन्दुस्थ परम शिव का आलिङ्गन करती है। यह शिवशक्ति का महामिलन है। इस महामिलन से अमृतधारा का क्षरण होता है और इससे मन तथा प्राण अभिषिक्त हो उठते हैं। प्राण-अपान वायु के मिलन रूप समान वायु की विशिष्ट क्रिया से शक्ति जागृत होती है तथा उदान वायु की क्रिया से कुण्डलिनी की ऊर्ध्व गति होती है। यह ऊर्ध्वगति सह-स्रार से ब्रह्मरन्ध्र तक प्रसारित होती है। यही परा गति है। इस समय व्यान-शक्ति के प्रभाव से आत्मा की खण्ड सत्ता समाप्त होकर अनन्त या व्यापक रूप धारण करती है। यही आत्मा की स्वरूप-अवप्ति है। शिव, शक्ति और जीव तीनों एक महासत्ता के रूप में प्रकाशित होते हैं। यही पूर्ण अद्वैतभाव है और यही पूर्णत्व-लाभ है।[4]

अरणि-मन्थन से प्रज्ज्वलित अग्नि के समान साधना द्वारा कुण्डलिनी

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग-१, पृ० ३२१।
२. वही, पृ० ३१९।
३. द चक्राज—ए मोनोग्रैफ, पृ० ८५।
४. भारतीय संस्कृति और साधना भाग १, पृ० ३२१-३२२।

जागृत होती है। जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित होने पर इंधन को दग्ध कर देती है उसी प्रकार कुण्डलिनी के जागृत होने पर सारी साधनायें विलुप्त हो जाती हैं। बाह्य साधना, भक्ति, मन्त्रयोगादि का कर्तृत्त्व वोव कुण्डलिनी के जागरण पर लुप्त हो जाता है। महर्षि गोपीनाथ कविराज जी ने एक सुन्दर उदाहरण द्वारा इस साधना के कर्तृत्त्व बोध के विलुप्त होने की बात की पुष्टि की है।[१] जिस प्रकार नौका को अनुकूल प्रवहमणा स्रोत में छोड़ देने पर उसे समुद्र में पहुँचाने के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार जागृत कुण्डलिनी के प्रवाह में मन और प्राण को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था की प्राप्ति में किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रह जाती। कुण्डलिनी के क्रमिक जागरण से जीव का उत्थान ऊर्ध्वबिन्दुपर्यन्त ही होता है। जीव, केन्द्र में प्रविष्ट होते ही लीलाभूमि के ऊपर से प्रान्त को अपने अधीन कर लेता है।[२] यह साम्यभाव की अवस्था है। इसे उपशम या शान्तावस्था भी कहते हैं। यही निर्वाण पद भी कहा जाता है।[3]

जिस समय कुण्डलिनी-जागरण होता है, उस समय इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में प्रवाहित होने वाला स्रोत सुषुम्णा के मार्ग में सूक्ष्मता को प्राप्त होकर प्रविष्ट होता है। सुषुम्णा, इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों का जो ऊर्ध्व स्थान है, जिसे आज्ञाचक्र कहते हैं, वहाँ पर वह स्रोत पहुँचकर और ऊर्ध्वमुखी होता है। धीरे-धीरे वह स्रोत सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है इस अवस्था में जीव वज्रा और चित्रिणी नाड़ी का भेदन करके अपनी शक्ति को ब्रह्मनाड़ी और आनन्दमय कोश की ओर गतिशील करता है।[४] इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों से प्राणवायु को अलग करके सुषुम्णा में प्रवेश कराना ही समाधि-अवस्था की प्राप्ति है। उस समय इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों के मृतप्राय होने पर प्राणवायु सुषुम्णा में प्रवेश करके कुण्डलिनी की सहायता से षट्चक्रों का भेदन करते हुये सहस्रार में विलय को प्राप्त होता है।

कुण्डलिनी-जागरण की अनुभूति :—

जब जीव-शरीर का उदक होता है तो शिव की शक्ति उस जीव शरीर में

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० ३२१।

२. वही, पृ० ३१५।

३. द मिस्टीरियस कुण्डलिनी, पृ० ४८।

४. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० ३११।

सुप्त शक्ति के रूप में स्थित रहती है। मनुष्य-शरीर की सृष्टि होने पर वही शक्ति स्वप्नावस्था में वर्तमान रहती है। जब तक स्वप्नावस्था रहती है, तब तक जीव का संसार चक्र (जन्म-मरण) चलता रहता है, किन्तु उस सुप्त शक्ति (जो स्वप्नावस्था में आ गई है) के जागृत होने पर जीव का स्वप्न टूट जाता है और वह अपने मूल रूप में प्रतिष्ठित होता है। यह किसी नई वस्तु की उपलब्धि नहीं हैं, अपितु जीव का अपने यथार्थ स्वभावसिद्ध शिवमय स्वरूप की पुनः प्राप्ति है।[१]

षट्चक्रों की साधना की परिपक्वता होने पर छः चक्रों के वर्ण नाद में, नाद बिन्दु में परिणमित होते हुये ऊर्ध्वगति को प्राप्त करते हैं। अर्थात् भ्रूमध्य के कुछ ऊपर प्रज्ञा चक्षु का उन्मीलन होता है और इसके बाद पचास वर्ण और उससे उद्भूत नाद का भी अतिक्रमण कर साधक को एक विशुद्ध ज्योति की प्राप्ति होती है। यही ज्ञानात्मक ज्योति स्वरूप बिन्दु है। इस ज्योति बिन्दु को प्राप्त करने के बाद योगी इसी के अन्दर स्थित शून्य का आश्रयण कर व्यष्टि से समष्टि जगत् में प्रवेश करता है।

इसके बाद महासमष्टि में प्रवेश करने लिये शून्य का भी भेद करना होता है। योगी जन महासमष्टि से भी ऊपर चरम शून्य का पद बतलाते हैं। जिस चरम शून्य का साक्षात्कार महासमष्टि के भेदन से ही सम्भव है।[२] चरम शून्य में प्रवेश ही पूर्ण ज्ञान है। यही यथार्थ आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान होने पर आत्मा में अहं की प्रतीति का उदय होता है। वही पूर्ण अहम है।[3] इस प्रकार व्यष्टि से समष्टि, समष्टि से महासमष्टि, महासमष्टि से चरम शून्य की प्राप्ति होती है। इन्हीं को क्रमशः काल राज्य, ज्ञान राज्य, महाज्ञान राज्य और परम राज्य कह सकते हैं। इससे भी ऊपर कुछ राज्य हैं जो व्यष्टि, समष्टि, महासमष्टि, से परे हैं। यह प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात्रि, सृष्टि-संहार, चित्-अचित्-भेद आदि द्रव्यों से अतीत है। यह स्वातन्त्र्यमय वास्तविक स्वराज्य है। यही प्रेम और महाकरुणा का राज्य है।[४]

कुण्डलिनी-जागरण का प्रभाव :—

कुण्डलिनी जागृत साधक के लिये कोई भी कार्य असम्भव नहीं हैं। वह

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९८।

२. वही, पृ० १०२।

३. वही, पृ० १०३।

४. वही, पृ० १०४।

साक्षात् परम शिव स्वरूप हो जाता है। समस्त अष्ट सिद्धियों (अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वाशत्व, ईशत्व) उसके वशीभूत हो जाती हैं। यह सब निर्विकल्पक समाधि का प्रभाव है।[1] उस समय योगी चित्तवासनादि के बन्धन से मुक्त हो जाता है। कुण्डलिनी के जागृत होने पर साधक में वायु तत्त्व की प्रधानता हो जाने से वह आकाश-गमन भी कर सकता है। जब चिन्दग्नि प्रज्ज्वलित होती है तब उष्णता से शरीर में प्राणवायु हल्की हो जाती है तथा उत्थित होने की चेष्टा करती है। वायु के साथ शरीर भी उत्थित होने लगता है। पर शरीर के उत्थित मात्र होने से आकाश-गमन सम्भव नहीं हैं। कुण्डलिनी-जागरण की साधना परिपक्व होने पर ही पूर्णरूपेण आकाश-गमन भी सम्भव है।

कुण्डलिनी-जागरण के समय सशक्त वायवीय धाराएँ (शक्तियाँ) मस्तिष्क और शरीर के अन्य अवयवों को गम्भीर रूप से प्रभावित करती है और जीव अद्भुत क्षमता से सम्पन्न हो जाता है। नाना प्रकार के असाधारण गुह्य और बौद्धिक स्तर के क्षेत्रों में साधक की अबाध गति दृश्यमान होने लगती है।[2] कुण्डलिनी-जागरण के असीमित फल है। साधक को काल तथा देश भी सीमा में नहीं बांध सकता। योगी एक ही समय में अनेक सुदूर स्थानों में उपस्थित देखे गये हैं। वे हर तरह से "सर्व सिद्धोश्वर" की कोटि में पहुँच जाते हैं।[3] कुण्डलिनी का साधक समस्त देवताओं का भी पति हो जाता है। वह वागीश होता है।[4] वस्तुतः कुण्डलिनी-जागरण इहलोक और परलोक परमपद की समस्त उपलब्धियों को प्रदान करता है। वह मोक्ष का हेतु है। कुण्डलिनी-साधना की तो बात दूर है, केवल कुण्डलिनी के १००८ नाम का पाठ करने से कोटि जन्म के पाप विनष्ट हो जाते हैं और उसके पुण्य का आख्यान नहीं किया जा सकता है।[5] सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं। अहंकार का विनाश होता है। देहाभिमान समाप्त हो जाता है, स्वयं शिव की प्राप्ति होती है और तभी शिव की साधना भी सिद्ध की जा सकती है। शिवत्वविहीन जीव की दशा में शिव की वास्तविक उपासना हो ही नहीं सकती। कुण्डलिनी-जागरण के क्रमिक विकास, जिसे समाधि का क्रम-विकास भी कहते हैं, में विन्दु की भी सीमा का अतिक्रमण करने पर सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता

---

१. द मिस्टीरियस कुन्डलिनी, पृ० ७९।

२. कुण्डलिनी—पाथ टु हायर कान्सेसनेस, पृ० ३५।

३. रुद्रयामल उ० त०, ६/२३।

४. वही, ३६/२०६।

५. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १००।

है। यहाँ पर प्रज्ञा के उदित होने के कारण चित्त पूर्णशुद्ध हो जाता है। इसके वाद असम्प्रज्ञात समाधि की उन्मेषावस्था का प्रादुर्भाव होता है यही पूर्ण जागरण है, पूर्णावस्था है। यहाँ पर क्लेश, कर्माशय, पूर्व संस्कार, कर्तृत्व बोध, कुछ भी नहीं रह जाता है। यहाँ पर चित्त की पूर्ण निर्मलता, चन्द्रमा की शान्त, स्निग्ध, विमल ज्योति के समान होती है। यही शुद्ध सत्त्व है, संकोच काल में जिस शुद्ध सत्त्व का निरोध करके कैवल्य की सिद्धि तथा विकास काल में इसके अविर्भाव से जीवनमुक्ति की प्राप्ति होती है।[1]

—:०:—

१. भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० ३१३।

षष्ठ पुष्प

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और कौलमत

प्रथम पटल

कौलमत

(क) "कुल" का अर्थ :--

नाना प्रकार के देवताओं की पूजा-पद्धतियों के कारण प्रारम्भ से लेकर आज तक बहुविधि तान्त्रिक सम्प्रदायों का विकास होता गया। शक्तिसंगमतन्त्र (९२-९३) में वैष्णव, गाणपत्य, शैव, स्वायम्भुव, चान्द्र, पाशुपत, चीन, जैन, कालमुख आदि तान्त्रिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। उनमें भी शैव वैष्णव तथा शाक्त प्रधान सम्प्रदाय और सौर तथा गाणपत्य गौण सम्प्रदाय माने जाते हैं। शनैः शनैः उक्त सम्प्रदाय भी आगे चलकर अनेक उपशाखाओं में विकसित होते गये। कालान्तर में केवल शिव के उपासक ही चार वर्गों में विभक्त होते देखे गये—शैव, पाशुपत, कारुणिक सिद्धान्ती तथा कापालिक।[1] वीरागम शैवों के चार मतों का उल्लेख करता है—सामान्यशैव, पूर्वशैव, मिश्रशैव तथा शुद्धशैव।[2] इसके अतिरिक्त कुछ शास्त्र वाम, पाशुपत, सोम लाङ्गल, भैरव, कापाल तथा नाकुल आदि सम्प्रदायों की ओर सकेत करते हैं।[3] शैव सम्प्रदाय में प्रत्यभिज्ञा, सिद्धान्तशैव तथा वीरशैव विशेष ध्यातव्य हैं।

शक्ति के उपासकों का सम्प्रदाय "शाक्त" कहलाया। शाक्त सम्प्रदाय में भी दिव्य, वीर, पशु, दक्षिण, वाम, चीन, कुल, समयाचार, परानन्द, कादिमत, हादिमत, गौडमार्ग, केरलमार्ग, कश्मीरमार्ग, कायालिक, दिगम्बर और क्षपणक आदि अनेकरूप सम्प्रदाय विकसित हुये। इस विभाजन से स्पष्ट होता है कि कुलमत शाक्त सम्प्रदाय का ही एक अङ्ग है। इस मत में कुलेश्वरी महाशक्ति की साधना विहित है।

"कुल" शब्द का व्युत्पत्तिपरक तथा अभिधेयार्थ सहजता से निश्चित नहीं हो पाता। लगता है कि एक विशेष कुल (परिवार) के द्वारा निर्दिष्ट पूजा-पद्धति को अपनाने वाले "कौल" कहलाये—

---

१. भामती (ब्रह्मसूत्र, २.२.३७)।

२. तन्त्राज : स्टडीज आन दियर रेलीजन और लिटरेचर, पृ० ५० पर उद्धृत।

३. तन्त्राधिकारिनिर्णय, पृ० २ (राजराजेश्वरी प्रेस, बनारस, १९४५)।

स्वस्ववंशपरम्पराप्राप्तो मार्गः कुलसम्बन्धित्वात् कौलः ।[1]

तन्त्र शास्त्र के अनुसार एक विशेष क्षेत्र में एक विशेष देवता से सम्बद्ध पूजा-पद्धति "कुलक्रिया" कहलायी तथा उसके आचरण करने वालों को "कौलिक" कहा गया—

यस्मिन् देशे तु यद्द्वारो निर्दिष्टो मन्त्रसाधने ।
तद् द्वारेण विशिष्टो यः कौलिकः कीर्तितः ॥[2]

शक्ति उपासकों से अलग कोई वैशिष्टय कुल साधकों की पूजा पद्धतियों में नहीं है। केवल पञ्चमकारों की विशेष साधना कौलिकों में विहित हैं। मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन ही वैष्णवों में गुरु, मन्त्र, वर्ण, देव तथा ध्यान तत्त्व है। सजातीय समूह को भी "कुल" कहते हैं। वह समूह ज्ञानैकविषयक, जात्येक-विशिष्ट तथा ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान रूप होता है। उपास्य-उपासक वस्तु समूह को प्रतिपादित करने वाले शास्त्र को "कुल" नाम से कहा जाता है—

कुलं सजातीय समूहः।.........उपास्योपासकवस्तुजातस्य........
प्रतिपादकं शास्त्रमपि कुलम् ।[4]

ज्ञेय रूप महाप्रयोजन की हेतुता जिस शरीर में विद्यमान हो उसे "कुल" तथा उस शरीर (कुल) वाले को "कौल" कहते हैं—

कुलं शरीरं महाप्रयोजनहेतुतया ज्ञेयं येषां ते कौलाः ।[5]

यौगिक व्याख्या के अनुसार—कु=पृथिवी पर लीन होने वाले (आधार-चक्र) को कुल कहते हैं। लक्षणया सुषुम्णा मार्ग को भी "कुल" कहा जाता है। इसलिये आधारचक्र के पूजकों को "कौल" कहते हैं[6]—एक अन्य व्याख्या के अनुसार कुल शक्ति रूप तथा अकुल शिवरूप है। कुल और अकुल के सम्बन्ध को "कौल" कहते हैं अर्थात् शिव और शक्ति का सामरस्य ही "कौल" है—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तं अकुलं शिव उच्यते ।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥[7]

---

१. सौभाग्यभास्कर (सौन्दर्यलहरी श्लोक १४४ पर)।
२. निर्वाणतन्त्र, पटल ११।
३. वही, पटल १२।
४. सौभाग्यभास्कर (सौन्दर्यलहरी, श्लोक ८७-८८ पर)।
५. योगिनीहृदयदीपिका, २/७८।
६. लक्ष्मीधरा (सौन्दर्यलहरी, श्लोक १० पर)।
७. सौभाग्यभास्कर (सौन्दर्यलहरी, श्लोक ८७-८८ पर)।

कुलमत की एक परम्परा शैवाद्वैत सम्प्रदाय से भी सम्बद्ध है। विशेषकर काश्मीरीय शैवाद्वैत परम्परा में आचार्य अभिनवगुप्त ने त्रिक के अन्तर्गत "कुल" को भी स्वीकार किया है, शेष दो क्रम तथा स्पन्द मत है। कहीं-कहीं "कुल" के लिये भी "त्रिक" का प्रयोग कर दिया जाता है।[1]

(ख) कौलमत का विकास :—

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कुल का अर्थ शक्ति या अनुत्तरा और शिव या अनुत्तर का ऐक्य है। वह परम तत्त्व ही शिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व का आभासक है। वह विश्वोत्तीर्ण है। चूँकि कुल का सम्बन्ध शिव और शक्ति से है, इसलिये इस मत की नित्यता तथा दिव्यता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। आगम शास्त्रों में कुल या कौल—दोनों नामों का उल्लेख हुआ है। कुलमत से सम्बद्ध शास्त्र भी पर्याप्त प्राचीन हैं। शैवाद्वैत परम्परा में प्रत्यभिज्ञा से प्राचीन कुलमत को स्वीकार किया जाता है।

कुलमत का ऐतिहासिक स्रोत हमें तन्त्र-ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है।[2] ग्रन्थ के द्वारा ही हमें कुलमत की गुरु-परम्परा का ज्ञान होता है। "कालीकुल" तथा "पञ्चशतिका" के द्वारा हमें कुलमत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पता चलता है। दुर्भाग्य यह है कि उक्त मूल ग्रन्थ अप्राप्त हैं। उन ग्रन्थों का सन्दर्भ मात्र परवर्ती तान्त्रिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

पौराणिक दृष्टि से कुलमत की परम्परा सत्ययुग, त्रेता, द्वापर से होती हुई कलियुग तक आई हुई मानी जाती है। सभी युगों में पूजा के समय कुलमत के उद्भावक आचार्य अपनी पत्नियों तथा पुत्रों के साथ पूजे जाते थे। सत्ययुग में कुलमत के आविर्भावक आचार्य "खगेन्द्र" थे जिनकी स्त्री का नाम विज्जाम्बा तथा दो पुत्रों का नाम वक्तष्टि तथा विमल था। पुत्रवधुओं का नाम इल्लाई अम्वा तथा अनन्तमेखलाम्बा था। देश के पूर्व भाग में इनकी पूजा होती थी।

त्रेता युग में कुलमत के संस्थापक आचार्य कूर्म को माना जाता है। इनकी पत्नी का नाम मंगला शक्ति तथा दो पुत्रों का नाम जैत्र तथा अविजित था। पुत्रवधुओं का नाम इल्लाई अम्वा तथा आनन्दमेखला था। इनकी पूजा दक्षिण भाग में की जाती थी।

द्वापर युग में कुलमत के आविर्भावक आचार्य "मेष" को स्वीकार किया जाता है। इनकी पत्नी का नाम "काम मंगला" तथा दो पुत्रों का नाम विन्ध्य

---

१. अभिनवगुप्त—डॉ० के० सी० पाण्डेय, पृ० २९६।
२. तन्त्रालोक, २९/२९।

तथा अजित था। पुत्रबधुओं का नाम कुल्लाई अम्बा तथा अजरमेखला था। इनकी पूजा पश्चिम भाग में की जाती थी।

कलियुग में कुलमत के संस्थापक आचार्य "मच्छन्द" माने जाते हैं। इनकी पत्नी का नाम कुंकुणाम्बा था। इनके छः पुत्र थे, जिनके नाम हैं—अमरनाथ, वरवेद, चित्रनाथ, अलिनाथ, विन्ध्यनाथ और गुडिकानाथ। पुत्रवधुओं के नाम हैं—सिल्लाई, एरुणा, कुमारी, बोधाई, महालच्छी तथा अपरमेखला।

प्रतीत होता है कि मच्छन्द राजा था, क्योंकि उसके पुत्रों को "राजपुत्र" कहा जाता था। उनके उत्तराधिकारी के रूप में आनन्द, अवलि, बोधि, प्रभु, पाद, योगिन का नाम आता है। पूजा के समय दाहिने हाथ की समस्त अंगुलियों तथा बायें हाथ की कनिष्ठा से निर्मित मुद्रायें ही अन्य सम्प्रदायों से कुलमत को अलग करतीं थीं। कौलिकों के शारीरिक ध्यान केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र, कुण्डलिनी, भ्रूमध्य, हृदय, नाभि तथा कन्द थे। कुलमत संस्थापक आचार्य मच्छन्द के पुत्रों के गृह, प्रथम भिक्षा-ग्रहण-स्थान तथा पीठ इस प्रकार हैं—

नाम	गृह	पल्ली	पीठ
१. अमरनाथ	पटिल्ल	दक्षिणावर्त	त्रिपुरा
२. वरदेव	कर विल्ल	कुम्भरिका	कामरूप
३. चित्रनाथ	अम्बिल्ल	विल्ल	अट्टहास
४. अलिनाथ	शवर या पुलिन्द	अडवी	देवीकोट्ट
५. विन्ध्यनाथ	शरविल्ल	अक्षर	दक्षिणावर्त
६. गुडिकानाथ	अडविल्ल	दोम्वी	कौलगिरि

इनके वंश-क्रम में भट्ट, इन्द्र, वल्कल, अहीन्द्र, गजेन्द्र तथा महीधर का नाम आता है।

५वीं शती में कौलमत का उदय :—

कश्मीर में अभेद शैव तन्त्रों का विकास चतुर्थ शती के अन्त तक हो गया था। अर्धत्र्यम्बक तान्त्रिक सम्प्रदाय की उत्पत्ति त्र्यम्वक के वंश से मानी जाती है। इस सम्प्रदाय के व्याख्याता शम्भुनाथ थे जिनसे अभिनवगुप्त ने इसका ज्ञान प्राप्त किया था।[२]

कुल मार्ग तथा अर्धत्र्यम्बक मठिका शैवमत के एक ही सम्प्रदाय के लिये

---

१. तन्त्रालोक, २९/२९।

२. अभिनवगुप्त—डा० का० च० पाण्डेय, पृ० ५४६।

स्वीकृत है। इस आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कुल सम्प्रदाय ५वीं शती में उदित हुआ।

मच्छन्द, जिनका उपनाम मीन था, को कुलमत का उद्भावक माना जाता है। अर्धत्र्यम्बक सम्प्रदाय के संस्थापक त्र्यम्बक के वंश वाले ऋषि का नाम अज्ञात है। "कुलमार्ग" तथा "अर्धत्र्यम्बक" एक ही सम्प्रदाय के रूप में माने जाते हैं, इसलिये मच्छन्द तथा अर्धत्र्यम्बक के संस्थापक को एक मान लेना चाहिये। इस आधार पर मच्छन्द का समय भी ५वीं शती माना जाना चाहिए।[1]

अभिनवगुप्त के कौलमत के गुरु, प्रगुरु तथा इनके भी गुरु क्रमशः शम्भुनाथ, सोमदेव तथा सुमति के नाम का उल्लेख मिलता है।[2] इस तथ्य के आधार पर हम कुलमत के इतिहास को ९वीं शती के मध्य में ले जा सकते हैं। इस प्रकार मच्छन्द और सुमति के बीच ४ शती का अन्तर पाया जाता है।

तन्त्रालोक के २८वें आह्निक में अभिनवगुप्त ने देवियामल के ५२वें पटल के अनुसार १० कुल-गुरुओं के नामों का उल्लेख किया है—१. उच्छुष्म, २. शबर, ३. चण्डगु, ४ मतंग, ५. घर, ६. अन्तक, ७. उर्ग, ८ हलहलक, ९. क्रोधी, १०. हुलहुलु।

तन्त्रालोक के २९वें आह्निक में, जहाँ कुलमार्ग के प्रयोग तथा पूजा के योग्य कुल-गुरुओं का उल्लेख हुआ है, जयरथ ने (पंचशतिका के आधार पर) ४३ वें श्लोक की भूमिका में ४ अन्य गुरुओं के नामोल्लेख न होने पर प्रश्न उठाया है। उनके नाम १. निष्क्रियानन्द, २. विद्यानन्द, ३. शक्त्यानन्द, ४. शिवानन्द है। उनकी स्त्रियों के नाम क्रमशः १. ज्ञानदीप्ति, २. रक्ता, ३. महानन्दा और ४. समया है।

उपर्युक्त ४ गुरुओं की सूची को पूर्वोक्त १० गुरुओं की सूची में मिलाने से १४ की संख्या हो जाती है। यदि प्रत्येक के लिए कम से कम २५ वर्ष का ही समय दे सकें, तो मच्छेन्द्र से सुमति के बीच ४ शती की रिक्तता पूरी हो जाती है।

(ग) कुल साहित्य :—

वस्तुतः आगम साहित्य अनन्त है। बहुत से आगम ग्रन्थ अब तो लुप्त प्राय हैं। तथापि जो कुछ भी अवशिष्ट है, वह विपुल ही है। कुलमत से सम्बद्ध कुछ तो

१. अभिनवगुवन—डा० का० च० पाण्डेय, पृ० ५४७।

२. वही।

मूल आगम है और कुछ परवर्ती तान्त्रिक ग्रन्थ। कुछ महत्त्वपूर्ण आगमों का संकेत हम यहाँ कर रहे हैं—

१. सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र :—

इस आगम को "सिद्धयोगीश्वरीमत" के नाम से पुकारा जाता है। इसमें सिद्धयोगीश्वरी विद्या के साथ मन्त्र, मुद्रा, मण्डल आदि का वर्णन किया गया है। शैवमत की भेद, भेदाभेद तथा अभेद —सभी धाराओं का विवेचन इस आगम में किया गया है। कहा जाता है कि मूल ग्रन्थ में श्लोकों की संख्या सौ करोड़ थी और इसके संक्षिप्त भाग में ३ करोड़ १२ हजार तक श्लोकों की संख्या बताई जाती है। मालिनीविजय तथा मालिनीविजयोत्तर तन्त्र इसी के भाग बतलाये जाते हैं जिनमें क्रमश: योग तथा वाम और दक्षिण मार्ग पर पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस आगम के वाम तथा दक्षिणमार्ग ने ही कुलमत को जन्म दिया।[1]

"मालिनीविजय" को सिद्धयोगीश्वरी मत का सार कहा जाता है। इसे तन्त्र-श्रृंखला की प्रथम कड़ी के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह कुलमत सर्व-प्राचीन तथा सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। सिद्धयोगीश्वरीमत को "श्रीपूर्वशास्त्र" कहते हैं।

२—रुद्रयामल :—

३—कुलार्णवतन्त्र :—

यह विशुद्ध रूप से कुलमत पर आधारित है। इसे सिद्धयोगीश्वरीमत का परवर्ती ग्रन्थ माना जाता है। कुलार्णव से ही इस तथ्य की पुष्टि होती है—

लोकधर्मविरुद्धञ्च सिद्धयोगीश्वरी मते।[2]

कुलार्णवतन्त्र वामकेश्वरी मत का पूर्ववर्ती है। इस ग्रन्थ की समाप्ति तक कुलमत का पूर्ण विकास हो चुका था।[3] इस ग्रन्थ में कुलमत की साधना-पद्धति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के २८, २९ तथा ३७ आह्निक में कुलमत से सम्बद्ध तन्त्रसाहित्य का संकेत किया है। उक्त सन्दर्भ में जिन कुल-शास्त्रों का उल्लेख हुआ है, उनके नाम हैं—कालीकुल, सिद्धयोगीश्वरी मत, मालिनी-विजयोत्तर, रत्नमाला (कुलागम), वीरावली, हारदेक्ष, खेचरीमत, योन्यर्णव,

---

१. अभिनवगुप्त—डॉ० के० सी० पाण्डेय, पृ० ५५।

२. कुलार्णवतन्त्र, २/८७

३. वही, ३/११७।

सिद्धातन्त्र, उत्फुल्लकमत, निर्मर्यादशास्त्र, त्रिसिरोमत, गमशास्त्र, तन्त्रराज, ब्रह्मयामल, माघव कुल, देव्यायामल, कुलक्रमोदय, योगसञ्चार, त्रिसिरो भैरव, कुल गह्वर, देवीयामल, नित्यातन्त्र ।

कुल मत का प्रादुर्भाव शिव (ईशान) के मुंह से माना जाता है। इसे ऊर्ध्वाम्नाय भी कहते हैं, क्योंकि यह मत नियम तथा नियति से परे हैं। यह भौतिक तथा नैतिक आचार संहिता से सर्वथा रहित है। योगी अपनी मात्र इच्छा-शक्ति के द्वारा प्रत्येक वस्तु का प्रकाशन कर सकता है।

(घ) कुलधर्म का माहात्म्य :—

समस्त वैदिक तथा तान्त्रिक सम्प्रदायों में कुल-मत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कुलार्णवतन्त्र इस तथ्य में प्रमाण है—

सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णवं परम् ।
वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाद्दक्षिणमुत्तमम् ॥
दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम् ।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात् परतरं न हि ॥[1]

शास्त्रों में सर्वोत्तम वेद हैं। वेदों से श्रेष्ठ वैष्णव मत है, वैष्णव से श्रेष्ठ शैव मत, शैव से श्रेष्ठ दक्षिणमार्ग, दक्षिणमार्ग से श्रेष्ठ वाममार्ग, वाममार्ग से श्रेष्ठ सिद्धान्त मत और सिद्धान्त से भी श्रेष्ठ कुलमार्ग है। इस कौलमत से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। यह गुह्य से गुह्यतर, सार से सार तथा पर से भी पर है। साक्षात् शिव-पद से कर्णपरम्परया प्राप्त कुलमार्ग है। वेद और सम्पूर्ण आगम समुद्र को ज्ञान-दण्ड से मथकर ईश्वर ने साररूप कुलधर्म का प्रादुर्भाव किया। ईश्वर को सम्पूर्ण धर्म, यज्ञ, तीर्थ, व्रत आदि की अपेक्षा कुलधर्म-परायण कौल अधिक प्रिय है। जिस प्रकार समस्त ऋजु-वक्र-गामिनी नदियाँ समुद्र में विलीन होती है उसी प्रकार समस्त समयमार्ग कुलमार्ग में प्रविष्ट होते हैं।[2] जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियों में गङ्गा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सभी समय-सम्प्रदाय में कुलधर्म श्रेष्ठ है। मेरु और सर्षप, सूर्य तथा खद्योत में जो भेद है वही कुल और अन्य समय सम्प्रदाय में है। जो कुलधर्म को नहीं जानता, वह संसारपाश से बद्ध माना जाता है। जो दूसरे किसी धर्म को कुलधर्म से श्रेष्ठ कहता है वह ब्रह्महत्या से भी अधिक पाप का भागी होता है। अन्य धर्मों की अपेक्षा कुलधर्म का आलम्बन करके मनुष्य शीघ्र ही मोक्षरत्न की प्राप्ति करता है। कुलमार्ग योग और भोग रूप दोनों है। कुलधर्म-

---

१. २/७-८ तथा रुद्रयामल उ० त०, १७/१३५, १४८, १४९, १५५।
२. कुलार्णव तन्त्र, २/९-१२।

परायण के लिये भोग, योगरूप, पाप, पुण्यरूप तथा संसार, मोक्षरूप हैं। इसलिए सर्वधर्मों का परित्याग करके आत्मसिद्धि के लिये कुलमार्ग को जानना चाहिये। पूर्वजन्म में किये गये अभ्यास से उपदेशादि के बिना ही कुलज्ञान हो जाता है।[1] देवता तथा गुरु की भक्ति से कुलज्ञान होता है।

(ङ) कुलाचार विधि :—

तन्त्रशास्त्र में जीवों की तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं—पशुभाव, वीरभाव तथा दिव्यभाव। इन तीनों भावों (जीवों) के आचरण, स्वभाव, कर्म, व्रत, नित्यक्रिया, पूजा आदि में भेद है। भावत्रय के विहित कर्त्तव्य कुलाचार-विधि का क्षेत्र है। जीवों के द्वारा पञ्चमकार की पूजा और उसके शास्त्रीय अर्थ का आचरण तन्त्रशास्त्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। पञ्चमकार के शास्त्रीय स्वरूप पर आगे के पटल में सविस्तार चर्चा की गई है। पञ्चमकार की पूजा को सीमित अर्थ में आवद्ध नहीं किया गया है। इस अर्थ बोध तथा तदनुसार आचरण से तन्त्र शास्त्र के तथाकथित भ्रान्तियों की समाप्ति हो जाती है। जीवों की विभिन्न कोटियों तथा उनके नित्य कर्म के विषय में तृतीय पुष्प में प्रकाश डाला जा चुका है। कुलाचार के अन्तर्गत गुरु और शिष्य के स्वरूप तथा उनके सम्वन्ध और कर्तव्यों के विषय में विस्तृत विवेचन दशम पुष्प में किया जायगा। कुलाचार के साधक की दीक्षा-विधि के विषय में सप्तम पुष्प में प्रकाश डाला जायगा। कुलाचार के मुख्य विषय के रूप में चक्रों की रचना, पूजा तथा फल पर विस्तृत विवेचन अष्टम पुष्प के चक्र-रहस्य के प्रकरण में किया जायगा। यहाँ पर केवल कुलाचार के महत्त्व पर ही चर्चा की जा रही है।

(च) कौल सन्ध्या :—

योगी मज्जन, मात्र-मार्जन तथा मन्त्र आदि से उत्तम स्नान को सम्पन्न करके मूलाधारादि षट्चक्रों के तीर्थराज (इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नारूपा गङ्गा, यमुना और सरस्वती के सङ्गम), स्वर्ग-तीर्थ, देवतातीर्थ, (पञ्चकुण्ड सरोवर), सर्वतीर्थ (सूर्यमण्डलमध्यगत), अष्टतीर्थ तथा विन्दुतीर्थ में सूक्ष्मस्नान (मानस-ध्यान) करे। इस प्रकार उक्त महातीर्थों में स्नान करने वाला योगविद्या तथा कुलरूपा सन्ध्या का आचरण करे। जिस समय शिव और शक्ति का समायोग किया जाता है, कुल साधकों की वह सन्ध्या समाधि के लिए विहित मानी जाती है। शिव और शक्ति के समायोग का विधान यह है कि साधक हृदय में शिवरूप सूर्य का ध्यान करे तथा भाल (भ्रूमध्य) में शक्तिरूप चन्द्र का ध्यान करे अथवा मस्तक में इन्दुरूप शिव तथा हृदय में सूर्यरूप शक्ति का ध्यान करते हुए दोनों का

---

१. कुलार्णवतन्त्र, २/१५-२७।

सङ्गम करे। यह संयोग विद्यारूपा सन्ध्या समाधि का मार्ग प्रशस्त करती है; यह जगत्‌रूपा है, ज्ञानरूपा है, नित्या है तथा वायवी है।[1] यहाँ पर सन्ध्या को वायवी कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणायाम के द्वारा सन्ध्या को सम्पन्न करना चाहिए। पूरक और रेचक क्रियाओं के द्वारा शिवशक्ति का ध्यान करना चाहिए तथा कुम्भक के द्वारा भ्रूमध्य में तथा हृदय में शक्ति और चन्द्र तथा सूर्य और शक्ति का सङ्गम करना चाहिए। कभी-कभी यह सङ्गम पूरक के माध्यम से ही प्राण और अपान वायु के (भ्रूमध्य तथा हृदय में) मिलन के द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

(छ) कौल तर्पण :—

सर्वप्रथम योगी को चाहिए कि वह मूलाधारचक्र को जागृत करे और चन्द्र, सूर्य तथा अग्निरूपिणी कुण्डलिनी को जागृत करके आज्ञाचक्रस्थबिन्दु तक उसे निविष्ट करे। आज्ञाचक्र के जागरण के बाद वहाँ से निःसृत अमृत बिन्दु से शरीर और देवता का तर्पण करे। इसके साथ ही कुलेश्वरी तथा आदि विद्यास्वरूपा नित्या, अमृतमयी कौलिनी, महाशक्ति का कुण्डलिनी से निःसृत अमृतधारा के द्वारा तर्पण करना चाहिये। इस तर्पण को सम्पन्न करके साधक या योगी हो जाता है। ललाटस्थ चन्द्रसुधा के द्वारा मूलाधारस्थ चान्द्रपात्र को सम्पूरित करके ज्ञानमार्ग के द्वारा खेचरी (मुद्रा) अथवा कुण्डलिनी का तर्पण (अभ्यास) करना चाहिए। ललाटस्थ चन्द्रमध्य में सुधाधारारूप मंद्य से कुलकन्या का तर्पण करने वाला योगिराट् सिद्ध हो जाता है। आज्ञाचक्रस्थ बिन्दुतीर्थ में महाज्ञानी के द्वारा किया गया ध्यान नित्यध्यान कहलाता है। इसके बाद साधक को अपनी या परकीया कन्या को भोजन कराना चाहिए। तत्पश्चात् कुमारीस्तव तथा कुमारी-सहस्रनाम का पाठ करके देवी को प्रसन्न करना चाहिए। जो केवल जप, कर्म, पूर्णयज्ञ आदि को सम्पन्न करता है किन्तु प्राणायाम के अभ्यास से दूर रहता है तथा प्राणवायु को शरीर में स्थिर तथा अन्तःस्थ नहीं करता, उसे सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है। इसलिए प्रसन्नमन होकर अन्तर्याग के द्वारा महादेवी कुण्डलिनी को प्रसन्न करने से साधक सिद्धि का भागी होता है।[2]

(ञ) मानस-पूजा :—

साधना के क्षेत्र में बहिर्याग की अपेक्षा अन्तर्याग का विशेष महत्त्व है। अन्तर्याग की साधना अधिक पुष्ट तथा क्षिप्रफलप्रदायिनी समझी जाती है।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २६/९१-९५।

२. वही, २६/९६-१०८।

अन्तर्याग का महत्त्वपूर्ण अवयव ध्यान है। यह ध्यान भी इस सम्प्रदाय में महाशक्ति कुण्डलिनी की जागरण-पद्धति से सम्बद्ध है। मूलाधारचक्र से लेकर आज्ञा और सहस्रार तक षट्चक्रों का भेदन करते हुये महाशक्ति का परम शिव से साक्षात्कार कराया जाता है। कुण्डलिनी-जागरण की विस्तृत साधनापद्धति पर पञ्चम पुष्प में प्रकाश डाला गया है। यहाँ पर मात्र मानस-ध्यान की चर्चा की जा रही है जिसे "मानस पूजा" कहा गया है।

मानस पूजा या अन्तर्योग के लिये स्थूल-पूजार्थ पुष्पों की भाँति सूक्ष्म पुष्पों की आवश्यकता पड़ती है। शास्त्र में महाशक्ति कुण्डलिनी की मानस पूजा (ध्यान) के लिये पन्द्रह पुष्पों की आवश्यकता का विधान किया गया है। उन पुष्पों के नाम हैं—अमाय (माया रहित), अनहङ्कार, अराग, अमद, अमोह, अदम्भ, अनिन्दा, अक्षोभ, अमात्सर्य, अलोभ, अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, दया, क्षमा और ज्ञान। इन पुष्पों में अहिंसा को परम (सर्वश्रेष्ठ) पुष्प कहा गया है।[1]

(ख) मानस होम :—

सूक्ष्म साधन जगत् में स्थूल पूजा-सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। मानस पूजा को सम्पन्न करने के बाद मानस होम का भी विधान शास्त्रों में हैं। होम के विना व्यवहार में भी पूजा की पूर्णता नहीं हो पाती। उसी प्रकार मानस होम के अन्तर्गत सूक्ष्म सामग्री के उपयोग का विधान है। इस होम में मुख्य रूप से चार सामग्री की गणना की गई है—आत्मत्रय (पशुभाव, वीरभाव तथा दिव्य भाव) और चित्कुण्ड। भावत्रय का चित्कुण्ड में पूर्ण समर्पण अर्थात् चैतन्य में जीवों की सभी कोटियों का तादात्म्य ही मानस होम की प्रक्रिया है। चित्कुण्ड की मेखला आनन्दरूप है। नाभि में स्थित ज्ञान ही वह्नि है। अर्द्धमातृका की आवृति वाले मुख (योनि) से भूषित उस चित्कुण्ड में "सोऽहं" भाव से होम करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि चैतन्य में "सोऽहं" की भावना रखना ही मानस होम है। इस मानस होम में चार मन्त्रों की सहायता (जप) का विधान है। यहाँ पर हविष् के रूप में मन को स्वीकार किया गया है। अर्थात् मन का पूर्ण समर्पण चित् में करना चाहिये। चार मन्त्र इस प्रकार हैं—

१. आनन्दमेखलायुक्तं नाभिस्थज्ञानवह्निषु।
अर्द्धमात्राकृतिं योनि-भूषितं जुहुयात् सुधीः॥ (जुहोमि-स्वाहा)॥[2]
२. नाभिचैतन्यरूपाग्नौ हविषा मनसा स्रुचा।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २६/१०९-११७।
२. वही, २६/१२०।

ज्ञानप्रदीपिते नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहम् ॥—स्वाहा ।[1]

३. धर्माधर्मप्रदीप्ते च आत्माग्नौ मनसा स्रुचा ।
सुषुम्णा वर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहम् ॥—स्वाहा ।[2]

४. अन्तर्निरन्तरनिरिन्धनमेधमाने
मायान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ ।
कस्मिश्चिदद्भुतमरीचिविकासभूमौ
विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसानम् ॥[3]

उक्त चतुर्थ मन्त्र के द्वारा पूर्ण हवन सम्पन्न करना चाहिये। चतुर्थ मन्त्र पूर्णविद्या का फल देने वाला है। अन्तर्याग की यही पद्धति है। इस पद्धति से मानसहोम को सम्पन्न करने वाला साधक ब्रह्ममय हो जाता है। वह पुण्यपाप से सर्वथा रहित होकर जीवनमुक्त की स्थिति को प्राप्त करता है। योगियों का यह अन्तर्याग परम सिद्धि को प्रदान करने वाला होता है।[4]

—:०:—

---

१. रुद्रयामल, उ० त०, २६/१२२।
२. वही, २६/१२४।
३. वही, २६/१२७।
४. वही, २६/११८-१२८।

द्वितीय पटल

महाचीनाचार

चीन देश से प्राप्त योगाचार साधक को साधना की उच्च भूमि में प्रविष्ट कराता है। यहाँ पर इस सम्बन्ध में महर्षि वशिष्ठ की तपस्या के प्रसङ्ग का संकेत भी किया गया है। ऋषि वशिष्ठ ने निर्जन स्थान में एक सहस्र वर्ष तक घोर तप किया किन्तु उन्हें "विज्ञान" की प्राप्ति नहीं हुई। असन्तुष्ट होकर वशिष्ठ नेतात के पास जाकर अपनी योग साधना-पद्धति को बताया तथा अन्य मन्त्र के लिये पिता से निवेदन किया। वशिष्ठ इतने क्रुद्ध हो उठे थे कि पिता को ही शाप देने के लिये उद्यत हो गये। पिता ने कहा "तुम पुनः योगमार्ग भाव के द्वारा उस शक्ति का ध्यान करो, वह शक्ति निश्चित ही तुम्हारे सामने प्रकट होगी। वह परमाशक्ति है, सर्वसंकटविनाशिनी, कोटि-सूर्यप्रभावाली, कोटि चन्द्र के समान शीतल, कोटि-विद्युल्लतारूपा, कालकामिनी तथा जगत् का पालन करने वाली है। सम्पूर्ण चराचर सृष्टि उसी का कर्म है। एकान्त में एकाग्रचित वाला होकर देवी का ध्यान करो। उसका दर्शन अवश्य होगा।" इसके बाद गुरु के वचन सुनकर वेदान्तविद् वशिष्ठ तप करने के लिये चल पड़े। एक सहस्र वर्ष तक ऋषि ने जाप किया किन्तु देवी प्रसन्न न हुई। इस पर मुनि अत्यन्त क्रुद्ध हो गये तथा महाविद्या को ही शाप देने के लिए उद्यत हो उठे। तब देवी कुलेश्वरी महाविद्या स्वयं मुनि-समक्ष उपस्थित होकर बोलीं—"हे विप्र! तुम आकारण ही भयंकर शाप देने लगे। तुम मेरी सेवा को नहीं जानते हो। किस प्रकार योगाभ्यास के द्वारा मेरे चरण-कमल का दर्शन होता है—तुम्हें नहीं ज्ञात है। मानुषी आचार में तो मेरा दुःखपूर्ण ध्यान ही पा सकते हो। वेदों के लिये भी अगोचर इस पुण्य योगसाधन को केवल निर्मल आचार वाला, कुलार्थी तथा सिद्धमन्त्री ही जान सकता है। तुम बौद्ध देश महाचीन में जाकर मेरे चरण-कमल के महाभाव को जानो। मेरे कुलाचार को जानने वाला होकर तुम महासिद्ध हो जाओगे—यह कहकर देवी शीघ्र निराकाररूपा हो गई।

इसके बाद मुनि वशिष्ठ ने महाचीन देश की ओर प्रयाण किया। चूंकि ऋषि को वहाँ अद्‌भुत ज्ञान उत्पन्न हुआ इसलिये उस योगाचार को "महाचीनाचार" कहा गया। ग्रन्थ में यह संकेत किया गया है कि उस समय बुद्ध चीनदेश में थे। वशिष्ठ बुद्ध के पास जाकर बोले—"बुद्धरूपधर! अव्यय! महादेव! मैं

व्याकुल चित्त वाला अतिदीन हूँ तथा महादेवी की साधना के लिये आया हूँ। वेदमार्ग पर होते हुये भी सिद्धिमार्ग को मैं नहीं जानता हूँ। आप वेद गामिनी दुर्बुद्धि का यथाशीघ्र विनाश करें। हे प्रभु ! आप हमें वेदवहिष्कृत कर्म का उपदेश करें। पञ्चमकार के स्वरूप का आप हमें बोध करायें कि किस प्रकार मद्य, मांस का सेवन सभी दिगम्बर सिद्ध करते हैं। सुन्दर रमणियों के साथ कैसे वे रमण करते हैं। वेद कार्य के विना कैसे सिद्धि की प्राप्ति होती है—इन सब का आप हमें ज्ञान करायें।[1]

मुनि वशिष्ठ के द्वारा निवेदन किये जाने पर परम सिद्ध भगवान् बुद्ध ने कहा—हे वशिष्ठ ! मैं तुम्हें अनुत्तम कुलमार्ग का बोध कराता हूँ जिससे साधक सद्यः रुद्रस्वरूप हो जाता है। सर्वप्रथम साधक को विवेकी तथा पवित्र होना चाहिये। पशु प्रमांता की संगति से रहित होकर निर्जन स्थान में काम, क्रोधादि षड्विकारों से रहित होकर दम (जितेन्द्रियत्व) योगाभ्यास में रत रहना चाहिए। प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। स्वेदयुक्त प्राणायाम अधम, कम्पयुक्त मध्यम तथा भूमित्याग उत्तम कहा जाता है। शिव, कृष्ण तथा ब्रह्मपद में भक्ति रखनी चाहिये तथा मनसा वाचा कर्मणा यह भावना करनी चाहिये कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव वायवीगति वाले देव हैं। इसके बाद चिद्रूपा महाशक्ति में चित्त का समाधान करके पुण्यमार्ग महावीरभाव का आश्रय ग्रहण कर कुल कात्यायनी परशक्ति का ध्यान करना चाहिये। बह शक्ति श्रं.दात्री, प्रचण्ड उद्वेग को नष्ट करने वाली, चिद्रूपा, ज्ञाननिलया, चैतन्यानन्द शरीर वाली, कोटि विद्युत्प्रभारूपा, सर्वतत्वस्वरूपा, अष्टादशभुजाओं वाली, रौद्री तथा शिवसंगिनी है। कुलमार्ग में आश्रित साधक को इस प्रकार की देवी का आश्रय ग्रहण करके मन्त्र का जाप करना चाहिये। कुलमार्ग से श्रेष्ठ अन्य कोई मार्ग नहीं हैं। इस मार्ग की कृपा से ही ब्रह्मा महान् स्रष्टा हुये, विष्णु पालनकार्य में समर्थ हुये तथा शिव संहार शक्ति से युक्त हुये। यह सम्पूर्ण जगत् वीर साधक के अधीन है तथा वीर साधक भी कुलमार्ग के आश्रित है। इसलिये कुलमार्ग का आश्रय ग्रहण कर साधक सर्वसिद्धीश्वर हो जाता है। एक मास की साधना से वशीकरण की सिद्धि, दो मास की साधना से वाक्पति की सिद्धि, तीन मास की साधना से सुवल्लभत्व की सिद्धि, चार मास में दिक्पालस्वरूपत्व, पञ्चम में कामस्वरूपत्व तथा छठे में रुद्रस्वरूपत्व की सिद्धि होती है। यह कौलमार्ग है। इससे पर कुछ नहीं है। एक मास की साधना से दृढ़चित्त वाले योगियों को इष्टकार्य की सिद्धि प्राप्त होती है। संन्यस्त जीवन के अभ्यास से विप्र पूर्णयोगी हो जाता है। जब शक्ति के बिना

१. रुद्रयामल उ० त०, १७/१०८-१३४।

शिव अशक्त या शवतुल्य हो जाता है तो अन्य जड़बुद्धि वालों की क्या कथा ? पञ्चमकार का सेवन करते हुये महाशक्ति की आराधना करो, तभी महाविद्या के चरण-कमल का दर्शन प्राप्त कर सकोगे।"

इसके बाद महर्षि विश्वामित्र मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन आदि पञ्चमकार की साधना करके पूर्ण योगी हो गये। एकमात्र कौलमार्गरूप योग-साधन का अभ्यास करके मुनि वशिष्ठ सर्वसिद्धीश्वर हो गये। इस साधन से जीवात्मा तथा परमात्मा का योग होता है तथा योनि के संयोग मात्र से योगी सर्वसिद्धीश्वर हो जाता है।[1]

—:०:—

१. रुद्रयामल उ० त०, १७/१३५-१६३।

पञ्चमकार की पूजा तथा महत्ता

मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च।
पुनः पुनः साधयित्वा पूर्णयोगी बभूव सः।[1]

योग साधना के पूर्णत्व-लाभ के लिये पञ्चमकारों की साधना अपरिहार्य कही गई है। सम्प्रति तान्त्रिक जगत् में मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन का सीमित अर्थ ग्रहण किया जा रहा है। तन्त्र की सात्विक साधनायें भी हैं। वाम-मार्ग में पञ्चमकार का अभिधेयार्थ ग्रहण करके साधना में प्रविष्ट हुआ जाता है, किन्तु दक्षिणीमार्गी साधना में उक्त पञ्चमकारों का अर्थ भिन्न ही लिया जाता है। वे पञ्चमकार तथा इनसे प्राप्त होनेवाले आनन्द प्रतीक-रूप में ग्रहण किये जाने चाहिये।

१. मद्य

ब्रह्मरन्ध्र से प्रवहमान अमृत-स्रोत को मद्य कहते हैं। इस अमृत का पान जब योगी खेचरी मुद्रा के द्वारा करता है तो उसे ही "मद्यपान" कहते हैं—

सोमधारः क्षरेद् यस्तु ब्रह्मरन्ध्राद् वरानने।
पिबत्यानन्दमयीं तां य स एव मद्यसाधकः॥[2]

जिह्वामूल या तालुमूल में जिह्वाग्र भाग को सम्पृक्त कर ब्रह्मरन्ध्र से झरते हुए आज्ञाचक्र के चन्द्रमण्डल से होकर प्रवहमाण अमृतधारा को पान करने वाला "मद्यसाधक" कहा जाता है। साधक इस अमृतधारा का पान करके परम आनन्द की प्राप्ति करता है। इस क्रिया में भूत शुद्धि-की आवश्यकता होती है। इस साधना से मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति को सहस्रारस्थ शिव से मिलन कराया जाता है।

कुलार्णव तन्त्र में मद्य के ग्यारह नाम गिनाये गये हैं—पानस, द्राक्ष, माधूक, खार्जूर, ताल, ऐक्षव, मधूत्थ, शीधु, माध्वीक, मैरेय, नारिकेलज। १२वीं को "सुरा" कहा गया है।[3] यह भी तीन प्रकार की स्वीकार की गई है—पैष्टी, गौड़ी, माध्वी। पैष्टी सर्वसिद्धिदात्री है, गौड़ी भोगप्रदायिनी तथा माध्वी मुक्ति-प्रदायिनी है। ऐक्षवी विद्याप्रदा, द्राक्षी राज्यप्रदा, तालजा स्तम्भन करने वाली,

---

१. रुद्रयामल उ० त०, १७/१६०।

२. आगमसार (तन्त्राज-दियर फिलोसफी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स, पृ० १३२ पर उद्धृत)।

३. कुलार्णवतन्त्र, ५/२९-३०, ३१।

खार्जूरी शत्रु-विनाशिनी, नारिकेलजा श्री प्रदात्री, पानसी, शुभप्रदा, मधूकजा, ज्ञानकरी, माध्वीकी, रोगनाशिनी, मैरेया, पापहारिणी, क्षीर (वृक्ष से उत्पन्न) तथा पुष्प के मधु यथा तण्डुल आदि से उत्पन्न आसव आनन्ददाता है। जिसके पान करने से कोई विकार न आये, जो मनोहर हो वही उत्तम मद्य है। अपनी इच्छा से पात्र को आपूरित करना चाहिये। सुरा के दर्शन मात्र से सर्वपापों से मुक्ति मिल जाती है। उसके गन्धमात्र से जो यज्ञ का फल मिलता है, उसके स्पर्श से कोटितीर्थ का फल मिलता है तथा मद्य का पान करने से साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति होती है। सुरामोद में इच्छाशक्ति, सुरारस में ज्ञान शक्ति सुरा-आस्वाद में क्रियाशक्ति तथा मद्य के उल्लास में परा स्थिति की प्राप्ति होती है।[1] विशुद्धचक्र से होकर प्रवहमाण सुधाधारा का पान साधक करता है। यही यथार्थ मद्यपान है। इससे भिन्न लौकिक मद्यपान को योगियों का घातक कहा गया है। सुधाधार का पान मिथ्या तथा भ्रान्ति से रहित महापान है।[2]

२. मांस

मांस मौन व्रत का प्रतीक है—

> मशब्दात् रसना ज्ञेया तदंगसं रसना प्रिये।
> सदा य भक्षयेत् देवि स एव मांससाधकः ॥[3]

'म' का अभिप्राय जिह्वा से है। शब्दों पर या वाणी पर नियन्त्रण रखने वाला मांस-साधक कहलाता है। जागतिक प्रपञ्च से वाक्‌निवृत्ति करने वाला मांस-साधक होता है। तालुमूल में जिह्वाग्र भाग को लगाकर खेचरी मुद्रा का अभ्यास मांस-साधना का अङ्ग है।[4]

मांस थलचर, जलचर तथा नभचर भेद से तीन प्रकार का होता है। तर्पण के लिये यथासम्भव एक से भी कार्य चल सकता है। मांस के दर्शन-मात्र से सर्वपाप से मुक्ति हो जाती है। पितृ तथा दैवत यज्ञों में हिंसा वैध है, अन्यत्र अवैध मानी जाती है। अपने लिये प्राणी हिंसा कभी भी उचित नहीं मानी जा सकती। विना किसी कारण के तृण का भी छेदन नहीं करना चाहिये। देवता, द्विज तथा ईश्वर के निमित्त किया गया पाप पुण्य माना जाता है, किन्तु ईश्वर का अपमान

---

१. कुलार्णवतन्त्र, ५/३२-४०।
२. रुद्रयामल उ० त०, २६/१३६-१३८।
३. आगमसार तन्त्राज : दियर फिलास्फी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स, पृ० १३२ पर उद्धृत।
४. तन्त्राजः दियर फिलास्फी एण्ड अकल्ट सेक्रेट्स, पृ० १३३।

करके पुण्य करना पाप माना जाता है। मांस-अभाव में आर्द्र लशुन (लहसुन) अथवा नागर (शोंठि) से पूजा की जानी चाहिये।[1] इस प्रकार मद्य को साक्षात् शक्ति मांस को शिव कहा गया है और उनका भोग करने वाला भैरव कहा जाता है। मद्य और मांस-ग्रहण शिव और शक्ति का ऐक्य है।[2]

पुण्यापुण्य पशु का वध करके महावीर साधक ज्ञान की प्राप्ति करता है। पर शिव में चित्त का नियोजन करने वाला मांसाशी साधक कहलाता है। अन्य को प्राणघातक कहते हैं।[3]

३. मत्स्य

मत्स्य का अभिप्राय श्वास के नियन्त्रण से है। इड़ा-रूप गंगा तथा पिङ्गला-रूप यमुना में श्वास और प्रश्वासरूप दो मत्स्यों का निवास माना जाता है। इसी श्वास प्रश्वास का नियन्त्रण करने वाला मत्स्यभक्षी कहा जाता है—

गङ्गायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु स भवेत् मत्स्य-साधकः।[4]

प्राणायाम के द्वारा वायु का नियन्त्रण करके साधक सांसारिक पदार्थों के प्रति इन्द्रियों की आसक्ति को समाप्त कर देता है। इससे साधक पूर्व अननुभूत आनन्द का लाभ करता है। कुलार्णव तन्त्र में कहा गया है कि इन्द्रियों को नियन्त्रित करके आत्मा के साथ उनका संयोजन करने वाला "मत्स्याशी" कहलाता है। शेष मनुष्य प्राणिहिंसक कहलाते हैं।[5]

शरीरस्थ जलस्थान में निवास करने वाला मछलियों को शरीरस्थ वह्नि में दग्ध करने वाला मत्स्य-साधक कहलाता है।[6] कहीं-कहीं आसक्ति के मूल को प्रक्षालित करने वाले तत्त्व को मत्स्य कहा गया है। मत्स्य-साधना से सम्पूर्ण कष्ट नष्ट हो जाते हैं तथा मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।[7]

४. मुद्रा :—

धार्मिक पूजा के समय साधक को नाना प्रकार से अंगुलियों को आबद्ध

---

१. कुलार्णवतन्त्र, ५/४४-५३।
२. वही, ५/७९, तुलनीय रुद्रयामल उ० त०, २६/१३१।
३. रुद्रयामल उ० त०, २६/१३८-१४०।
४. आगमसार (तन्त्राज-दियर फिलोसफी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स, पृ० १३३ पर उद्धृत)।
५. कुलार्णव तन्त्र, ५/११०।
६. रुद्रयामल उ० त०, २६/१४१।
७. तन्त्राज-दियर फिलोसोफी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स, पृ० १३४।

किया जाता है जिसे मुद्रा कहते हैं। इसके अतिरिक्त आत्मज्ञान की पद्धति को भी मुद्रा कहते हैं। सहस्रार महापद्म की कर्णिका में पारद के समान आत्म-तत्त्व की अवस्थिति मानी जाती है, जो कोटिसूर्य के समान आभा वाला तथा कोटि चन्द्र के समान शीतल है। सहस्रार में जिसे आत्म-तत्त्व का ज्ञान हो जाता है उसे "मुद्रासाधक" कहते हैं। यह आत्म-तत्त्व अतीव कमनीय तथा कुण्डलिनी से युक्त है—

सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिता चरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि! केवलं पारदोपमम्॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक स उच्यते॥
अतीव कमनीयञ्च महाकुण्डलिनीयुतम्।[1]

यह यौगिक ध्यान की एक अवस्था है जहाँ पूर्ण ज्ञान की अनुभूति होती है। योगशास्त्र के ग्रन्थों में साधना-जगत् में अनेक प्रकार की मुद्राओं का उपयोग विहित है, यथा—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड्डीयान-बन्ध, नभोमुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा, सहजोली मुद्रा, अमरोलीमुद्रा, योनिमुद्रा, शक्तिचालिनीमुद्रा, तडागीमुद्रा, मांडूकीमुद्रा, शाम्भवी-मुद्रा, पंचधारणा मुद्रा (पार्थिवीधारणा, आम्भसीधारणा, आग्नेयीधारणा, वायवी धारणा, आकाशीधारणा), अश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, काकीमुद्रा, मातंगिनीमुद्रा, भुजंगिनीमुद्रा।[2]

इन मुद्राओं से वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग, अग्निभय, जलभय आदि की समाप्ति होती है। शठ तथा भक्तिहीन व्यक्ति को मुद्रा का उपदेश (अभ्यास) नहीं करना चाहिये। इस भोग मुक्तिप्रदात्री मुद्रा का ज्ञान कुलीन, शान्तचित्त तथा गुरुभक्त को ही कराना चाहिये। मुद्राओं के अभ्यास से जठराग्नि की वृद्धि होती है तथा कास, श्वास, प्लीह, कुष्ठ तथा कफ रोग नष्ट हो जाते हैं।[3]

ब्रह्मकिरण में सब कुछ आरोपित करके सुधीजन को तर्पण करना चाहिये। आनन्दस्वरूप परमात्मा में चित्त एकाग्र करना ही मुद्रा है।[4] शेष पदार्थ केवल भोग के लिये हैं।

---

१. आगमसार—दियर फिलोसोफी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स, पृ० १३३ पर उद्धृत।
२. घेरण्डसंहिता, ३/१-८७, शिव संहिता, ४/२६-१०६, हठयोग प्रदीपिका, ३/१५-१२०।
३. घेरण्डसंहिता, ३/९०-९४।
४. रुद्रयामल उ० त०, २६/१४२।

५. मैथुन

सामान्य रूप से स्त्री-पुरुष के संसर्ग को मैथुन कहते हैं। तन्त्रशास्त्र में सृष्टि और संहार के विषय में चिन्तन करना "मैथुन" कहलाता है। पराशक्ति और शिव के मिथुन के संयोग को भी मैथुन कहते हैं। मात्र स्त्री के साथ सम्भोग करने वाले को "स्त्री निषेवक" कहते हैं न कि मैथुन साधक।

शक्तिसम्भोगमात्रेण यदि मोक्षो भवेत् वै।
सर्वेऽपि जन्तवो लोके मुक्ताः स्युः स्त्रीनिषेवणात् ॥[1]

मैथुन परम तत्त्व है जो सृष्टि स्थिति तथा संहार का कारण है। सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान की सिद्धि मैथुन से ही होती है।

मैथुनं परमतत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।
मैथुनाज्जायते सिद्धिः ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ॥

मैथुन का गुह्य अर्थ समाधि है। जिस अवस्था में योगी ईश्वर की स्तुति तथा सृष्टि और संहार के चिन्तन में अपने को भी भूल जाता है।

सुरा शक्तिरूप, मांस शिवरूप तथा सुरा और मांस का साधक (शिव-शक्ति का भक्त) स्वयं भैरव-स्वरूप माना जाता है।[3] शिव और शक्ति के ऐक्य की अनुभूति ही मोक्ष है। शरीर में ही ब्रह्मकिरणस्वरूप आनन्द स्थित है, वह आनन्द जगत् का सार है। उस आनन्द को अभिव्यञ्जित करने वाले द्रव्यों की पूजा योगियों के द्वारा की जाती है। पञ्चमकार की साधना षट्चक्रभेदन-साधना की पृष्ठभूमि है। पञ्चमकार की साधना सिद्ध होने पर मूलाधारस्थ कुण्डलिनी को महापद्म (सहस्रार) तक गमनशील करना चाहिये। बार-बार इस अभ्यास के पुष्ट होने पर चिच्चन्द्रस्वरूपा कुण्डलिनी का महोदय होता है। विशुद्ध चक्र से होकर प्रवहमाण सुधा-धारा का पान साधक करता है। यही यथार्थ मद्यपान है। इससे भिन्न मद्यपान को योगियों का घातक कहा गया है। सुधाधारा का पान भ्रान्ति तथा मिथ्या से रहित महापान है।

पञ्चमकार का माहात्म्य :—पञ्चमकार की पूजा पुरश्चरण के गूढ़ प्रयोजन को सिद्ध करने वाली है। पञ्चमकारयोग की साधना से साधक निद्रा तथा आलस्य से रहित हो जाता है। साधक काल का वारण करने वाले प्राणवायु को

१. कुलार्णवतन्त्र, ५/११६, तुलनीय रुद्रयामल उ० त०, २६/१४४।
२. आगमसार, तन्त्रज : दियर फिलास्फी एण्ड अकल्ट सीक्रेट्स; पृ० १३३ पर उद्धृत।
३. रुद्रयामल उ० त०, २६/१३१, तुलनीय कुलार्णवतन्त्र, ५/७९।

नियन्त्रित करने वाला होता है। प्राण को वश में करने वाला साधक योग-समृद्धि तथा कालसिद्धि की प्राप्ति करता है।[1] पञ्चमकार की पूजा दैनिक चर्या का अङ्ग है। इससे निश्चित ही परम आनन्द की प्राप्ति होती है। पञ्चमकार की पूजा के विना कोई भी साधक न तो मन्त्र का जाप कर सकता है और सिद्धि की प्राप्ति ही कर सकता है। यदि इन पञ्चमकारों का सीमित अर्थ में ही आचरण किया जायगा, तब तो साधारण मनुष्य, जो मद्य, मांस आदि का सेवन करते हैं, वे भी जीवनमुक्त हो जायेंगे—

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभेत् वै।
मद्यपानरताः सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु पामराः॥
मांसभक्षणमात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत्।
लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्यभाजो भवन्ति हि॥[2]

तब तो ऐसा कोई व्यक्ति बचेगा ही नहीं जो बन्धन से युक्त हो। द्विज को किसी भी प्रकार की मदिरा का सेवन नहीं करना चाहिये। शास्त्रों में तो यहाँ तक विधान है कि यदि कोई मदिरा को सूंघ ले तों उसे प्राणायाम के द्वारा शुद्धी-करण कर लेना चाहिये। तन्त्रों में मदिरा का पान केवल परमात्मा-चिन्तन के लिये हैं। कहीं-कहीं यह भी विधान है कि गृहस्थों को गार्हस्थ्य जीवन में व्यस्त होते हुये मद्य के स्थान पर "मधुत्रय" का पान करना चाहिये। दुग्ध, शर्करा तथा मधु को "मधुत्रय" कहा गया है। साधक ईश्वर को मद्य के स्थान पर "मधुत्रय" को समर्पित करे। सम्प्रति रमणी को शक्ति का आभासवैचित्र्य नहीं माना जा रहा है। मैथुन के स्थान पर साधक को चाहिये कि देवी के चरण-कमल का ध्यान तथा इष्टमन्त्र का जाप करे।[3] देवता में अपने को विलीन कर देना ही मैथुन है। सब कुछ भूलकर साधक ईश्वरमय हो जाता है, परम आनन्दरूप हो जाता है। वह देशकालातीत की अवस्था है।

—:०:—

१. रुद्रयामल उ० त०, २६/१४५-१४६।
२. कुलार्णवतन्त्र, २/११७-११८।
३. महानिर्वाणतन्त्र, ८/१७०-१७३।

चतुर्थ पटल

कुमारी-चर्या

(क) कुमारी का लक्षण तथा पूजा का महत्त्व :—[1]

पशुभाव में स्थित साधकों को गुरु-पूजा, वन्दना, महादेवी पूजा, स्तोत्र पाठ, सुषुम्णा-साधन का अभ्यास करना चाहिए। वीरभाव के प्रमाता को कुलाचार-विधियों को सम्पन्न करना, भैरवी पूजा, योगमार्ग के अन्तर्गत ६ चक्रों का भेदन करते हुए कुण्डलिनी-जागरण का अभ्यास करना चाहिए। सर्वश्रेष्ठ प्रमाता या साधक दिव्य भाव का ग्रहण करके कौलमत में सर्वप्रमुख वामाचार का अवलम्बन करके वामा में शक्तिपूजा और कुमारी-पूजा, जप, होम और स्तोत्र का पाठ करें।

दिव्यभाव का साधक सर्वदेव-पूजित, तेजपुञ्ज से युक्त, सर्वजगन्मयी, सर्वस्त्रीमयी विद्या की मूर्ति के रूप में स्नेहशून्य होकर या अपने को तन्मय करके वहीं पर सभी भावों की उपस्थिति की अनुभूति करके पूजा करे। इसके पश्चात् किसी भी जाति, कुल में उत्पन्न या किसी भी देश में उत्पन्न सद्गुणों से युक्त दो वर्ष से लेकर आठ वर्ष की कन्या की, जो सुन्दर एवं मोहिनी हो, पूजा तथा जप करे। तभी उसे तन्त्र और मन्त्र का फल मिल सकता है। एक, दो या तीन बीज-मन्त्रों से कुमारी की पूजा करके तथा भोजनादि कराने से फल प्राप्ति होती है। उनको पुष्प-फल, अनुलेप, नैवेद्य, माला से तथा उनके लिए उपयुक्त कथा, आलाप, क्रीड़ा, कुतूहल द्वारा प्रसन्न करना चाहिए। उनमें बालभाव की भावना करने वाला "सिद्धीश्वर" की संज्ञा से युक्त हो जाता है।

कन्या सब प्रकार की समृद्धि है, सब प्रकार का श्रेष्ठ तप है। कुमारी-पूजन के बिना यदि होम, मन्त्रार्चन, नित्यक्रिया, कौलक्रियायें की जाती हैं तो उनसे आधा फल ही प्राप्त होता है। कुमारी पूजा से वीर साधक कोटिगुणित फल प्राप्त करता है। जो कुलाचार-विशेषज्ञ कुसुमों से प्रपूरित अञ्जलि वाली कन्या को पुष्प देता है, वह कोटि सुमेरु से युक्त हो जाता है। साधक इस ज्ञान से उत्पन्न महापुण्य को शीघ्र ही प्राप्त करता है जिसने कुमारी को भोजन करा दिया है।

कुमारी को साक्षात् योगिनी और श्रेष्ठ देवता कहा गया है। जो साधक अष्टसिद्धि और नवनिधि-विशिष्टा कुमारी की पूजा करते हैं, उन पर समस्त असुर, अष्टनाग, दुष्टग्रह, भूत, वेताल, गन्धर्व, डाकिनी, यक्ष, राक्षस, भूदेवता, भुवःदेवता, स्वःदेवता, पृथिवी आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, चराचर प्राणी, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव आदि सभी देवता प्रसन्न रहते हैं।

---

१. रुद्रयामल उ०त०, ६/८०-१०२।

कुमारी की जातिगत स्वतन्त्रता :—

रोग-व्याधि से रहित किसी भी कुमारी की पूजा करना श्रेयस्कर है। कुमारी पूजा का स्थान या तो महापीठ हो या कोई देवालय हो। वह कन्या जिसकी पूजा की जाती है, देवकुल से उत्पन्न होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त राक्षसी कन्या हो या नरोत्तमा हो, नटी की कन्या हो या हीन जाति की कन्या हो, कापालिक की कन्या हो या रजक अथवा नापित की, गोपाल (अहीर) की या ब्राह्मण की कन्या हो, शूद्र, वैद्य, वणिक् या चाण्डाल की कन्या हो, जो कोई आश्रम में निवास कर रही हो, उन सभी सुन्दरी, परमानन्ददायिनी, विजयदायिनी, कला तथा रात्रिस्वरूपा, रक्त अङ्ग से अरुणिमा वाली श्री और गौरी स्वरूपा कन्या की पूजा करनी चाहिए। मित्र वर्ग की भी कन्या ले आकर आत्माराधनाशील व्यक्ति को प्रयत्नपूर्वक आनन्द के साथ उसकी पूजा करनी चाहिए। कुमारी सर्वलोक द्वारा पूज्या है। दो वर्ष से लेकर ८ वर्षीय किसी भी देश, स्थान, जाति कुल में उत्पन्न कन्या पूजनीय होती है।

कुमारी के प्रकार :—

दों वर्ष से लेकर ८ वर्ष तक की कन्या तो पूज्य है ही। आठ वर्ष से लेकर १६ वर्ष तक की कन्या भी पूजा के योग्य होती है। वस्तुतः एक वर्ष की आयु से ही उतनी पवित्र मानी गयी है जितनी पवित्र तथा उत्तम सन्ध्या को "सन्ध्या" नाम से अभिहित किया गया है। दो वर्ष की कन्या सरस्वती, तीन वर्ष की त्रिधामूर्ति स्वरूपा (ब्रह्मा, विष्णु, शिव स्वरूपा), चार वर्ष की कन्या कालिका कही जाती है। पञ्चवर्षीया कन्या सूर्यजा, छः वर्ष वाली रोहिणी, सात वर्ष की मालिनी, आठ वर्ष की कुब्जिका कहलाती है। नौ वर्ष की कालतुल्या, दश वर्ष वाली अपराजिता, ग्यारह वर्षीया रुद्राणी, बारह वर्षीया को भैरवी का स्वरूप माना गया है। तेरह वर्ष की महालक्ष्मी, १४ वर्षीया पीठनायिका-संज्ञा प्राप्त करती है। पन्द्रह वर्ष की कन्या को क्षेमज्ञा और सोलह वर्ष की कन्या अम्बिका कही जाती है। इन-इन वर्षों वाली कन्या के प्रति इन-इन स्वरूपों की पूजा भावना करके पुष्प के साथ इसी क्रम से कुमारी की पूजा करनी चाहिए। विशेष महापर्वों पर तथा महानवमी के पवित्र दिन पर कुमारी की पूजा इष्ट-कार्य की सिद्धि प्रदान करती है।

सोलह वर्षीया कन्या अम्बिका के पद को प्राप्त होती है। इसलिए षोडशी को युवती भी कहते हैं। वहीं पर भाव का प्रकाशन होता है। अम्बिका पद में जिस भाव की प्राप्ति होती है वही परमभाव है। उस भाव की रक्षा करनी चाहिए। रक्षित भाव ही यथार्थ पदार्थ के देने वाले हैं। कुमारी की महापूजा वस्त्र,

अलङ्कारों द्वारा सम्पन्न करके मन्दभाग्य भी माङ्गलिक विजय करता है। वैसे तो दिव्य, वीर और पशुभाव में स्थित साधक विधिपूर्वक कुमारी की पूजा कर सकते हैं और महासुख की प्राप्ति करते हैं। किन्तु दिव्यभाव का साधक यदि कुमारी पूजा को विधि पूर्वक सम्पन्न करता है तो उसे सुख से श्रेष्ठ सत्कर्म और सत्फल की प्राप्ति होती है।

(ख) कुमारी पूजा की पृष्ठभूमि और लाभ :—[1]

जो साधक भैरवी की पूजा शुद्ध भक्ति से करता है उसके लिए कुमारी की पूजा, कुमारी-भाजन श्रेयस्कर होता है। कुमारी का पूजन अग्नि और चन्द्र के तेज स्वरूप होता है। वहाँ सभी भाव प्रशंसित होते हैं। कुमारी के पूजन से, कुमारी के लिए उचित प्रेममय आलाप से, भोजन से शुभ ही होता है। उस साधक के प्रति भैरवी की प्रीति बढ़ती है और गुप्त रूप देवता भी उससे प्रसन्न होते हैं। बाल भैरवी का पुत्र साधक विविध द्रव्यों से कुमारी की पूजा करें। उस कुमारी कन्या को सर्वज्ञा और जगदीश्वरी कहा जाता है। गुप्त स्थान में निवास करने वाली सर्वलोक की महादेवी का आवाहन करके उपासक उनकी पूजा करते हैं। सदा भोजन और अर्घ्य की इच्छुक, माननीय, सन्तुष्ट और हास्य करने वाली देव-नायिका कुमारी देवी व्यर्थ में क्रुद्ध नहीं होती। वह सरस्वती के स्वरूप में ही लोगों द्वारा पूजी जाती हैं। चाहे शिव भक्त हों, विष्णुभक्त या अन्य देवता की पूजा करने वाले सभी विद्वानों के द्वारा वह देवी अवश्य ही पूजनीय है।

पतिवरण और कन्यादान का फल :—

जितने वर्ष की कन्या जिस स्वरूप की हो, उसके लिये उसी प्रकार का शिव स्वरूप वर भी खोजना चाहिए। पूर्णरूपेण जानकर, सर्वाङ्ग सुन्दर समझकर, तेजविशिष्ट, यशस्वी, बालभैरव स्वरूप, वटुकेश महादेव के रूप में देखकर उसका वरण करना चाहिए। इस विशेषता से युक्त वर के लिए त्रैलोक्य सुन्दरी, नाना अलङ्कारों से विशिष्टकोमल अङ्ग वाली, कल्याणकारी विद्या का प्रकाशन करने वाली, सुन्दर हास वाली, हृदय को आनन्द देने वाली, शुभ प्रदान करने वाली, पूनम के चन्द्र के समान मुख वाली कुमारी का द्वादश कमल-पत्र पर ध्यान करके, मन्त्र के द्वारा उसका दान करना चाहिए।

कन्यादान से महापुण्य की प्राप्ति होती है। मुक्ति और भुक्ति का फल प्राप्त होता है। दान करने वाले को सौभाग्य और सर्वसम्पत्ति की उपलब्धि होती है। वह साधक त्रिनेत्र भगवान् शिव के रुद्रलोक में निवास करता है। कोटि

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ७/६-४२।

तीर्थाटन सैकड़ों अश्वमेघ यज्ञ से जो फल मिलता है, उस फल को वह व्यक्ति शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है, जो कन्या का विवाह करता है। वह व्यक्ति रुद्रलोक में तब तक सहस्त्रों वर्षों तक महानता को प्राप्त करता है जब तक सागर के किनारे बालुका विद्यमान रहती है। अपने-अपने इष्ट देवता की प्रसन्नता तथा सन्तुष्टि के लिए विचारक को कन्यादान करना चाहिए, जिससे उसे मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह तो बताया ही जा चुका है कि कन्या-दान से ब्रह्महत्या से उत्पन्न पाप भी विनष्ट हो जाता है।

(ग) कुमारी-चर्या, विधि तथा मन्त्र, जाप, होमादि :—[1]

(१) पूजा-विधि :—

एक सुशील, सुन्दर, रत्न और अलङ्कारों से युक्त, श्वेतवस्त्रा कुमारी ले आकर वाग्भाव मन्त्र (ऐं)[2] से जल द्वारा अभिषेक करना चाहिए। उस कुमारी की पूजा साधक को देवीबुद्धि द्वारा करनी चाहिए। अभिषेक के बाद माया बीज मन्त्र (ह्रीं) के माध्यम से पाद्य समर्पित करना चाहिए। लक्ष्मी बीज मन्त्र (श्रीं) से अर्घ्य दान करना चाहिए। तत्पश्चात् चन्दन लगाना चाहिए। पुनः माया बीज मन्त्र (ह्रीं) से पुष्प-समर्पित करना चाहिए। सदाशिव षडङ्ग मंत्र (ऊँ नमः शिवाय) से धूप, दीप-दान करके पूजा करनी चाहिए।

अङ्गन्यास :—

(ऊँ ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं कुलकुमारिके हृदयाय नमः, मन्त्र का उच्चारण करके दक्षिण हस्त से हृदय को स्पर्श करके उसे शुभ्र तथा महातेजोमय बनावें। इसके बाद "सं हं वं ह्रीं ऐं शिरसे स्वाहा" इस मन्त्र से शिरःन्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् शिखा में नील अञ्जन की कान्ति वाले कृष्ण वर्ण का ध्यान करते हुए "ऊँ बह्निसुन्दरीशिखायै वषट्" मन्त्र से शिखा का स्पर्श करना चाहिए। तत्पश्चात् दाहिने हाथ की अंगुलियों से बायें तथा बायें हाथ की अँगुलियों से दाहिनें कन्धे का स्पर्श "ऐं कुलवागीश्वरी कवचाय हुँ" मन्त्र द्वारा करना चाहिए। इसके बाद कवच मध्य बलवान, तेजोमय, सुन्दर कलेवर वाले अरुणयुक्त सूर्य का ध्यान और न्यास करना चाहिए। सूर्य स्वरूप तृतीय नेत्र-स्थान में कोटि-कोटि जवापुष्प मण्डल से मण्डित, महाबीजमय, महातेजस्वी, रक्तवर्ण का ध्यान करके "ऐं कुलेश्वरि नेत्रत्रयाय वौषट्" मन्त्र के द्वारा दाहिने हाथ की अँगुलियों के अग्र-भाग से दोनों नेत्रों और ललाट का स्पर्श करना चाहिये। इसके बाद "हं ह्रीं अस्त्राय फट्" यह मन्त्र पढ़ कर दाहिने हाथ को सिर के ऊपर से बायीं ओर से

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ७/५६-६३।

२. वाग्भव कूट का मुख्य मन्त्र "क ए ई लह्रीं" है।

पीछे की ओर ले जाकर दाहिनी ओर से आगे की ओर ले आयें और तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियों से वायें हाथ की हथेली पर ताली देनी चाहिए। पुनः हृदय-प्रदेश में रक्षा करने वाले देवताओं का ध्यान करके बालभैरव की यत्नपूर्वक पूजा तथा तर्पण करना चाहिये। इसके बाद "ऐं सिद्धजयाय पूर्ववक्त्राय नमः" "ऐं जायाय उत्तरवक्त्राय नमः", "ऐं ह्रीं श्रीं कुब्जिके पश्चिमवक्त्राय नमः", "ऐं कालिके दक्षवक्त्राय नमः" इन मन्त्रों के द्वारा भास्कर, चन्द्र दिक्पालदेव, सन्ध्या आदि की पूजा करनी चाहिए।

सामग्री :—

नैवेद्य, दुग्ध, गाढी खीर, पक्वान्न, पका हुआ फल, मधुमिश्रित सर्वका, पञ्चतत्त्व, कुलद्रव्य, अन्य उपयोगी वस्तुएं तथा नाना प्रकार के अन्य द्रव्यादि सुगन्धित जल उन कुमारियों को समर्पित करना चाहिए।

जप :—

इसके बाद निम्नलिखित महामन्त्र का जप करना चाहिए। तब अष्टाङ्ग प्रणाम करके, कुमारी स्तोत्र का पाठ करना चाहिए। साधक को इसके साथ ही शिव, गणेश की भी पूजा करनी चाहिए।

मन्त्र :—

नमामि कुलकामिनीं परमभाग्यसंदायिनीम्।
कुमाररतिचातुरीं सकलसिद्धिमानन्दिनीम्॥
प्रवालगुटिकामृजां रजतरागवस्त्रान्वितम्।
हिरण्यतुलभूषणां भुवनवाक् कुमारीं भजे॥

जप-होम :—

"ऊँ ऐं ऊँ" ऊँ ह्रीं ऊँ, ऊँ क्लीं ऊँ" में से किसी मन्त्र का सवालक्ष जप करना चाहिए। हवन में घी, विल्व पत्र अथवा श्वेत पत्र (कुन्द पुष्पादि) अथवा चन्दन अगुरु से मिश्रित केवल घी का उपयोग करना चादिए। रात्रि को पूजा, दिन में जप तथा दशांश हवन सम्पन्न करने का विधान है। तत्पश्चात् तीन बार प्राणायाम करके, अष्टाङ्ग प्रणाम करके कुमारी स्तोत्र, कवच, १००८ नाम-उच्चारण (साष्टक सहस्रनाम) का पाठ समाहित मन से करना चाहिए। ऐसा करने से साधक महाज्ञानी होने के साथ ही इष्ट-सिद्धि को प्राप्त करता है।[1]

—: ० :—

१. रुद्रयामल उ० त०, ८/१-१३।

सप्तम पुष्प

मन्त्र और साधना-रहस्य

प्रथम पटल

मन्त्र और उसके जप की वैज्ञानिकता

गायत्रीतन्त्र के अनुसार—"मनन" के कारण ही "मन्त्र" का अभिधान किया जाता है, जिसके द्वारा जीव बन्धन से मुक्ति, स्वर्ग का आनन्द, मोक्ष तथा चतुर्वर्ग की प्राप्ति करता है। मानसिक प्रक्रिया के द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण 'मन्त्र' की संज्ञा व्यवहृत होती है। "मन्त्र" पद "मनन" के प्रथम अंश से तथा "त्र" त्राण या बन्धन से मुक्ति के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। "मन्" और "त्र" का समन्वित रूप ही "मन्त्र' है जो चतुर्वर्ग का आमन्त्रण करता है।[1]

वर्णों से ही मन्त्रों की रचना होती है, वर्ण और उनकी सन्निधि से शब्दों का प्रकाशन होता है जो ब्रह्मस्वरूप माने जाते हैं। जो शब्द मुंह से उच्चरित होते हैं, कर्णेन्द्रिय से सुने जाते हैं, मस्तिष्क से ग्रहण किए जाते हैं, वे सभी सर्जिका शक्ति के स्वरूप हैं। सामान्यतया मन्त्र ऐसी ध्वनियां हैं जो पूजा या साधना में प्रयुक्त होती हैं, जिनमें कुछ विशेष वर्ण होते हैं या किन्हीं विशेष ध्वनियों में आबद्ध कुछ वर्ण होते हैं, जो प्रतीकात्मक रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं।[2]

परमात्मा के तेजोमय रूप का मनन करने तथा सब प्रकार के भय से रक्षा करने के कारण भी "मन्त्र" संज्ञा का अभिधान किया जाता है—

"मननात्तत्वरूपस्य देवस्यामिततेजसः।
त्रायते सर्वभयतस्तस्मान्मन्त्र इतीरितः॥"[3]

कहीं पर विश्व-विज्ञान के मनन, संसार-बन्धन के त्राण तथा संसिद्धि करने वाले को मन्त्र कहते हैं—

"मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात्।
यतः करोति संसिद्धिम् मन्त्र इत्युच्यते तदा॥"[4]

---

१. द गार्लेण्ड आफ लेटर्स, पृ० २७६।

२, वही।

३. कुलार्णवतन्त्र, १७/५४।

४ पिङ्गलामत (मन्त्ररहस्य, पृ० १६४ पर उद्धृत)।

मन्त्र में वर्ण, नाद, विन्दु, स्वर, व्यञ्जन के सम्बन्ध से विभिन्न रूपों में देवता की अभिव्यक्ति होती है। देवता का मन्त्र कुछ ऐसे वर्णों का संघात है, जो ऐसे साधक की चेतना में देवता की अभिव्यक्ति करते हैं, जो साधन शक्ति के द्वारा देवता का आवाहन करते हैं। मन्त्र का उच्चारण वर्ण और स्वर के अनुसार ठीक-ठीक करना चाहिये। मन्त्रों के अनुवाद का उच्चारण करने पर विशिष्ट ध्वनियों के अभाव में देवता का प्रकाशन नहीं हो सकता। चेतना का एक विशेष ध्वनि-शरीर ही मन्त्र है। मन्त्र केवल वर्णों का समूह ही नहीं हैं। मन्त्रों का कुछ न कुछ अर्थ भी होता है और बीजमन्त्र, जिसमें अर्थ नहीं होते साधक के लिए दीप्तिमान् तेज या शक्ति के पुञ्ज हैं। मन्त्र स्वयं देवी या देवता के स्वरूप हैं। मन्त्र अतिमानवीय शक्ति का जागरण करते हैं। केवल वर्ण-उच्चारण जननमरण-शीलजीव सदृश है, जबकि मन्त्र ध्वनि-शरीर में शाश्वत तथा नित्य ब्रह्म है।

प्रत्येक मन्त्र में दो शक्तियाँ होती हैं—१. वाच्य शक्ति, २. वाचक शक्ति। प्रतिपाद्य देवता वाच्य शक्ति है और मन्त्रमयी देवता, जो मन्त्र के स्वरूप का है, वाचक शक्ति है। साधना के द्वारा जब मन्त्र के रूप में शक्ति का जागरण होता है, तब वह शक्ति अद्वैत सत्य का द्वार खोलती है, और ब्रह्माण्ड के तत्त्व या सार की अभिव्यक्ति करती है। इस प्रकार मन्त्र-शक्ति साधना-शक्ति के द्वारा जागृत होती है, जिस साधना-शक्ति को साधक साधना के द्वारा प्राप्त करता है। साधनाशक्ति और मन्त्र शक्ति के सामञ्जस्य से ही मन्त्र-साधना का फल प्राप्त होता है।

साधना या पूजा के द्वारा सगुण-शक्ति जागृत होती है, सगुण देवता मन्त्र का अधिष्ठातृ-देवता है, जिस प्रकार निर्गुण ईश्वर या ईश्वरी मन्त्र की वाच्य-शक्ति है। सगुण-निर्गुण शक्ति एक ही है, किन्तु साधक या जीव अपने स्वभाव या गुणों के कारण सर्वप्रथम स्थूल स्वरूप का चिन्तन करता है और बाद में सूक्ष्म स्वरूप का अनुभव करके मुक्ति प्राप्त करता है।

चिद् शक्ति ही मन्त्र के रूप में आभासित होती है। मन्त्री की साधना-शक्ति के द्वारा मन्त्र चैतन्य के माध्यम से मन्त्र जागृत होता है। जिस साधक का मन भक्ति से निर्मल तथा प्रकाशित हो जाता है उसे ही मन्त्र के अर्थ-स्वरूप देवता का दर्शन होता है। मन्त्र का सार चैतन्य है, जो मन्त्र शक्ति और साधक की साधन शक्ति से अनुभव किया जाता है। यही देवता की अनुभूति है। पूजा, ध्यान और साधना के द्वारा साधक की साधन-शक्ति व्यापारवान् होती है, जबकि मन्त्रसाधन में साधनशक्ति, मन्त्रशक्ति के साथ सन्धिरूप में कार्य करती है, जो सर्वशक्तिमय है और जो साधन शक्ति को पुनः सामर्थ्य प्रदान करती है। जिस

प्रकार वायु की लहरें अग्नि की लपटों से आघातित तथा प्रतिघातित होने पर अग्नि की ज्वाला को दूनी शक्ति प्रदान करती है, उसी प्रकार साधक की व्यष्टि-शक्ति, मन्त्र शक्ति के द्वारा प्रतिघातित होने पर सद्यः वृद्धि को प्राप्त होती है और तब एक पुष्ट व्यष्टि-शक्ति संगृहीत होती है, जो मन्त्रशक्ति के द्वारा दूनी शक्ति से सम्पन्न हो जाती है। मन्त्र में ही ऐसी आश्चर्यजनक शक्ति होती है जिसे जीव प्राप्त कर सकता है और जो असम्भव रूप में देखी जाती है। जीव केवल अपने प्रयास से उस शक्ति को नहीं प्राप्त कर सकता, जिसकी पूजा शिव भी करते हैं।

—: ० :—

शव-साधना और त्राटकयोग

वाममार्गी और दक्षिणमार्गी साधना-पद्धतियों में मन्त्र-जाप, विन्दुस्थिरीकरण, हठयोग, कुण्डलिनी-जागरण या षट्चक्रभेदन जैसी साधनायें दक्षिणमार्ग से सम्बद्ध हैं। वाममार्गी साधनायें अधिकांशतः अघोरसम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। जुगुप्सा के सभी आलम्बन वाममार्गी साधना के मुख्य उपकरण होते हैं। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु में समान भाव रखना दोनों साधना-पद्धतियों का परिणाम है। वाममार्ग में श्मशान की साधनायें प्रमुख हैं जहाँ पर भूत-प्रेत-सिद्धि, शव-सिद्धि और यक्षिणी-सिद्धि की साधनायें सम्पन्न की जाती हैं। इनमें शव-साधना का विशेष स्थान है।

आसन और शव-चयन :—

शव-साधना के लिये साधक को पद्मासन में बैठना चाहिये।[1] इसके अतिरिक्त शङ्खासन, भल्लूकासन, सर्पासन तथा व्याघ्रासन का भी आलम्बन लिया जा सकता है। शव-साधना हेतु संग्राम-स्थल में सम्मुख युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त होने वाले योद्धा का शव लाना चाहिये।[2] शव को शार्दूल के चर्म से आवृत्त कर घर ले आने का विधान है। इस विशेष शव की पूजा तथा जाप करना चाहिये। इसके बाद कौलासन तथा कमलासन को सम्पन्न करके महाविद्या के महामन्त्र "ऊँ ह्रां ह्रीं ह्रूँ फट् स्वाहा" का जाप करना चाहिये। इससे लिङ्ग की प्राप्ति होती है। कुछ विशेष प्रकार के शव को साधना हेतु विलकुल ही नहीं लाना चाहिये। जैसे—कुव्याधि से मृत, कुष्ठ से मृत, स्त्री, वश्य या गिर कर मरे हुए, दुर्भिक्ष से मृत, उन्मत्तता से मृत, अव्यक्त जाति वाले, हीनाङ्ग, वृद्ध, पलायनपर (यायावर), तथा अस्वस्थ के शव साधना के लिये त्याज्य हैं। स्त्रीजन तथा योगी के शव का उपयोग नहीं करना चाहिये।[3] शव-साधना के लिये तरुण, सुन्दर, शूर, मन्त्रविद् तथा तेजोमय व्यक्ति का शव उपयुक्त होता है। कुल और अकुल मत की सभी सिद्धियाँ मनुष्य-शव के हृत्पद्म की साधना से प्राप्त होती हैं।

कभी-कभी कोमलासन पर स्थित होकर शव-साधना की जाती है। कोमलासन के लिये यह निर्देश है कि युवक तथा छ महीने की आयु के बालक का शव परं कोमल होता है। इसके अतिरिक्त गर्भच्युत शिशु को "महाशव" रूप में स्वीकार करना चाहिये। इस महाशव को व्याघ्र के चर्म में आवद्ध करके जाप करना चाहिये। आठ महीने के गर्भ से लेकर, छ माह तथा दश माह तक के

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २४/५९।

२. वही, २४/६२।

३. वही, २४/६४-६८।

चारुमुख वाले बाल का शव अधिक उपयोगी माना जाता है। इसी परिमाण में एकहस्त, द्विहस्त तथा चतुर्हस्त का आसन विशुद्ध माना गया है। पाँच वर्ष की साधना करने वाला साधक भय से रहित हो जाता है। जिसका उपनयन संस्कार न हुआ हो उसके शव को भी कोमल माना गया है। गर्भच्युत शव की एक सवंत्सर तक की साधना से अणिमादि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उक्त मृतासन पर महाविद्या के महामन्त्र का जाप करने से सद्यः सिद्धि की प्राप्ति होती है।[1]

दश संवत्सर के पूर्ण होने पर शनि या मङ्गलवार के दिन मृत शव को लाकर वीरासन या बद्धपद्मासन में बैठकर भद्रकालिका का जप करना चाहिये। यदि रण-क्षेत्र में गिरकर मृत पन्द्रह वर्ष के सुन्दर किशोर के शव की साधना वीरासन से रात्रि में की जाय तो उससे अति शीघ्र खेचरी तथा धारणाशक्ति की सिद्धि होती है।[2] इसी प्रकार सोलह वर्ष के सर्वसिद्धिप्रद शवेन्द्र साधन से योग तथा मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है। इसी क्रम से पचास वर्ष के सुन्दर, वर शव की साधना से योगी की अवस्था प्राप्त होती है। रणस्थ शव-साधना से साधक साक्षात् इन्द्रतुल्य हो जाता है। सम्मुख युद्ध में वीरगति को प्राप्त शव को अपने मन्दिर में या निर्जन किसी मंदिर में स्थापित करके जप करना चाहिये। वीरासन तथा पद्मासन के अतिरिक्त योनिमुद्रासन का भी प्रयोग शव-साधना में निर्दिष्ट है। एक माह की साधना में गुणवान और पवित्र ब्राह्मण योगी हो जाता है तथा उसे सूक्ष्मवायु के धारण का ज्ञान भी हो जाता है। रणस्थ शव को विधिपूर्वक मन्दिर में अर्द्धहस्त प्रमाण भूमि में स्थापित करना चाहिये। शवस्थापना-स्थल में आधार में जगत् की आधाररूपा शक्ति की भावना करनी चाहिये। इसके शव-साधना सम्पन्न और सफल होती है।[3]

शव-साधना रात्रि में ही करनी चाहिये। दिन में यह साधना कदापि नहीं की जाती। क्रोधी या क्रूर व्यक्ति शव-साधना में सफल नहीं हो सकता। साधक को भय से युक्त भी नहीं होना चाहिये। क्रोध पाप का मूल है। इसलिये क्रोध रहित या पापरहित व्यक्ति को ही शव-साधना करनी चाहिये। साधक को जितेन्द्रिय तथा स्थिरचित्त होना चाहिये।

शव-साधना की सिद्धि :—

शव-साधना में अष्टाङ्गयोग का भी अभ्यास आवश्यक है। तभी साधक जितेन्द्रिय होता है। अन्तः और बाह्य शुद्धि के लिये नाड़ी-शोधन तथा मुद्राओं

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २४/६९-७८।

२. वही, २४/८०-८४।

३. वही, २४/८५-९२।

का अभ्यास भी अपरिहार्य है। शव-साधना से सर्वप्रथम भूतलसिद्धि होती है। तत्पश्चात् भुवःलोक, स्वःलोक, महःलोक, जनःलोक, तपः तथा सत्यलोक की सिद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार सप्तलोकों की सिद्धि के बाद व्यक्ति पूर्ण साधक माना जाता है। कहा जाता है कि अष्टाङ्ग साधन के लिये देवगण पृथिवी-तल पर आते हैं तथा भूतल-सिद्धि प्राप्त कर पुनः ब्रह्मलोक की ओर प्रयाण करते हैं।[1] यहाँ पर सप्तलोक की सिद्धि का तात्पर्य यह है कि शव-साधना का साधक ऐसी सामर्थ्य से युक्त हो जाता हैं कि वह सातों लोकों में स्वेच्छया विचरण कर सकता है।

शव-साधक के निषेध और विधिपरक आचरण :—

दिन में भूतल पर शव लाकर साधक रख ले और रात्रि में पञ्चतत्त्व के द्वारा शव-पूजन करे। दिन में अष्टाङ्ग साधन का अभ्यास करके वह जितेन्द्रिय, निर्विकार तथा वित्तवान बने। तब वीर साधक चिन्ता और आलस्य से रहित होकर शव-साधना करे। साधक को चिन्ता से रहित इसलिये होना चाहिये क्योंकि चिन्ता से लोभ, लोभ से काम, काम से मोह, मोह से आलस्य, आलस्य से निद्रा तथा महानिद्रा से मृत्यु होती है। अपक्व निन्द्रा को यदि भङ्ग कर दिया जाय तो क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से चिन्ता की विकलता, चित्तवैकल्य से श्वासवृद्धि, श्वासवृद्धि से आयु की क्षीणता, आयु की क्षीणता से बल-बुद्धि का ह्रास, बुद्धि के ह्रास से जप की अक्षमता, जपहीनता से श्वास-नाश, श्वास-क्षय से शरीर-क्षय की स्थिति हो जाती है। इसलिये शरीर को दृढ़ करके साधक को जपनिष्ठ होना चाहिये। यह शरीर की दृढ़ता अष्टाङ्ग साधन के द्वारा ही हो सकती है। अष्टाङ्ग साधन के अन्तर्गत यम, निपम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आदि आठ तत्त्वों की गणना की जाती है। यम से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से साधक कुलपति होता है। वही योगेश, कुलेश तथा शिशुभाव में स्थित निर्मल साधक होता है। नियम के द्वारा पूजा सम्पन्न होती है, पूजा से शिवत्व की प्राप्ति होती है। जहाँ पूजा सम्पन्न नहीं होती वहाँ हर प्रकार से अशुचि की स्थिति होती है। आसन से साधक रोग और शोक से रहित होकर दीर्घजीवी होता है। प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को वश में करके नाड़ी-शोधन होता है। प्रत्याहार के द्वारा नाना कामनाओं में विचरणशील चित्त शिव के चरण-कमल में स्थित होता है। धारणा के द्वारा वायुसिद्धि, इष्टसिद्धि तचा अणिमादि अष्टसिद्धि की प्राप्ति होती है। ध्यान से मोक्ष तथा मोक्ष में सुख की उपलब्धि होती है। सुख से आनन्द की प्राप्ति होती है। यह आनन्द ही ब्रह्म का विग्रह है। समाधि से महाज्ञानी महाशून्य या लयस्थान में परमतत्त्व के श्रीचरणों में आनन्दसागर का लाभ करता

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २४/११८-१२३।

है। पारमार्थिक रूप से विनिर्मल आनन्दपयोधि की तरङ्गों में मन की एकाग्रता करके कोटि सूर्य और चन्द्र तुल्य श्रीपाद की मूर्ति की कल्पना करके ध्यान करना चाहिये।[1]

त्राटक योग

त्राटकयोग "ध्यानयोग" ही है, जिसका विस्तृत विवेचन योग-प्रकरण के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहाँ पर उसी ध्यानयोग की अपर संज्ञा "त्राटक" के सामान्य स्वरूप पर चर्चा की जा रही है।

निर्निमेष दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य पर तब तक निरन्तर देखना जब तक कि नेत्रों में अश्रुजल न आ जाय—यही त्राटकयोग है—

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥[1]

"त्राटक" योग में समाहित (एकाग्र) चित्त का होना अपरिहार्य है। इस योग से नेत्रों का रोग नष्ट होता है तथा तन्द्रा आदि दूर होती है। यह योग स्वर्ण की पेटिका के समान यत्नपूर्वक गोपनीय होता है।[2] त्राटकयोग की एक दूसरी भी विधि है जिसके द्वारा आज्ञाचक्र की साधना सम्पन्न की जाती है। इस क्रिया में साधक सिद्धासन से बैठकर प्राणवायु के श्वास और प्रच्छ्वास के साथ मूलाधार (कन्द) का संकोच तथा शिथिलीकरण करते हुये दृष्टि को निर्निमेषपूर्वक नासिकाग्र भाग पर या भ्रूमध्य में अश्रुपर्यन्त स्थिर किया जाता है। इससे आज्ञाचक्र का भेदन होता है और साधक को दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। घेरण्डसंहिता (षष्ठ-उपदेश) में ध्यानयोग पर सविस्तार चर्चा की गई है जहाँ ध्यान के तीन भेद बताये गये हैं—स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्मध्यान। हृदयस्थ अनाहत पद्म में सुधा-सागर, रत्नवालुकामय रत्नद्वीप, निम्बवृक्ष, कल्पवृक्ष, सुमनोहर पर्यंक पर अधिष्ठित देव का ध्यान "स्थूलध्यान" है। मूलाधार में कुण्डलिनीरूप जीवात्मा की प्रदीपवत् ज्योति का ध्यान "ज्योतिर्ध्यान" है तथा जब दृष्टि नेत्रों से बाहर होकर आत्मा के साथ राजमार्ग में विचरण करे तो उसे "सूक्ष्मध्यान" कहते हैं। सूक्ष्मध्यान सभी ध्यान से श्रेष्ठ है। सूक्ष्मध्यान की प्रारम्भिक अवस्था ही "त्राटक" है। सूक्ष्म लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करने की परिपक्वता ही सूक्ष्मध्यान की ओर अग्रेसर करती है।

—: ० :—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २४/१२४-१४१।
२ हठयोग प्रदीपिका, २/३१।
३. वही, २/३२।

मन्त्र-रहस्य

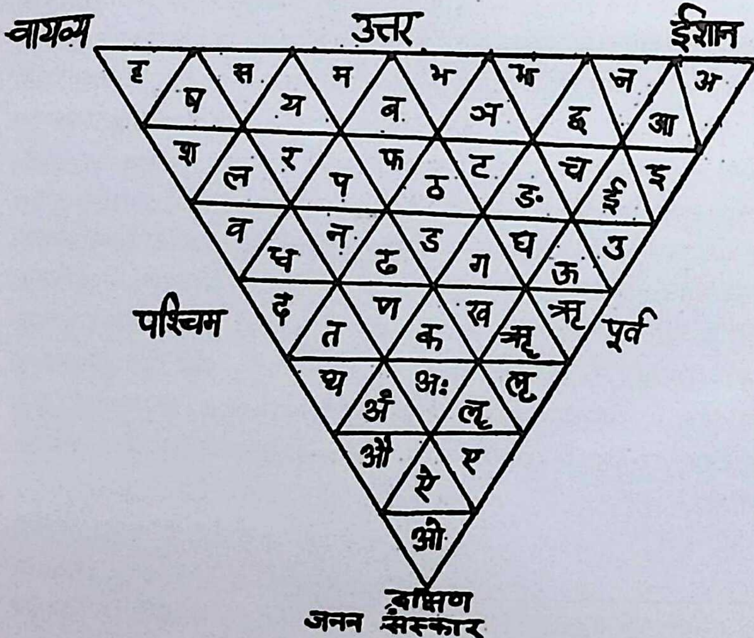
(क) मन्त्र-संस्कार :—

कहा जाता है भगवान शिव के डमरू से सात करोड़ मन्त्रों की उत्पत्ति हुई। कालान्तर में धीरे-धीरे वे अनेक प्रकार के दोषों से युक्त हो गये। सम्प्रति प्रायः सभी मन्त्र किसी न किसी दोष से अवश्य युक्त हैं। मन्त्र-संस्कार के द्वारा इन दोषों को दूर किया जाता है। संस्कारित मन्त्र ही अभीष्ट की सिद्धि करने में समर्थ होते हैं। मन्त्र का संस्कार दश प्रकार से किया जाता है—

> **कथ्यन्ते दश संस्कारा मन्त्रदोषहरा प्रिये।**
> **जननं जीवनं पश्चात् बोधनं ताडनस्तथा ॥**
> **अभिषेकोऽथ विमलीकरणाऽप्यायने पुनः।**
> **तर्पणं दीपनं गुप्तिः संस्कारा कुलनायिके ॥**[1]

मन्त्रों के जनन, जीवन, बोधन, ताडन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यांयन, तर्पण, दीपन तथा गोपन—ये दश संस्कार कहे गये हैं।

१. जनन—भोजपत्र पर गोरोचन, कुंकुम तथा चन्दन से पूर्व की ओर



जनन संस्कार

---

१. कुलार्णवतन्त्र, १५।

मुँह करके आसन पर बैठकर त्रिकोंण बनावे तथा उन तीनों कोणों में छः-छः रेखायें खींचे। इस प्रकार ४९ त्रिकोण कोष्ठ बनेंगे। उसमें ईशान कोण से मातृका वर्ण लिखना चाहिये तणा उसका पूजन भी करना चाहिये। इसके वाद पुनः प्रत्येक वर्ण का उच्चार करते हुये उसे अलग भोजपत्र पर लिखे तथा मन्त्र से सम्पृक्त करें। यही मन्त्र का जनन संस्कार है। संस्कार के वाद मन्त्र को जल से विर्सजित करें।

२. **जीवन**—"स्वधा वषट्" मन्त्र के सम्पुट से मूलमन्त्र का एक हजार जप करने से मन्त्र का जीवन संस्कार होता है। यथा—"स्वधा वषट्" शिवाय नमः "वषट् स्वधा"।

३. **बोधन**—"हूँ" बीजमन्त्र से मूलमन्त्र को सम्पुटित कर पाँच हजार जप करना "बोधन" कहलाता है। यथा—"हूँ शिवाय नमः हूँ"।

४. **ताडन**—"फट्" से सम्पुटित कर मूलमन्त्र का एक हजार जप करने से मन्त्र का ताडन संस्कार होता है। यथा—"फट् शिवाय नमः फट्"।

५. **अभिषेक**—मूलमन्त्र को भोजपत्र पर लिखकर "ॐ हंसः ॐ" से जल को अभिमन्त्रित करके पीपल के पत्ते से उस मन्त्र का अभिषेक करने से "अभिषेक" संस्कार होता है।

६. **विमलीकरण**—"ॐ त्रों वषट्" से सम्पुटित कर मूलमन्त्र का एक हजार जप करने से मन्त्र का "विमलीकरण" संस्कार होता है। यथा —"ॐ त्रों वषट् शिवाय नमः वषट् त्रों ॐ"।

७. **आप्यायन**—"ह्लौ" बीजमन्त्र से सम्पुटित कर मूलमन्त्र का एक हजार जप करने से "आप्यायन" संस्कार होता है। यथा—"ह्लौ शिवाय नमः ह्लौं"।

८. **तर्पण**—दूध, जल तथा घी को मिलाकर मूलमन्त्र से सौ बार तर्पण करना मन्त्र का "तर्पण" संस्कार कहलाता है।

९. **दीपन**—"हंसः" मन्त्र से सम्पुटित कर मूलमन्त्र का एक हजार जप करने से "दीपन" संस्कार होता है। यथा—"हंसः शिवाय नमः सोऽहम्"।

१०. **गोपन**—"ह्रीं" बीज से सम्पुटित कर मूलमन्त्र का एक हजार जप करना "गोपन" कहलाता है। यथा—"ह्रीं शिवाय नमः ह्रीं"।

इसके अतिरिक्त मन्त्र को चैतन्य करने का भी विधान शास्त्रों में निर्दिष्ट है।[1] मूलमन्त्र को "क्लीं श्रीं ह्रीं" तथा अ से क्ष तक अनुस्वारयुक्त मातृकावर्ण

---

१. मन्त्र सिद्धि का उपाय, पृ० २१।

के द्वारा सम्पुटित कर मन्त्र का एक सौ आठ बार जप करने से मन्त्र का चैतन्य होता है। यथा—"क्लीं श्री ह्रीं अं शिवाय नमः अं ह्रीं श्रीं क्ली"। चैतन्यरहित-मन्त्र का कोटिलक्ष्य जप भी फल की प्राप्ति नहीं करा सकता।[1]

(ख) मन्त्र दोषादि-निर्णय :—

किसी कारणवशात् मन्त्र ऋषियों के द्वारा अभिशप्त होते रहे हैं। इसलिये उनके जप का फल तब तक नहीं मिलता, जब तक मन्त्र का संस्कार नहीं कर दिया ज़ाता। मन्त्रों के साठ दोष कहे गये हैं[2]—

१. रुद्र	२. कूटाक्षर	३. मुग्ध	४. बद्ध
५. भेदित	६. क्रुद्ध	७. बाल	८. कुमार
९. युवक	१०. प्रौढ़	११. वृद्ध	१२. गर्वित
१३. स्तम्भित	१४. मूर्च्छित	१५. मत्त	१६. कीलित
१७. खण्डित	१८. शठ	१९. मन्द	२०. पराङ्मुख
२१. छिन्न	२२. बधिर	२३. अन्ध	२४. अचेतन
२५. किङ्कर	२६. क्षुधित	२७. स्तब्ध	२८. स्थानभ्रष्ट
२९. पीड़ित	३०. निःस्नेह	३१. विकल	३२. ध्वस्त
३३. निर्जीव	३४. खण्डितारि	३५. सुप्त	३६. तिरस्कृत
३७. नीच	३८. मलिन	३९. दुरासद	४०. निःसत्व
४१. निर्जित	४२. दग्ध	४३. चपल	४४. भयङ्कर
४५. निस्त्रिंश	४६. निन्दित	४७. क्रूर	४८. फलहीन
४९. निकृन्तन	५०. निर्वीर्य	५१. भ्रमित	५२. शप्त
५३. ऋणविलष्ट	५४. अङ्गहीन	५५. जड़	५६. रिपु
५७. उदासीन	५८. लज्जित	५९. मोहित	६०. अलस

मुख्य रूप से मन्त्रों के आठ दोषों का निराकरण तो साधक को कर ही लेना चाहिये।[3]

१. अभक्ति २. अक्षरभ्रान्ति ३. लुप्त ४. छिन्न ५. ह्रस्व ६. दीर्घ ७. कथन ८. स्वप्न कथन।

१. **अभक्ति**—मन्त्र-जप करते समय मन्त्र के साथ निष्ठा, विश्वास तथा भक्ति रखनी चाहिये। यदि साधक मन्त्र को मात्र वर्णों का समूह मानता है या

---

१. कुलार्णवतन्त्र, १५/६१।

२. वही, १५/६५-७०।

३. मन्त्र रहस्य, पृ० १९३।

किसी मन्त्र को दूसरे मन्त्र से हीन समझता है तो उस साधक को कभी भी सफलता नहीं मिल सकती। इसलिये मन्त्र के साथ अभक्ति नहीं होनी चाहिये।

२. **अक्षरभ्रान्ति**--प्रमाद, भ्रम या अन्य किसी कारण से मन्त्र में एक या दो वर्ण घट या बढ़ जाते हैं। इसे "अक्षर-भ्रान्ति" कहते हैं। इस स्थिति में साधक को चाहिये कि वह गुरु या गुरुपुत्र से पुनः मन्त्र का ग्रहण करे।

३. **लुप्त**—मन्त्र में किसी वर्ण का कम हो जाना "लुप्त" दोष कहा जाता है। इस स्थिति में भी पुनः मन्त्र-ग्रहण करना चाहिये।

४. **छिन्न**—संयुक्त अक्षरों वाले मन्त्र से एकाध वर्ण छूट जाने पर "छिन्न" दोष उत्पन्न होता है। इसके लिये भी पुनः मन्त्र-ग्रहण करना चाहिये।

५. **ह्रस्व**—मन्त्र में दीर्घ वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उच्चारण करना "ह्रस्व" दोष कहा जाता है। गुरुमुख से सुनकर ही इस दोष से मुक्ति मिल सकती है।

६. **दीर्घ**—ह्रस्व वर्ण के स्थान पर मन्त्र में दीर्घ उच्चारण करना "दीर्घ" दोष माना जाता है। इसका निराकरण गुरुमुख से ही हो सकता है।

७ **कथन**—जाग्रत अवस्था में अपने मन्त्र को किसी से बता देना या किसी को सुना देना "कथन" दोष माना जाता है। इस स्थिति में गुरु से प्रायश्चित जान कर तथा उसका पालन करके दोष का मार्जन करना चाहिये।

८. **स्वप्न कथन**—अपने मन्त्र को स्वप्न में भी किसी से कह देना "स्वप्न-कथन" दोष माना जाता है। गुरुचरणों में इस दोष को निवेदित करके प्रायश्चित करके दोष का मार्जन करना चाहिये। वैसे तो शास्त्र में यह भी निर्दिष्ट है कि योगतत्त्व के द्वारा छिन्नादि समस्त मन्त्र-दोष समाप्त हो जाते हैं। भुवनेशी देवी का बीजमन्त्र इन्द्र के शाप से दुष्ट है, उसे "ऊँ ऐं ऊँ" (ऐं को ऊँ से सम्पुटित करके) मन्त्र से मार्जित किया जाता है।[1]

(ग) मन्त्र-सिद्धि-लक्षण :—

दुष्ट मन्त्रों का संस्कार करके शास्त्रोक्त विधिपूर्वक मन्त्र-जप करने से अभीष्ट सिद्धि की प्राप्ति होती है। साधक को अपना मन्त्र सिद्ध हो रहा है या नहीं—इसका ज्ञान तब होता है जब सिद्धि के कुछ लक्षण अनुभव होने लगते हैं। मन्त्र-सिद्धि के कुछ लक्षण इस प्रकार हैं—

चित्तप्रसादो मनसश्च तुष्टिरल्पाशिता स्वप्नपराङ्मुखत्वम्।
स्वप्ने प्रपापश्वफलं भवन्ति सिद्धस्य चिह्नानि भवन्ति सद्यः॥[2]

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २८/१५-१७।
२. भैरवीतन्त्र (मन्त्र रहस्य, पृ० २३० पर उद्धृत)।

चित्त प्रसन्न रहता है, मन सन्तुष्ट रहता है, स्वल्पाहारिता आती है, स्वप्न में ही पराङ्मुखता रहती है, स्वप्न में परिपक्व फल दीख पड़ते हैं। समस्त शरीर में ज्योति ही ज्योति दिखाई पड़ती है। सारा शरीर प्रकाशयुक्त हो जाता है। संमस्त शरीर में देवतामय अवस्था का ज्ञान होने लगता है।[1]

मन्त्रसिद्धि से साधक निरोग, वैराग्य-हृदय वाला, त्याग, सुस्मृति, शम, दया से युक्त, माया से रहित हो जाता है। वह ऐश्वर्य, कवितारस, धनजन, लक्ष्मी, जापन, उल्लास, सुतधन सम्मान, सन्मार्ग, इच्छासागर रत्न की पूर्णता, कान्ता समूह के आमोद, सङ्केतमन्त्र-प्रियत्व, हरिहरब्रह्मैकभाव, लोक-गुरुत्व तथा शिवानन्दैकमुद्रा से युक्त हो जाता है।[2]

शास्त्र में यह भी कहा गया है कि ऋषि-देव-योनियाँ मन्त्र-सिद्धि-हेतु दिव्य पररूप धारण करती हैं। जो साधक इस प्रकार का उत्तम योगसाधन करता है, वह श्रीयुक्त, साधु, सद्वक्ता तथा शास्त्रज्ञ होता है।[3]

(घ) मन्त्र-भेद और मन्त्रोद्धार :—

सामान्य रूप से व्यवहार में दो प्रकार के मन्त्र दिखाई पड़ते हैं— १. संयुक्तवर्णात्मक २. बीज। संयुक्तवर्णात्मक मन्त्र में कई-कई वर्ण या अक्षर होते हैं किन्तु बीज मन्त्र में एक ही मातृकारूप होता है।

इसके अतिरिक्त षट्कर्मों (मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण तथा स्वस्त्ययन) के प्रयोग की दृष्टि से मन्त्र का विभाजन छः प्रकार से किया गया है।[4]

१. पल्लव, २. योजन, ३. रोध, ४. पर, ५. सम्पुट, ६. विदर्भ।

१. पल्लव—जिस मन्त्र के आदि में नाम का कथन होता है उसे "पल्लव" मन्त्र कहते हैं। यह मन्त्र मारण, संहारण, भूतप्रेत-निवारण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि कार्यों में प्रयुक्त होता है।

२. योजन—जिस मन्त्र के अन्त में नाम को जोड़कर जप किया जाय वह मन्त्र "योजन" कहलाता है। इस मन्त्र का प्रयोग स्वस्त्ययन, पुष्टि, मोहन, दीपन आदि कार्यों में किया जाता है।

---

१. भैरवीतन्त्र (नारद पञ्चरात्र)।

२. रुद्रयामल उ० त०, २८/४-९।

३. वही, २८/११-१४।

४. मन्त्र रहस्य, पृ० १६६।

३. रोध—नाम के आदि मध्य या अन्त में मन्त्र हो तो उसे "रोध" कहते हैं। यह मन्त्र सम्मोहन कार्य में प्रयुक्त होता है।

४. पर--यदि नाम के प्रत्येक अक्षर के साथ मन्त्र सम्बद्ध हो तो उसे "पर" मन्त्र कहते हैं। स्वस्त्ययन (शान्ति) कार्यों में इसका प्रयोग होता है।

५. सम्पुट—नाम से पूर्व अनुलोम तथा नाम के अन्त में विलोम मन्त्र लेने पर "सम्पुट" मन्त्र कहा जाता है। कीलन, स्तम्भन तथा उच्चाटन आदि कार्यों में इसका प्रयोग किया जाता है।

६. विदर्भ—मन्त्र के दो अक्षर, फिर नाम के दो अक्षर, पुनः मन्त्र के दो अक्षर—इस क्रम में प्रयुक्त मन्त्र की "विदर्भ" संज्ञा होती है। आकर्षण तथा वशीकरण में इस मन्त्र का प्रयोग होता है।

मन्त्रों में ध्वनि-प्रयोग :—

विभिन्न प्रकार के कार्यों में मन्त्र के साथ अनेक प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है—

१. उच्चाटन, आकर्षण तथा विद्वेषण कार्य में "हुँ"।
२. छेदन तथा मारण कार्य में "फट्"।
३. ग्रहशान्ति तथा अनिष्टनिवारण में "हुँ फट्"।
४. पुष्टि कर्म में "वौषट्"।
५. यज्ञकार्य में "स्वाहा"।
६. पूजनकार्य में "नमः"।
७. शान्तिकार्य में "स्वाहा"।
८. वशीकरण में "स्वधा"।
९. विद्वेपण तथा उच्चाटन में "वषट्"।

बीजमन्त्र :—

अनेक प्रकार देव-देवियों के नाम से उनके बीज मन्त्रों का ज्ञान होता हैं। कहीं-कहीं बीजमन्त्र का सङ्केत न करके देव बीज या शक्ति बीज (विष्णु बीज, शिव बीज, शक्ति बीज, सरस्वती बीज आदि) का उल्लेख किया जाता है। इससे उनके बीज मन्त्रो का ज्ञान करना चाहिये। कहा जाता है कि बीजमन्त्र एक विशेष ध्वनि लिये हुए होते हैं तथा वे अन्य मन्त्रों की तुलना में अधिक शक्तिशाली होते हैं। यहाँ पर हम यथाशक्ति अनेक ग्रन्थों तथा रुद्रयामल में भी उल्लिखित कतिपय देव-देवी परक तथा कुछ अन्य बीज मन्त्रों का सङ्केत करना चाह रहे हैं—

अग्नि बीज मन्त्र-रं
अजपा बीज मन्त्र-हंसः
अस्त्र बीज मन्त्र-फट्
आकाश बीज मन्त्र-हं
इन्द्र बीज मन्त्र-लं
ईश्वर बीज मन्त्र-ऐं
ईशान बीज मन्त्र-हं
अंकुश बीज मन्त्र-क्रों
कलहर बीज मन्त्र-ह्रीं
कवच बीज मन्त्र-हुं
काम बीज मन्त्र-क्लीं
कामराज बीज मन्त्र-ह्स्क्लरीं
काली बीज मन्त्र-क्रीं
कूर्च बीज मन्त्र-हूं
कूट बीज मन्त्र-क्ष
गणपति बीज मन्त्र-गं
गणेश बीज मन्त्र-ग्लौं, गं
चन्द्र बीज मन्त्र-ठं
जल बीज मन्त्र-वं
डाकिनी बीज मन्त्र-वं
तार बीजमन्त्र-ॐ
दुर्गा बीज मन्त्र-दूं
देवी बीज मन्त्र-श्रीं
धरा बीज मन्त्र-लं
नकुलीश बीज मन्त्र-हं
निज बीज मन्त्र-गं
नृसिंह एकाक्षर बीज मन्त्र-क्ष्रौं
परा बीज मन्त्र-सौः, ह्रीं
प्रसाद बीज मन्त्र-ह्रौं
वधू बीज मन्त्र-स्त्रीं
बाला बीज मन्त्र-ऐं
ब्रह्म बीज मन्त्र-शं
भुवनेश्वरी बीज मन्त्र ह्रीं

भैरव बीज मन्त्र-भ्रं
मारुत बीज मन्त्र-यं
माया बीज मन्त्र-ह्रीं
मूलमन्त्र बीज मन्त्र-ह्रीं श्रीं क्रीं परमेश्वरि स्वाहा
रमा बीज मन्त्र-श्रीं
लज्जा बीज मन्त्र-ह्रीं
लक्ष्मी बीच मन्त्र-श्रीं
वरुण बीज मन्त्र-वं
वर्म बीज मन्त्र-हुं
वर्म दीर्घ बीज मन्त्र-हूं
वाक् बीज मन्त्र-ऐं
वाग्भव बीज मन्त्र-ऐं
विष्णु वनिता बीज मन्त्र-श्रीं
वायु बीज मन्त्र-यं
विश्व बीज मन्त्र-ठ्रि
विष्णु बीज मन्त्र-दं
वैसर्गिकीकला बीज मन्त्र-ह (:)
शम्भु बनिता बीज मन्त्र-ह्रीं
शक्ति बीज मन्त्र-ह्रीं
शक्ति कूट बीज मन्त्र-ह्सौः
शिव बीज मन्त्र-ह्रौं
शेष बीज मन्त्र-सौः
शंकर बीज मन्त्र-शं
षडङ्ग मन्त्र-ॐ नमः शिवाय
षोडशी बीज मन्त्र-श्रीं
सदाशिव बीज मन्त्र-सं
सरस्वती बीज मन्त्र-ऐं
हनुमत् बीज मन्त्र-फ्रौं
हृत् बीज मन्त्र-मनः
हंस बीज मन्त्र-ह
त्रिपुरा मन्त्र-ऐं क्लीं सौः
त्रिपुरा पञ्चाक्षर-ऐं क्लीं सौः सौः क्लीं

ज्ञान बीज मन्त्र-ज्ञं

श्रीकण्ठ बीज मन्त्र-अः

मन्त्र-वर्ण सङ्केत :—

अद्रि-द

अनन्त-आ

अनल-र

अमृतात्मक-व

अभ्र-ह

अर्घीश-ऊ

अर्ध चन्द्र-ँ

आकाश-ह

इन्दु-० (अनुस्वार)

इन्द्र-ल

ईश-ह

ऋद्धि-ख

काम-क

कामदेव-स्वा

काज-म

कालेश-म

कूर्म-च

गगन-ह

गोविन्द-ई

चन्द्र-स

जीव-स

झिण्टी-ए

ठद्वन्द्व-स्वाहा

तैजस-रेफ्

तार-ओं

द्विठ-स्वाहा

देवी-स

दीप-रेफ्

नाद विन्दु-

नारायण-आ-

पुरन्दर-ल

प्रतिष्ठा-आ

पञ्चचातक-ग

प्रतिष्ठा-आ

प्रजापति-क

प्राण-इ

प्राणेश-ह

पृथ्वीपति-व

ब्रह्मा-क

भग-ए

भेरुण्डा-ई

भृगु-स

भौतिक-ऐ

मदन-क

मस्त-ं (अनुस्वार)

महेश-ह

महेश्वर-ह

मृगाङ्क-ईं

माया-ई

योनि-ए

रक्त-र

रति-ह

रुद्र-ह

लोहिता-क्ष

वह्निकान्ता-स्वाहा

वायु-य

वाणी-ऐ

विजया-ऐ

विन्दु-ं (अनुस्वार)

विष्णु-अ

वियत्-ह

वैखरी शक्ति-फट्

शक्र-ल

शक्ति-स
शम्भु-ह
शिव-ह
शून्य-ह
शेषदन्त-औ
सत्य-ओ
संवर्त-क्ष
सुरेन्द्र-ज
सूर्य-म
सोम-स
सूक्ष्मान्त-ई
हर-ह
हान्त-क्ष
त्रिपुरा-ऐ
त्रिपुरसुन्दरी-र
त्रैलोक्यविजया-ओ

शरीर के अवयवों द्वारा मन्त्र-वर्ण-सङ्केत :—

ललाट या शिर-अ
मुख-आ
दक्षिण नेत्र-इ
वाम नेत्र-ई
दक्षिण कर्ण-उ
वाम कर्ण-ऊ
दक्षिण नासा-ऋ
वाम नासा-ॠ
दक्षिण कपोल-ऌ
वाम कपोल-ॡ
अधर-ए
ओष्ठ-ऐ
अधोदन्त-ओ
ऊर्ध्वदन्त-औ
जिह्वा-अं
ग्रीवा-अः
दक्षिण बाहुमूल-क
दक्षिण कूर्पर (केहुनी)-ख
दक्षिण-मणिबन्ध-ग
दक्षिण अंगुलिमूल-घ
दक्षिण अंगुलि-अग्र-ङ
वाम बाहु मूल-च
वाम कूर्पर-छ
वाम मणि बन्ध-ज
वाम अंगुलिमूल-झ
वामअंगुल्यग्र-ञ
दक्षिण ऊरु मूल-ट
दक्षिण जानु-ठ
दक्षिण गुल्फ-ड
दक्षिण अंगुलि मूल-ढ
दक्षिण अंगुल्यग्र-ण
वाम ऊरु मूल-त
वाम जानु-थ
वाम गुल्फ-द
वाम अंगुलिमूल-ध
वाम अंगुल्यग्र-न
दक्षिण कुक्षि-प
वाम कुक्षि-फ
पृष्ठ-ब
नाभि-भ
उदर-म
हृदय-य
दक्षिण स्कन्ध-रं
वाम स्कन्ध-ल
तालु-व
हृदय से दक्षिण हस्त-श
हृदय से वाम हस्त-ष
हृदय से दक्षिण पाद-स

हृदय से वाम पाद—ह ब्रह्मरन्ध्र—क्ष

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मातृकामय है तथा यह शरीर भी मातृकामय है। इसलिये पिण्ड को ब्रह्माण्ड का रूप कहा जाता है।

मन्त्रोद्धार :—

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मन्त्र अधिकतर अभिशप्त हैं। बिना उनका उद्धार किये हुये जप सफल नहीं होता। मन्त्रोद्धार करते समय मूलमन्त्र को कुछ बीज मन्त्रों से सम्पुटित करके मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। रुद्रयामल उत्तरतन्त्र में रुद्राणी का मन्त्रोद्धार (पृ०-३६५), काकिनी का मन्त्रोद्धार (पृ०-४४२) तथा शाकिनी मन्त्रोद्धार (पृ०-४५४) के मन्त्रों का निर्देश किया गया है, जिसका विस्तृत विवेचन पञ्चम पुष्प के प्रथम पटल में किया जा चुका है। प्रत्येक देवी या देवता का अपना अलग मन्त्रोद्धार होता है। कभी-कभी बीजमंत्र का (यथानिर्दिष्ट संख्यानुसार) जप करने से भी मंत्रोद्धार होता है। मंत्रों के दश संस्कार के द्वारा मूल मंत्र को बीजमंत्रों से सम्पुटित करके मंत्रोद्धार किया जाता है। इसका विस्तृत विवेचन मंत्रसंस्कार के प्रकरण में किया जा चुका है। कभी-कभी सम्पुट युक्त या बीज मंत्रों के अतिरिक्त देवता के मूल मंत्र का ही शास्त्रानुसार संखया में जप करने से उस मंत्र का उद्धार होता है।

(ङ) महामन्त्र (हंसः)

'हंसः" ही पुरुष-प्रकृति तत्त्व है। "हं" पुरुष और "सः" स्त्री लिङ्ग या शक्ति स्वरूप है। शिव और शक्ति "हंस" स्वरूप है। इसी "हंस" से ब्रह्माण्ड की रचना होती है। सम्पूर्ण सृष्टि हंस-स्वरूप है—

"पुं प्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्।"

भक्त अनाहत-कमल में उस भास्वर दम्पति को नमस्कार करता है जो हं और सः स्वरूप है तथा जो ज्ञान के विकसित कमल के पराग में निरन्तर आनन्द-रत परम मानस में तैरता रहता है।[1] वेदान्ती से "सोऽहं" का विपरीत पद "हंसः" है। सम्मोहन तन्त्र हकार एक पक्ष है सकार दूसरा। जब दोनों पक्ष अनावृत्त हों जाते हैं तब "तार" को "कामकला" कहते हैं। जीव "हंस" है। "तार" का साधक "कादि" और "हादि" मत का स्वामी होता है। "हंस तारा महाविद्या" योग की सर्वोच्च अधिष्ठात्री हैं, जिसे "कादि" मतानुयायी "काली" और "हादि" मतानुयायी "श्री सुन्दरी" कहते हैं और "क-हादि"—अनुयायी उसे हंस कहते हैं।[2]

---

१. आनन्दलहरी, श्लोक, ३८।

२. द गार्लेण्ड लेटर्स, पृ० १६५।

प्रणव (ॐ) से हंस की उत्पत्ति होती है, हंस ही सोऽहम् है। इस सोऽहम् मन्त्र का ज्ञान महाज्ञान है जो योगियों को भी दुर्लभ है। इस मन्त्र की निरन्तर भावना करने वाला परम योगी होता है। "हं" को इड़ा नाड़ी का श्वास रूप पुरुष तथा "सः" को प्रकृति (पिङ्गला नाड़ी का श्वास रूप) माना गया है। "हंस" के विपरीत क्रम "सोऽहम्" का ज्ञान होने पर सूर्य की सिद्धि होती है। "हंस" मन्त्र में हकार और सकार वर्ण की सन्धि करके हकार अनुस्वार युक्त करने पर "हंस" महामन्त्र बनता है। स्वाधिष्ठानचक्र में "हंस" मन्त्र का जप करते हुये ध्यान किया जाता है। ऐसा साधक सूर्यमण्डल के मध्य गमनशील की सामर्थ्य वाला होता हैं। "हंस" सूर्य स्वरूप तथा सोऽहम् चन्द्र स्वरूप है। "हंस" के विपर्यय रूप "सोऽहम्" की भावना मोक्ष प्रदान करने वाली होती है। स्वाधिष्ठानचक्र में हरि के पाद में मनोरूप हंस की भावना करके उसे श्रीगुरु-पाद में (आज्ञाचक्र में) ले आना चाहिये। अं तथा आं से सम्पुटित सोऽहम् (अं सोऽहम् अं, आं सोऽहम् आं) का जप करने वाला कल्पवृक्ष तुल्य हो जाता है। जप-होमादि भी "हंस" मन्त्र से करनी चाहिये। पुरुष "हं" मन्त्र तथा स्त्रीरूप "सं" (हंस) का २१ हजार छः सौ जप करना चाहिये। ॐ के साथ "हंस" का जप करने वाला वायुसिद्धि को प्राप्त करता है।[1]

इसके अतिरिक्त एक बृहद् "हंस" मन्त्र भी है जिसकी कृपा से षट्चक्र का भेदन हो जाता है। मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ हंस ॐ ॐ तर्पयामि ॐ फट्।

"हंस" तथा बृहद्हंस का जप करने वाले मनुष्य षड्विकाररूप राक्षसों को तुरन्त भगा देते हैं। इससे साधक साक्षात् रामरूप तथा सिद्धवाक् हो जाता है। "हंस" मन्त्र को अपनी श्वास-प्रच्छ्वासों के साथ इस प्रकार जपने का अभ्यास करे कि मन्त्र स्वतः जपा जाता रहे, इसे अजपा जप कहते हैं।[2]

—:०:—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २२/९१-१०२।
२. वही, २२/१०४-१०८।

दीक्षा-रहस्य

आत्मसंस्कार का ही दूसरा नाम दीक्षा है। इससे आणव, कार्म और मायीय —इन तीन प्रकार के मलों का विनाश होता है। दीक्षा से ही वासना की क्षीणता होती है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥[1]

जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशुवासना का क्षय होता है, ऐसी दान और क्षपणयुक्त क्रिया को दीक्षा कहते हैं। प्रत्येक भुवन में दीक्षा के द्वारा मुक्त करने की योग्यता से सम्पन्न सद्गुरु विद्यमान रहते हैं।

शिष्य की योग्यता के अनुसार दीक्षा के भेद

१. समयी दीक्षा :—

सब पशु आत्माओं का समान अधिकार है। काल तथा आश्रमादि का कोई नियम नहीं है। इस दीक्षा में उपवीत का ग्रहण किया जाता है। उपवीत शब्द की व्युत्पत्ति पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि उप=आत्मा की सन्निधि में, वि=विशेष, आलम्बन के द्वारा अर्थात् मंत्र की सामर्थ्य से, इत=सम्बद्ध होना ही उपवीत-ग्रहण है। प्राणायाम के अन्तर्गत रेचन के समय जीव उत्तरोत्तर ६ देवताओं को त्याग देता है जिनके नाम इस प्रकार हैं— (१) हृदय में ब्रह्मा (२) कण्ठ में विष्णु (३) तालु में रुद्र (४) भ्रूमध्य में ईश्वर (५) ललाट में सदाशिव (६) ब्रह्मरन्ध्र में शिव।

२. भोग दीक्षा : साधकदीक्षा :—

पुत्रकादि अन्यान्य दीक्षाओं की व्यवस्था इसके अन्तर्गत है। इसमें अध्वशुद्धि आवश्यक है। भोगदीक्षा स्वप्रत्ययी तथा मोक्ष दीक्षा-गुरु प्रत्ययी होती है। भोगदीक्षा शिवधर्मिणी तथा लोकधर्मिणी भेद से दो प्रकार की है।

३. शिवधर्मिणी दीक्षा :—

इस दीक्षा के प्रभाव से तीन प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—(१) मंत्रेश्वर पद की प्राप्ति (२) मंत्र पद की प्राप्ति और (३) पिण्ड-सिद्धि तथा अवान्तर सिद्धियाँ।

४. लोकधर्मिणी दीक्षा :—

इस दीक्षा से आगामी कर्मों के अन्दर का अशुभ अंश नष्ट हो जाता है और

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० २६६ पर उद्धृत।

शुभांश अणिमादि सिद्धि-रूप में परिणत हो जाता है। जब प्रारब्ध का फलभूत देह पतित हो जाता है, तब गुरु दीक्षित साधक को अणिमादि भोग के लिये ऊर्ध्वलोक में संचालित कर देते हैं। धीरे-धीरे उत्कर्ष होता रहता है। ये सब आस्थाएँ साधक के आध्यात्मिक उत्कर्ष के तारतम्य पर निर्भर है।[1]

लोकधर्मिणिमारोप्य मते भुवनभर्तरि।
तद्धर्मापादनं कुर्याच्छिवेव मुक्तिकांक्षिणम्॥[2]

लोकधर्मी साधक के गुरु अपने इष्ट भुवनेश्वर के स्वरूप से युक्त करके उसके धर्म से युक्त करें अथवा यदि वह मुक्तिकामी हो तो उसे शिव में आरोपित करके उनके धर्मों से युक्त करें। ये ऊर्ध्व गति और योजन क्रमशः साधक और गुरु के संकल्प के अनुसार होते हैं।

५. मोक्ष दीक्षा : निर्बीजदीक्षा :—

मुमुक्षु की दीक्षा सबीज, निर्बीज और सद्योनिर्वाणदायिनी—तीन प्रकार की है।

निर्बीजदीक्षा—बालक, मूर्ख, वृद्ध, स्त्री तथा व्याधिग्रस्त के लिये है। जो लोग शास्त्र के लिये कुशल नहीं है उन्हीं के लिये निर्बीजदीक्षा का विधान है। इनके लिये समयाचार के पालन की आवश्यकता नहीं होती इस दीक्षा के प्रभाव से केवल गुरुभक्ति से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्तिमात्रात् गुरोः सदा (स्वच्छन्द तंत्र)[3]

६. सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा :—

यह दीक्षा मुमूर्षु की अवस्था में देनी चाहिये, क्योंकि यह दीक्षा दीप्ततम मंत्र से सम्पन्न होने के कारण अतीतादि तीनों प्रकार के पाशों को नष्ट कर देती है। इस दीक्षा की निष्पत्ति के साथ ही शुद्धि होती है और देहपात होने पर परम पद प्राप्त हो जाता है।

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तुं व्याधिना परिपीडितम्।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेन परतत्त्वे नियोजयेत्॥[4]

अर्थात्, शिष्य को जराग्रस्त और व्याधिग्रस्त देखकर गुरु उसका शरीर से उत्क्रमण कराकर परतत्त्व में नियुक्त करे।

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० २७८।
२. वहीं पर उद्धृत।
३. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० २७९ पर उद्धृत।
४. वहीं पर उद्धृत।

७. सबीजदीक्षा :—

यह दीक्षा विद्वान् और कष्टसहिष्णु शिष्यों के लिये है। जो लोग इस दीक्षा को प्राप्त करते हैं, उन्हें शास्त्रनिर्दिष्ट समयाचार का अच्छी तरह पालन करना पड़ता है। वैसा न करने से उन्हें कुछ काल के लिये अपनी शिवमयी सत्ता से भ्रष्ट होकर विपद्ग्रस्त होना पड़ता है।

मुमुक्षु की सबीज और निर्बीज दोनों प्रकार की दीक्षाओं का प्रयोजन मोक्ष है। उनमें आचार्य की दीक्षा सबीज होती है, मुमुक्षु की साधक दीक्षा भी सबीज होती है। सबीजदीक्षा होने पर ही अभिषेक हो सकता है। विद्वान् तथा कष्टसहिष्णु लोगों को सबीजदीक्षा देकर आचार्य तथा साधक पद पर अभिषिक्त करना पड़ा है। आचार्य मुमुक्षु है, साधक भोगार्थी है। केवल सबीजदीक्षा ही परमेश्वर के साथ योजन कराने वाली है। अतएव साधक का भी, अर्थात् भोगाकांक्षा रहने पर भी पहले शिव अर्थात् परमेश्वर के निष्कल रूप में योजन होता है, उसके बाद भोग-सिद्धि के लिये सदाशिव अर्थात् परमेश्वर के सकल रूप में योजन होता है। शिव-धर्मिणीदीक्षा में साधक का साधकत्व में अभिषेक होता है। यह अभिषेक विद्यादीक्षा के बाद ही होता है। शिवधर्मी साधक की जो सदाशिवपद-योजनात्मिक दीक्षा होती है, उसी का नाम विद्यादीक्षा है। (बत्तीस वर्णों वाला) सकल मंत्र ही विद्या है और उससे दी हुई दीक्षा ही विद्यादीक्षा कहलाती है।[1] यद्यपि सकल मंत्र से परम पद की प्राप्ति हो सकती है, तथापि वासना-भेद के कारण उसे "विद्यादीक्षा" कहा जाता है। सदाशिव पर्यन्त अणिमादि भोगदीक्षा ही "मूतिदीक्षा" है। यह शान्ति पर्यन्त पद में योजन के अनन्तर होती है। अवश्य ही गुरुकृपा से यह शिव-योजनात्मिका भी हो सकती है।

अभिषेक पाँच कलशों से किया जाता है। ये पाँच कलश क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पश्चिम, पूर्व और ईशान कोण में स्थापित किये जाते हैं। निवृत्यादि तीन कलाओं का क्रमशः पहले तीन कलशों में न्यास के पश्चात् शान्त्यतीत कला का न्यास ईशान कोण के कलश में करके, अन्त में पूर्व दिशा के कलश में शान्तिकला का न्यास किया जाता है। शान्त्यतीत कला में पश्चात् शान्तिकला में न्यास करने का तात्पर्य यह है कि साधक शिवदशा में विश्रान्ति पूर्वक निर्विघ्नभाव से सदाशिव दशा की सिद्धियों को प्राप्त कर सके और भोगों के आस्वाद तृप्त होकर अन्त में शिवत्व-लाभ कर सके।[2]

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० २७९।
२. वही, पृ० २८०।

जिसे गुरु से आगमों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ है, जो कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्तियों में संयमशील है तथा जो सदाचार-सम्पन्न है और सम्यक् विधि से शास्त्रविधि का अनुष्ठान करता है, ऐसा मनुष्य ही आचार्यपद पर अभिषिक्त होने योग्य है।[1]

८. क्रियादीक्षा :—

दीक्षा, क्रिया और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। क्रिया दीक्षा ६ अध्वाओं के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की है—कलादीक्षा, तत्त्वदीक्षा, पददीक्षा, वर्ण, मंत्र और भुवनदीक्षा। तत्त्वदीक्षा साधारणतया चार प्रकार की है—

(१) षट्त्रिंशतत्त्वदीक्षा (२) नवतत्त्वदीक्षा (३) पंचतत्त्वदीक्षा (४) त्रितत्त्व-दीक्षा।

इसके अतिरिक्त एकतत्त्वदीक्षा भी है। ३६ तत्त्वों को नवतत्त्वों में परिणत कर सकने से नवतत्त्वदीक्षा से भी ३६ तत्त्वों की शुद्धि हो जाती है। नवतत्त्व इस प्रकार है—प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव। इसी प्रकार ३६ तत्त्वों को ५ अथवा ३ तत्त्वों में परिणत कर लेने पर पञ्च-तत्त्व अथवा त्रितत्त्वदीक्षा की प्रक्रिया समझनी चाहिये। "एकतत्त्वदीक्षा" में ३६ तत्त्वों की समष्टि रूप से एकतत्त्व-रूप में ग्रहण किया जाता है। उसके शोधन से सब तत्त्वों का शोधन हो जाता है। पद-दीक्षा की प्रणाली नवतत्त्वदीक्षा के समान है और वर्ण, मंत्र तथा भुवन दीक्षाओं की प्रणाली कलादीक्षा के समान है। अतएव अध्वा के वैचित्र्य से क्रियादीक्षा ११ प्रकार की होती है—कलादीक्षा, तत्त्वदीक्षा ४, पद, मंत्र, वर्ण, भुवन ४, साधारणदीक्षा तथा एकतत्त्वदीक्षा १।[2]

ज्ञानदीक्षा एक और अभिन्न ही होती है। सब मिलाकर मौलिकदीक्षा-भेद १२ प्रकार का है, परन्तु शिष्य के अधिकार की दृष्टि से इन १२ दीक्षाओं का विचार करने पर यहाँ ७४ प्रकार का दीक्षा-भेद प्रतीत होता है। प्रत्येक दीक्षा सबीज, निर्बीज और सद्योनिर्वाण-दायिनी इस तरह तीन प्रकार की होने के कारण सब दीक्षाएँ १२×३=३६ प्रकार की हुई। आचार्य-दीक्षाएँ केवल सबीज होने के कारण १२ ही है। शिवधर्मी और लोकधर्मी साधक की दीक्षा दोनों मिलाकर १२+१२=२४ हुई। समयीदीक्षा के अन्तर्गत ज्ञान द्वारा हृदयग्रन्थिप्रभृतियों का भेदन होने पर एक और क्रिया द्वारा ग्रन्थि-भेदन होने पर एक इस तरह दो दीक्षायें हुई। इस प्रकार कुल दीक्षाएँ ३६+१२+२४+२=७४ हुई। ९ तत्त्व से

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० २८०।

२. वही, पृ० २८२-२८३।

५ तत्त्व, ५ से ३ तत्त्व, ३ से १ तत्त्व की दीक्षा उच्च कोटि की है।

एकतत्त्वविधिश्चैष सुप्रबुद्धं गुरुं प्रति।
शिष्यगतभोगकाङ्क्षमुदितः शम्भुना यतः ॥[1]

कलादीक्षा का विज्ञान-पाशक्षपण और शिवत्त्व-योजन :—

अध्वाओं के मूल में कला का प्राधान्य है और शिष्याधिकार के प्रकार-भेद की दृष्टि से पुत्रक का प्राधान्य है। वागीश्वरी के गर्भ से जन्म लेने के कारण जिसके संसार का उपशम हो गया है, उसको तांत्रिक परिभाषा में "पुत्रक" कहा जाता है। शुद्धविद्या का नाम वागीश्वरी है। उसके नीचे पृथिवी से कलापर्यन्त माया का अधिकार है, जो संसार=मण्डल है। पुत्रक का जन्म-व्यापार २१ अवान्तर संस्कारों के द्वारा सम्पन्न होता है। उसके पश्चात् अधिकार, भोग, लय, निष्कृति और विश्लेष—ये पाँच संस्कार और भी किए जाते हैं। इन ६ संस्कारों के द्वारा मंत्रों के प्रभाव से पशु के पाशों का विनाश किया जाता है। यही पाश-क्षपण है। पाश-क्षपण के अतिरिक्त दीक्षा के द्वितीय अंग का नाम शिवत्त्व योजन है। इसके लिये १३ पदार्थों का ज्ञान आवश्यव है, जिसके लिये सद्गुरु की अपेक्षा होती है। १. चार प्रमाण, २. प्राण संचार, ३. छः अध्वाओं का विभाग, ४. हंसोच्चार, ५. वर्णोच्चार, ६. वर्णों द्वारा कारणों का त्याग, ७. शून्य, ८. साम-रस्य, ९. त्याग, संयोग तथा उद्भव, १०. पदार्थ-भेदन, ११. आत्मव्याप्ति, १२. विद्याव्याप्ति, १३. शिवव्याप्ति।[2]

दीक्षित होने वाले की योग्यता :—

पिता का मंत्र यदि बीजमंत्र से रहित हो और कुलीन कुलपण्डितों द्वारा ज्येष्ठ पुत्र को वह मंत्र दिया जाय, तो शैव तथा शाक्त मत में कोई दोष नहीं माना जाता। यदि कुलीन और इन्द्रिय-दमन करने वाले शिष्य को कुलेश्वर महामंत्र की दीक्षा दी जाय, तो वह शिष्य सार तत्त्व को वस्तुतः प्राप्त कर लेता है। शत्रुपक्ष में उत्पन्न सामान्य शत्रु को, मातामह को, पिता को, वनवासी यती को, आश्रम में न रहने वाले, कुसंसर्ग में रहने वाले, अपने कुल का त्याग करने वाले शिष्यों को छोड़कर, दीक्षा-विधान का कार्य सम्पन्न करना चाहिये। कोई भी यदि दुष्कुल से सिद्ध मंत्र ग्रहण कर सके तो उत्तम है। यदि विविध भावयुक्त रूप को धारण कर दीक्षा ग्रहण कर ली जाय, तो अष्ट ऐश्वर्य की प्राप्ति हो सकती है।

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० २८३ पर उद्धृत।
२. वही, भाग १, पृ० २८४।

दीक्षा दाता की योग्यता :—

पति, पत्नी को दीक्षा न दे। न पिता अपनी पुत्री को दीक्षित करे और न ही पुत्र को। भाई, अपने भाई को भी दीक्षा न दे। किन्तु यदि पति को मंत्रसिद्धि हो, तो पत्नी को दीक्षित कर सकता है।

स्वप्न में गुरुशिष्य के वैशिष्ट्य का कोई नियम नहीं है। स्वप्न में उपलब्ध स्त्री द्वारा दी गयी दीक्षा संस्कार से शुद्ध हो जाती है, किन्तु यदि कोई स्त्री व्यवहारिक स्थिति में साध्वी, सदाचारिणी, गुरुभक्ता, जितेन्द्रिया, सभी मंत्रों के अर्थतत्त्व को समझने वाली, सुशीला, पूजा में रत, सभी लक्षणों से समन्वित, जप करने वाली, कमलनेत्र वाली, रत्नाभूषणों से सुशोभित, लोकों की शोभा, शान्ता, कुलीना, सबकी वृद्धि चाहने वाली, अनन्त गुणों से सम्पन्न, रुद्र की प्रिया, गुरु स्वरूपा, मुक्तिदात्री, शिवज्ञान का निरूपण करने वाली, वैधव्यभाव से रहित हो, तो वह गुरुयोग्य हो सकती है। स्त्री द्वारा दी गयी दीक्षा शुभ तथा आठ गुणों से युक्त होती है। पुत्रवाली, विधवा स्त्री का ग्रहण गुरुरूप में किया जा सकता है। यदि विधवा के पास सिद्धमंत्र है, तो उसका ग्रहण कर लेना चाहिये। यदि कोई सधवा, सती, स्त्री अपनी प्रवृत्ति से मंत्र देती है, तो उसे अष्टगुण की प्राप्ति होती है।

जब कोई माता अपने पुत्र को अपना मंत्र प्रदान करती है, तो वह पुत्र आठ सिद्धियों को प्राप्त करता है। माता के द्वारा दिया गया मंत्र अन्यत्र दुर्लभ होता है। प्रारम्भ में भोग और उसके बाद मोक्ष को प्राप्त करके कालस्वरूप साधक सहस्र कोटि विद्या के अर्थ को जानने वाला होता है। स्वप्न में जब माता मन्त्र से शुद्ध हुये सुत को पुनः दीक्षा देती है, तब वह पुत्र भी मन्त्राभिषिक्त दानदात्री-स्थिति में हो, साधक शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त करता है। अपने ही मन्त्र के उपदेश से गुरुचिन्तन नहीं करना चाहिये। गुरु-मुख होना आत्यावश्यक है। महाविद्या की साधिका काली कल्पतरु की लता के समान है। गुरु-मुख व्यक्तियों को गुरु की चिन्ता नहीं करनी चाहिये, उन्हें महाकाली का ही ध्यान करना चाहिए।

यदि कोई उत्तम साधकमन्त्र को ग्रहण कर साधनारत होता है, तो उसे अनन्तकोटिक पुण्य द्विगुणभाव से प्राप्त होता है। दीक्षा में चक्र का विचार करके जो व्यक्ति मन्त्र का ग्रहण करता है, वह सैकड़ों जन्मों तक वैकुण्ठ पद में निवास करता है।

—: • :—

न्यास-रहस्य

साधना के क्षेत्र में शोधन और शुद्धीकरण का विशेष महत्त्व है। शुद्धीकरण भी दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यन्तर शुद्धीकरण के लिये नाना प्रकार की यौगिक क्रियायें विहित हैं जिनमें नेति, धौति, दन्ती, नौलि तथा नाड़ीक्षालन मुख्य हैं। बाह्य शुद्धीकरण भी दो प्रकार का है—प्रथम तो स्थानादि के द्वारा शरीर को स्वच्छ करना तथा दूसरे मन्त्रों के द्वारा शरीर के विभिन्न अङ्गों को पवित्र करना। जब मन्त्रों का उच्चारण करते हुये शरीर के अङ्गों का स्पर्श किया जाता है, तो इसे ही न्यास कहते हैं।

न्यासपूर्वक वित्त अर्जित करने वाले के द्वारा शरीर के विभिन्न अवयवों में देवी का आवाहन तथा हर प्रकार से रक्षा करने वाला "न्यास" संज्ञा को प्राप्त करता है—

न्यायोपार्जितवित्तानामङ्गेषु विनिवेशनात्।
सर्वरक्षाकराद्देवि ! न्यास इत्यभिधीयते ॥[1]

यहाँ पर हम कतिपय महत्त्वपूर्ण न्यासों की चर्चा करना चाह रहे हैं जिनमें ऋषिन्यास, श्रीकण्ठन्यास, पञ्चमूर्तिन्यास, कलान्यास, पञ्चमन्त्रन्यास, पीठन्यास, कराङ्गन्यास तथा मृत्युञ्जय ऋषिन्यास प्रमुख हैं जिनका क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।

१. ऋषिन्यास :—

ऋषिन्यास में मन्त्र के द्वारा शिर, मुख, हृदय, गुह्य तथा सर्वाङ्ग का स्पर्श किये जाने का विधान है।[2]

(१) इह रुद्र शक्तिः महा विष्णुऋषये नमः—हाथ से सिर का स्पर्श।
(२) हङ्क्तिश्छन्दसे नमः—मुख का स्पर्श।
(३) महारुद्राणी लाकिनी महाविद्यात्रिशक्तिदेवतायै नमः—हृदय।
(४) ॐ निजबीजाय ते नमः—गुह्य स्थान।
(५) सकलायैव वज्राय कीलकाय नमः—सर्वाङ्ग।

अङ्गन्यास के बाद करन्यास का विधान शास्त्र में निर्दिष्ट है। इसके बाद अङ्गुलिव्यापकन्यास, हृदादिन्यास, रुद्रशक्तिमहापोढान्यास, मन्त्रन्यास,

---

१. कुलार्णवतन्त्र, १७/५६।
२. रुद्रयामल उ० त०, ४८/१०९-११२।

व्यापकन्यास तथा तालत्रय, दिग्बन्ध तथा प्राणायाम को सम्पन्न करके रुद्रशक्ति का ध्यान करना चाहिये।[1]

२. श्रीकण्ठन्यास

पूर्ण तथा दिव्य प्राणायाम सम्पन्न करके श्रीकण्ठन्यास का विधान करना चाहिये। इसके बाद ही पीठन्यास तथा ऋषि आदि न्यास करना चाहिये। श्रीकण्ठ न्यास के ऋषि वामदेव हैं, छन्द पङ्क्ति है, देवता सदाशिव हैं। इस न्यास में सर्वप्रथम अङ्गुलिन्यास करना चाहिये—

हां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
हीं तर्जनीभ्यां नमः।
हूँ मध्यमाभ्यां नमः।
हैं अनामिकाभ्यां नमः।
हौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः।
हः करतलपृष्ठाभ्यां नमः।

३. पञ्चमूर्तिन्यास

शरीर के पाँच अङ्गों (शिर, मुख, हृदय, गुह्य तथा पाद) में शिव के पाँच स्वरूप (ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात) की धारणा "पञ्चमूर्ति-न्यास" है। दो अङ्गुलि को परस्पर मिलाकर उक्त अङ्गों का मन्त्र[2] के द्वारा स्पर्श करना चाहिये—

१. हां ईशानाय नमः—शिर।
२. हीं तत्पुरुषाय नमः—मुख।
३. हूँ अघोराय नमः— हृदय।
४. हैं वामदेवाय नमः—गुह्य स्थान।
५. हौं सद्योजाताय नमः—पाद।

४. कलान्यास

परम शिव जो पञ्च स्वरूप में कल्पित किये गये हैं उनकी अनेकानेक कलायें हैं। इनमें ईशान की पाँच, तत्पुरुष की चार, अघोर की आठ, वामदेव की तेरह यथा सद्योजात की आठ कलायें मानी गई हैं। इन कलाओं का स्मरण "कलान्यास" है। अब ईशानादि की सभी कलाओं के मन्त्र[3] यहाँ दिये जा रहें हैं—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/११३-११५।
२. वही, ४८/१३६-१३८।
३. वही।

१. ईशान की कला

१. ईशानः सर्वविद्यानां ॐ शशिन्यै कलायै नमः ।

२. ईश्वरः सर्वभूतानां ॐ अङ्गदायै नमः ।

३. ब्रह्माधिपतिः सर्वभूतानां ॐ नमोब्राह्मणे स्वधायै नमः ।

४. शिरो मेऽस्तु सर्वभूतानां नमोवीर्यै कलायै नमः ।

५. सदाशिवः सर्वभूतानां ॐ अंशुमालिन्यै कलायै नमः ।

इस प्रकार ईशान की शशिनी, अङ्गदा, स्वधा, काला तथा अंशुमालिनी आदि पांच कलायें हैं । न्यास का क्रम पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा उर्ध्व होना चाहिये ।

२. तत्पुरुष की चार कलायें मानी गई हैं । इन शक्तियों के नाम हैं—

शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निचुती । इनके न्यास की विधि इस प्रकार है—

१. ॐ तत्पुरुषाय विद्महे ॐ शान्त्यै कलायै नमः ।

२. महादेवाय धीमहि ॐ विद्यायै कलायै नमः ।

३. तन्नो रुद्रः ॐ प्रतिष्ठायै ॐ कलायै नमः प्रचोदयात् ।

४. ॐ निचुत्यै कलायै नमः ।

३. अघोर की कला—अघोर की आठ कलायें हैं जिनके निम्नलिखित नाम हैं—

अघोरा, क्षमा, अघोरतरा, निद्रा, वायवी, काला, क्षुधा तथा कृष्णा । मन्त्रों के उच्चारण के साथ शरीर के विभिन्न अवयवों—हृदय, ग्रीवा, दो स्कन्ध, नाभि, कुक्षि, पीठ तथा वक्षस्थल पर स्पर्श किया जाता है । मन्त्र इस प्रकार हैं[1]—

१. अघोरायै क्षमायै कलायै अघोरतराभ्यः नमः ।

२. ॐ निद्रायै कलायै नमः ।

३. सर्वतः सर्व ॐ वायव्यै कलायै नमः ।

४. सर्वेभ्यः ॐ मृत्यवे कलायै नमः ।

५. नमस्तेऽस्तु ॐ क्षुधायै कलायै रुद्ररूपाभ्यः नमः ।

६. ॐ कृष्णायै कलायै नमः ।

४. वामदेव की कला—वामदेव की तेरह कलायें हैं । इस न्यास में गुह्य स्थान अण्डकोष मध्य, ऊरु युग्म, जानुद्वय, जाङ्घ्युगल, चूतड़द्वय, कटि तथा पार्श्वयुगल, को मन्त्र का उच्चारण करते हुये स्पर्श करना चाहिये ।[2] मन्त्र इस प्रकार हैं—

१. ॐ वामदेवाय नमः ।

२. ॐ वज्रायै नमः ॐ कलायै नमः ॐ अष्टायै नमः ।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/१४९-१५४ ।

२. वही, ४८/१५५-१५७ ।

३. ॐ रक्षायै नमः ॐ कालायै नमः ।

४. ॐ रुद्राय नमः ॐ रत्यै कलायै नमः ।

५. ॐ कालाय नमः ॐ पालिन्यै कलायै नमः ।

६. कल ॐ मायायै कलायै नमः ।

७. विकरणाय नमः ॐ संयमिन्यै कलायै नमः ।

८. बल ॐ क्रोधायै कलायै नमः ।

९. ॐ विकरणाय नमः ॐ बुद्धकलायै नमः ।

१०. बल ॐ स्थिरायै कलायै नमः प्रमथाय नमः ॐ रात्रै कलायै नमः ।

११. ॐ सर्वभूतदमनाय नमः ॐ भ्रामिण्यै कलायै नमः ।

१२. ॐ मोहिन्यै कलायै नमः ॐ उन्मनाय नमः ।

१३. ॐ जरायै कलायै नमः ।

५. सद्योजात :—सद्योजात की आठ कलायें स्वीकार की गयी हैं सभी पापों की निवृत्ति के लिए आठ स्थानों (दोनों पार्श्व, दोनों स्तन, नासिका, मस्तक, दो भुजा) में न्यास करना चाहिये। यह न्यास मणिपूरचक्र के भेदन में उपयोगी होता है। मंत्र इस प्रकार हैं—

१. { ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि ।
ॐ बुध्यै कलायै नमः ।

२. { अथ सद्योजाताय नमः ।
ॐ बुद्ध्यै कलायै नमः ।

३. भाव ॐ सत्यै कलायै नमः ।

४. अथ भावलक्ष्म्यै कलायै नमः ।

५. अनादि भाव ॐ मेधायै कलायै नमः ।

६. भजस्व मां ॐ प्रज्ञायै कलायै नमः ।

७. अथ भवप्रमायै कलायै नमः ।

८. उद्भवाय नमः ॐ सुधायै नमः कलायै नमः ।

५. पञ्चमन्त्र-न्यास

निम्नलिखित पाँच ऋचाओं का उच्चारण करते हुये सर्वप्रथम अङ्गुली-न्यास करना चाहिये[1]—

१. ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिः ब्रह्मोऽधिपतिः शिवो मेऽस्तु सदाशिवोम् ।

२. ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्र प्रचोदयात् ।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/१७७-१८८ ।

३. ऊँ अघोरेभ्यो घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः सर्वसर्वेभ्यो नमोऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः।

४. ऊँ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः बलविकरणाय नमः २ बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमोनमः उन्मनाय नमः।

५. ऊँ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः।
भवे भवे अनादिभवे भजस्व मां भवोद्भवाय नमः।

इसके बाद उन्हीं ऋचाओं द्वारा शिर, हृदय, गुह्य स्थान तथा दोनों पैर का (अङ्ग) न्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् दूसरा अङ्गन्यास करना चाहिये। इस समय निम्नलिखित मंत्र से क्रमशः हृदय, शिर, शिखा, वाम तथा दक्षिण स्कन्ध, दोनों नेत्र तथा ललाटमध्य का स्पर्श करें तथा अन्त में मंत्र-उच्चारण के बाद दाहिने हाथ को शिर के ऊपर बाईं ओर से पीछे की ओर करते हुये दाहिनी ओर से आगे की ओर ले आकर दाहिनी तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियों से बायें हाथ की हथेली पर ताली बजाना चाहिये। मंत्र इस प्रकार है[1]—

१. शं कं वं उं ठं इं रं ठः सर्वज्ञाय हृदयाय नमः।
२. अमृते तेजोज्वालामानिने तृप्ताय ब्रह्मणः शिरसे स्वाहा।
३. जनितशिखिशिखायानादिबोधाय शिखायै वषट्।
४. वज्रियो वज्रहस्ताय स्वतन्त्राय कवचाय हुँ।
५. शों चों हों लुप्तशक्तये नेत्रत्रयाय वौषट्।
६. शं इं पशु हुँ अनन्तशत्रु मे अस्त्राय फट्।

इसके बाद मणिपूरचक्र में परमात्मा का ध्यान करना चाहिये—

मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजवावर्णैर्मुखैः पञ्चभिः।
त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्॥
शूलं टङ्ककृपाणवज्रदहनान्नागेन्द्रघण्टाङ्कुशान्।
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥[2]

इस प्रकार ध्यान करने के बाद मानसोपचार पूजन करके मंत्र द्वारा शोधित अर्घ्य-स्थापन करना चाहिये। इसके बाद शैवोक्तपीठमंत्र के द्वारा पीठ-पूजा सम्पन्न करनी चाहिये।[3] मंत्र इस प्रकार हैं—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/१८९-१९९।
२. वही, ५८/२००।
३. वही, ४८/२०१-२०२।

"ॐ नमो भगवते सकलगुणात्मशक्तियुक्ताय अनन्ताय योगपीठात्मने नमः।"[१]

इसके बाद आवाहनमुद्रा द्वारा आवाहन करके पञ्च-पुष्पाञ्जलि से शिवावरण-अर्चन करना चाहिये। इस समय शिव के पाँच स्वरूपों की पूजा दिक्-अनुसार मंत्र द्वारा[२] करनी चाहिये—

ईशान में—ॐ ईशानाय नमः।

पूर्व में—ॐ तत्पुरुषाय नमः।

दक्षिण में—ॐ अघोराय नमः।

उत्तर में—ॐ वामदेवाय नमः।

पश्चिम में—ॐ सद्योजाताय नमः।

अष्टाङ्गयोग की सिद्धि के लिये मणिपूरचक्र की महापूजा विधिपूर्वक सम्पन्न की जानी चाहिये। इसके पश्चात् गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि के द्वारा शिव के विभिन्न स्वरूप की अर्चना करनी चाहिये[3]—

ॐ देवदेवेशाय नमः।

ॐ अनन्तेशाय नमः।

ॐ शाम्भवे त्रिलिङ्गकाय नमः। (स्वयम्भू, बाण, इतर)

ॐ शिवोत्तमेशाय नमः।

ॐ एकनेत्रेशाय नमः।

ॐ एकरुद्रेशाय नमः।

ॐ त्रिमूर्तीशाय नमः।

ॐ श्रीकण्ठेशाय नमः।

ॐ शिखण्डिने नमः।

इसके बाद बाह्य पत्रिका के अग्रभागों पर आवाहित आठ दिशाओं के अधिष्ठातृ देवता उमा आदि की पूजा का विधान है[४]—

ॐ उमादेव्यै नमः।

ॐ चण्डेश्वराय नमः।

ॐ नन्दिनाय नमः।

ॐ महाकालाय नमः।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/२५३-२५४।

२. वही, ४८/२०५-२०७।

३. वही, ४८/२११-२१४।

४. वही, ४८/२१३-२१७।

ॐ गणेशाय नमः।

ॐ वृषभाय नमः।

ॐ भृङ्गरीटस्कन्दपुत्राभ्यां नमः।

तत्पश्चात् इन्द्र, लोकपाल, वज्रादि की पूजा धूप, दीप, नैवेद्यादि के द्वारा सम्पन्न करते हुये सहस्रार में रुद्र की स्थापना करनी चाहिये तथा अन्त में विसर्जन करना चाहिये। इसके बाद योगी को भक्तिपूर्वक मानस जाप, होम, अर्चन तथा तर्पण करना चाहिये। पीठमंत्र का पाँच लक्ष जप करना एक पुरश्चरण कहलाता है। पूजा तथा जप के समय साधक के द्वारा हाथ से चुने गये मधुमय पुष्पों से या मानस द्रव्यों से कार्य सम्पन्न करना चाहिये। जप-संख्या का दशांश अभिषेक तथा दशांश का विप्रभोजन करना चाहिये।[1] पूजा के आदि, मध्य तथा अन्त में साधक को चाहिये कि वह पाप से मुक्ति पाने के लिये निम्नलिखित स्तोत्र[2] का पाठ करें—

नमः परम कल्याण ! नमस्ते विश्वभावन !
नमस्ते पार्वतीनाथ ! उमानाथ ! नमोस्तु ते।
विश्वात्मने विचिन्त्याय गुणाय निर्गुणाय च
धर्म्माय ज्ञानमोक्षाय नमस्ते सर्वयोगिने।
नमस्ते कालरूपाय त्रैलोक्यरक्षणाय च
त्रैलोक्यघातकायैव चण्डेशाय नमोस्तु ते।
सद्योजाताय देवाय नमस्ते शूलधारिणे
कालान्ताय च कान्ताय चैतन्याय नमोनमः।
कुलात्मकाय कौलाय चन्द्रशेखर ! ते नमः।
उमाकान्त ! नमस्तुभ्यं योगीन्द्राय नमोनमः।
सर्वाय सर्वपूज्याय ध्यानस्थाय गुणात्मने
पार्वतीप्राणनाथाय नमस्ते परमात्मने।

इस स्तोत्र का पाठ करके जो परमेश्वर की स्तुति करता है, वह मणिपूर-चक्र का भेदन करने में सफल होता है। इस स्तोत्र के पाठ से भगवान् शङ्कर प्रसन्न होकर खेचरत्व-पद प्रदान करते हैं।[3]

६. पीठ-न्यास

अनाहत पद्म (हृदयस्थ) में कल्पवृक्ष की कल्पना की जाती है। वहाँ पर

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/२१७-२२२।

२. वही, ४८/२२५-२३१।

३. वही, ४८/२३१-२३३।

मणिवेदिका पर स्थित रत्न का सिंहासन है जिसका मंत्र के द्वारा[1] न्यास करना चाहिये—

१. ऊँ आधारशक्तये नमः।

२. ऊँ प्रकृतये नमः।

३. ऊँ कूर्माय नमः।

४. ऊँ अनन्ताय नमः।

५. ऊँ पृथिव्यै नमः।

६. ऊँ क्षीरसागराय नमः।

७. ऊँ श्वेतद्वीपाय नमः।

८. ऊँ मणिमण्डपाय नमः।

इसके बाद क्रमशः दक्षिण और वाम स्कन्ध, वाम जङ्घा, दक्षिण जङ्घा, मुख, वाम पार्श्व, नाभि, दक्षिण पार्श्व (आठ अवयवों) का इस प्रकार न्यास[2] करना चाहिये—

ऊँ धर्माय नमः।

ऊँ ज्ञानाय नमः।

ऊँ वैराग्याय नमः।

ऊँ ऐश्वराय नमः।

ऊँ अधर्माय नमः।

ऊँ अज्ञानाय नमः।

ऊँ अवैराग्याय नमः।

ऊँ अनैश्वर्याय नमः।

तत्पश्चात् अनाहत पद्म में पुनः न्यास करने का विधान है[3]—

ऊँ अं सूर्य्यमण्डलाय नमः।

ऊँ उं सोममण्डलाय नमः।

ऊँ मं वह्निमण्डलाय नमः।

ऊँ सं सत्त्वाय नमः।

ऊँ तं तमसाय नमः।

ऊँ आं आत्मने नमः।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/२३९-२४१।

२. वही, ४८/२४२-२४५।

३. वही, ४८/२४६-२४९।

ॐ अं अन्तरात्मने नमः।

ॐ पं परमात्मने मायाज्ञानात्मने नमः।

इसके बाद निम्नलिखित मंत्र से शक्तियों का न्यास[1] करना चाहिये—

ॐ वामायै नमः। ॐ ज्येष्ठायै नमः। ॐ रौद्र्यै नमः। ॐ कलकाल्यै नमः। ॐ बलविकरण्यै नमः। ॐ बलप्रमथिन्यै नमः। ॐ सर्वभूतदमन्यै नमः। ॐ मनोन्मन्यै नमः।

तत्पश्चात् अन्त में महामंत्र (पीठमंत्र) से न्यास[2] करने का विधान है—

ॐ नमो भगवते सकलगुणात्मशक्ति-युक्ताय अनन्ताय योगपीठात्मने नमः।

७. मृत्युञ्जय ऋषिन्यास

मृत्युञ्जय—पूजा-विधि में मृत्युञ्जय ऋषि न्यास करने का विधान बताया गया है। शिर, मुख, तथा हृदय का स्पर्श निम्नलिखित विधि से करना चाहिये—[3]

शिरसि-कहोडऋषये नमः। महाविष्णुऋषये नमः।
मुखे-देवी गायत्रीच्छन्दसे नमः।
हृदि मृत्युञ्जयाय देवतायै नमः।

८. कराङ्गन्यास

मृत्युञ्जय की पूजा में अपेक्षित कराङ्गन्यास को विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये—[4]

सां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। (दोनों हाथों की तर्जनी से दोनों हाथों के अंगूठों को)

सीं तर्जनीभ्यां नमः। (दोनों अंगूठों से दोनों तर्जनी को)

सूं मध्यमाभ्यां नमः। (दोनों अगूठों से दोनों मध्यमा को)

सैं अनामिकाभ्यां नमः (अंगूठों से अनामिका को)

सौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। (अंगूठों से कनिष्ठा को)

सः करतलपृष्ठाभ्यां नमः। (परस्पर हथेलियों और पृष्ठभागों को)

—:०:—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/२५१-२५३।
२. वही, ४८/२५३-२५५।
३. वही, ४८/२५६-२५८।
४. वही, ४८/२६०-२६२।

अष्टम पुष्प

चक्र-रहस्य

प्रथम पटल

चक्र : व्युत्पत्ति और स्वरूप

क्रियते अनेन, कृ-घञ् अर्थे क से "चक्र" शब्द सम्बद्ध है।[1] "चक्र" शब्द का शाब्दिक अर्थ वृत्त या मण्डल, दल, गोल, अस्त्र, क्षितिज आदि है। साधना जगत् में जब चक्र शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो वह उपासना के आलम्बन रूप में ग्रहण होता है। इस शब्द का प्रयोग सहायक, व्युत्पत्तिक तथा प्रतीकात्मक अर्थों में भी किया जाता है। भाग्य के चक्र के समान बौद्ध भी जीवन-मृत्यु के चक्र पर चर्चा करते हैं। बुद्ध का सर्वप्रथम उपदेश सिद्धान्त "धम्मचक्कपवत्तन सुत्त" (धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ पर जिस "चक्र" शब्द पर विवेचन अभीष्ट है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के अन्दर के वायवीय पर्तों में स्थित भँवर सदृश चक्रों से हैं।[2] सूक्ष्मसाधना के क्षेत्र में साधकों ने अपनी साधना का विषय शरीर के उन अवयवों को बनाया है जो स्थूल दृष्टि से नहीं देखे जा सकते। यह अदृश्य अवयव साधना के लिये अति महत्त्वपूर्ण है। इन्हीं अवयवों में से होकर वायवीय शक्तियाँ प्रवाहित होती रहती हैं, जो शरीर को जीवित रखती हैं। दिव्य द्रष्टा को ही यह सूक्ष्म विषय दिखाई पड़ता है। शरीर के एक संस्थान से दूसरे संस्थान तक विद्युत्-प्रवाहित करने वाले सन्धिस्थलों के रूप में चक्र हैं। थोड़ी सी भी दिव्य दृष्टि रखने वाले व्यक्ति इन चक्रों को देख सकता है। शरीर में अविकसित स्थिति में ये चक्र २ इन्च के व्यास में अवस्थित होते हैं। जब ये जागृत किये जाते हैं, तब इनका आकार बढ़ जाता है और ये लघु सूर्यों के समान प्रतीत होते हैं। हरिणपदी पुष्प की भँवरदार पंखुड़ियों के समान चक्रों के स्वरूप को जाना जा सकता है।[3] प्रत्येक चक्र में कोई-न-कोई दिव्य शक्ति अवश्य रहती है। प्रत्येक शक्ति दूसरे चक्रों में भी अपना प्रभाव स्थापित किये रहती है। चक्रों की अवस्थिति प्रत्येक शरीर में होती है, किन्तु जिस शरीर के चक्र विकसित नहीं है, उस शरीर में वे निष्क्रिय बने रहते हैं। विकसित होने पर वे नई चेतना तथा शक्ति देने वाले होते हैं। इसके द्वारा मनुष्य में असाधारण सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य

---

१. आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ३६६।

२. द चक्राज, पृ० १।

३. वही, पृ० ४।

में चक्रों का आकार तथा चमक भिन्न-भिन्न है। एक ही मनुष्य के शरीर में यह सम्भव है कि कुछ चक्र विकसित हों और कुछ अविकसित। चक्रों को अधः, मध्यम तथा उच्च—तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है जिन्हें शारीरिक, वैयक्तिक तथा आध्यात्मिक कहा जा सकता है।[1] शारीरिक या अघो वर्ग में मूलाधार तथा स्वाधिष्ठान को रखा जाता है। मध्यम वर्ग में मणिपूर, अनाहत तथा विशुद्ध चक्र की गणना की जाती है। ये चक्र शरीर में शक्ति प्रदान करते हैं। आध्यात्मिक वर्ग में आज्ञा तथा सहस्रार की गणना की जाती है।[2]

ये चक्र एक प्रकार के प्रतीकात्मक यन्त्र हैं जिनका एक-एक करके या समूह में ध्यान किया जाता है। ये मनुष्य में यद्यपि सूक्ष्म संयत्र रूप है, तथापि ये मनुष्य में उच्च स्तरीय आत्मिक क्षमता प्रदान करते हैं।[3]

शरीर में तथा ब्रह्माण्ड में, जीव तथा शिव में कोई भेद नहीं है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। बाह्य जगत् में नाना रूपों में व्यक्त तत्त्व और सत्त्व गुण का आधान चित्त, जो अनुभूति केन्द्र के रूप में है, वही व्यक्ति के शरीर में षट्चक्र के रूप में विद्यमान है।[4]

— : ० :—

१. द चक्राज, पृ० ९।
२. वही, पृ० १०।
३. तन्त्रआफ कुण्डलिनीयोग, पृ० १।
४. तन्त्रविज्ञान, पृ० १०८।

द्वितीय पटल

चक्र-प्रकार

साधना जगत् में मूलाधार आदि षट्चक्रों का महत्त्व प्रसिद्ध है। इन चक्रों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के इष्ट देवों, शक्तियों तथा प्रयोजनों की दृष्टि से तन्त्र-साहित्य में अनेक प्रकार के चक्रों का वर्णन किया गया है। इन चक्रों के विषय में विवेच्य ग्रन्थ के द्वितीय पटल में[1] श्री भैरव जिज्ञासा करते हैं, जिसका समाधान आनन्द भैरवी करती हैं। यहाँ पर जिन चक्रों का नाम निर्देश हुआ है, वे इस प्रकार हैं—

अकडमचक्र, कुलाकुलचक्र, ताराचक्र, राशिचक्र, कूर्मचक्र, शिवचक्र, विष्णुचक्र, ब्रह्मचक्र, ऋणधनिचक्र, उल्काचक्र, वामाचक्र, चतुष्चक्र, सूक्ष्मचक्र, चक्रराजचक्र, सर्वचक्र, हरचक्र, कोष्ठचक्र, नामादिचक्र, भूतचक्र, ऋक्षचक्र, श्री विद्याचक्र, षोडशसारचक्र, बालाचक्र, अकथहचक्र आदि।

ग्यारहवें पटल के अन्त में उक्त चक्रो में कुछ की पुनरावृत्ति तथा कुछ नये चक्रों के नाम की गणना की गयी है—आज्ञाचक्र, कामचक्र, फलचक्र, प्रश्नचक्र, भूमिचक्र, स्वर्गचक्र, तुलाचक्र, षट्चक्र, सारचक्र. मृत्युचक्र, अनुलोम-विलोम षट् आदि। उक्त ३८ चक्रों में केवल २० चक्रों (मूलाधार आदि को छोड़कर) का सविस्तार वर्णन ग्रन्थ में किया गया है। दीक्षाचक्र में इन सब चक्रों का उपयोग होता है। इन चक्रों के सामान्य फल की चर्चा भी यहाँ की गयी है। "चक्रराज" की साधना से सर्वगामित्व-सिद्धि प्राप्त होती है। सर्वचक्र से स्वर (प्राण वायु से सम्बद्ध) और प्रश्नादि-विचार का ज्ञान होता है।[2] गोपाल देवता की आराधना में वैष्णवों की तारा-शुद्धि, शैव की कोष्ठ-शुद्धि तथा त्रैपुर की राशि-शुद्धि के लिये अकडमचक्र उपयोगी है। वामन और गणेश देवता की आराधना में हरचक्र और अकडमचक्र दोनों ही उपयोगी हैं। वराह के लिये कोष्ठचक्र, महालक्ष्मी के लिये कुलाकुल नामादिचक्र, प्राणी सामान्य के लिये भूतचक्र का उपयोग होता है। ताराचक्र में त्रैपुर, अकडम में शैव, और वैष्णव को शुद्ध मन्त्र का जाप करना चाहिये। कालिका और तारा देवी के लिये हरचक्र, चण्डिका के लिये कोष्टचक्र तथा गोपाल की आराधना में ऋक्षचक्र का प्रयोग होता है। ऋण की प्रधानता के कारण हर चक्र में सभी मन्त्रों का प्रयोग होता है। हरचक्र में यदि ऋण की अधिकता स्पष्ट हो तो शुभ मानना चाहिये। यहाँ धन की अधिकता के परिगणन का कोई विधान नहीं है। चक्रों की गणना के बाद दोषों का परिष्कार करके मन्त्र ग्रहण

---

१. रुद्रयामल उ० त, २, १२५, १३०।

२. वही, ११, ७५।

करना चाहिये। यह गणना पिता या माता द्वारा किये गये नामकरण और उपाधियों का परित्याग करके गुरु द्वारा दीक्षा के बाद दिये गये नाम के अनुसार की जानी चाहिये। विधि पूर्वक जाप करने वाले तथा भावना करने वाले की शुद्धि ही सिद्धि पूरक होती है। भक्त को किसी भी मन्त्र की सिद्धि होती है किन्तु कुलीन और ध्यान-मार्ग प्रकृत को महाविद्या तथा महामन्त्र की सिद्धि होती है। बाला भैरवी और कुमारी ललिता देवी के कुरुकुल्वादिसाधन में श्रीचक्र फलप्रद होता है। प्रत्यङ्गिरा साधन तथा उल्का विद्या के साधन में शिवचक्र महापुण्यदायक होता है। योगिनीसाधन में ताराचक्र और उन्मत्त भैरवी-साधन में नाना रत्नों तथा कोटि फलों का दाता राशिचक्र शुभ होता है। कालिका, चर्विका के मन्त्र में, विमला साधन में, सम्पत्प्रदा तथा भैरवी के मन्त्र-ग्रहण कार्य में विष्णुचक्र कोटि शत पुण्य वाला होता है। छिन्ना, श्रीविद्या, कृत्या, नक्षत्र विद्या, कामाख्या और ब्रह्माणी के साधन में ब्रह्मचक्र महत्पुण्य वाला होता है। बज्र ज्वाला, महाविद्या साधन, उनके मन्त्र-जाप, गुह्य काली-साधना और कुब्जिका मन्त्र-साधना में वाक्य सिद्धि को प्रदान करने वाला "देवचक्र" शुभ होता है। कामेश्वरी और अट्टहासा के मन्त्र-साधन कार्य में तथा राकिणी और मन्दिरा देवी के मन्दिरा मन्त्र-साधन में ऋणधनि महाचक्र सिद्धिदायक होता है। श्रीविद्या, भुवनेशानी, भैरवी, पृथिवी, कुलावती, वीणा और वामिनी के मन्त्र-साधन में उल्काचक्र राजत्व फल देने वाला होता है। शिवाद्रि नामिका मन्त्र में बालाचक्र और फेत्कारी तथा उड्डीयानेश्वरी मन्त्र-जप में चतुश्चक्र महाफलदायक होता है। द्राविणी, दीर्घ जङ्घा, ज्वालामुखी, नारसिंही-साधन में सूक्ष्मचक्र फलदायक होता है। हारिणी-महिनी-कन्या-योनि-साधन और वैष्णव शैव तथा देवी मन्त्र-साधन में अकथहचक्र शुभ होता है। इस प्रकार यत्नपूर्वक विचार करके महामन्त्र को ग्रहण करने वाला साक्षात् शिव हो जाता है। कोटि संख्या मन्त्र-जप से जो पुण्य होता है, वही पुण्य विधि पूर्वक मन्त्र-ग्रहण में होता है।[1]

—:०:—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २/१३१-१६१।

तृतीय पटल

चक्र रचना

इस अध्याय में मूलाधार आदि षट्चक्रों की रचना और उनकी उच्च स्तरीय साधना को छोड़कर शेष चक्र सामान्य के स्वरूप और फल पर हम चर्चा करेंगे। अगले अध्याय में स्वतन्त्र रूप से षट्चक्रों की साधना पर प्रकाश डाला जायेगा। यहाँ पर वक्ष्यमाण चक्र बाह्य भाग से सम्बद्ध है किन्तु षट्चक्र पूर्णतया अन्तर्भाग से सम्बद्ध होने से उनका पृथक् वर्णन करना ही समीचीन प्रतीत हो रहा है।

(१) अकडमचक्र :—

इन नाना प्रकार के चक्रों की रचना का उद्देश्य मात्र इतना है कि गुरु शिष्य को उसके लिये अनुकूल शुभ और सिद्धिप्रद मन्त्र की दीक्षा दे। इन चक्रों से शुभाशुभ मन्त्रों का विचार किया जाता है, किन्तु कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनका शोधन नहीं किया जाता, क्योंकि ये स्वयं सिद्ध है। सप्तम पुष्प के चतुर्थ पटल में दीक्षारहस्य के प्रकरण में सविस्तार इसकी चर्चा की गयी है। विद्वान् को सर्वप्रथम अकडमचक्र में मन्त्र-सिद्धि का विचार करना चाहिये।[1]

इस चक्र में मन्त्र लेने वाले के आदि वर्ण से ग्राह्य मंत्र के आदि वर्ण तक कोष्ठकों की गणना की जाती है। यह गणना कहीं-कहीं दक्षिणावर्त तथा कहीं-कहीं वामावर्त से करने का विधान है। "तन्त्रसार" में यह क्रम दक्षिणावर्त्त[2] तथा यहां पर वामावर्त है।[3] वाममार्ग और दक्षिणमार्ग के साधकों के लिये अलग-अलग विधान है। नाम से मन्त्र तक (दोनों के आदि वर्ण के कोष्ठक) की गणना सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि क्रम में ही करनी चाहिये, अर्थात् १,५ और ९ की संख्या सिद्ध, २, ६ और १० की संख्या साध्य, ३, ७ और ११ की संख्या सुसिद्ध तथा ४, ८ और १२ की संख्या अरि है। इस गणना-क्रम में ४, ८ और १२

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३/१७ २३।
२. हिन्दी तन्त्रसार, पृ० १२।
३. रुद्रयामल उ० त०, ३/२०।

(अरि संज्ञा) के अतिरिक्त सभी शुभ और अनुकूल हैं।[1] वाराहीतन्त्र के अनुसार अकडम चक्र का विचार शैव के लिये है।[2]

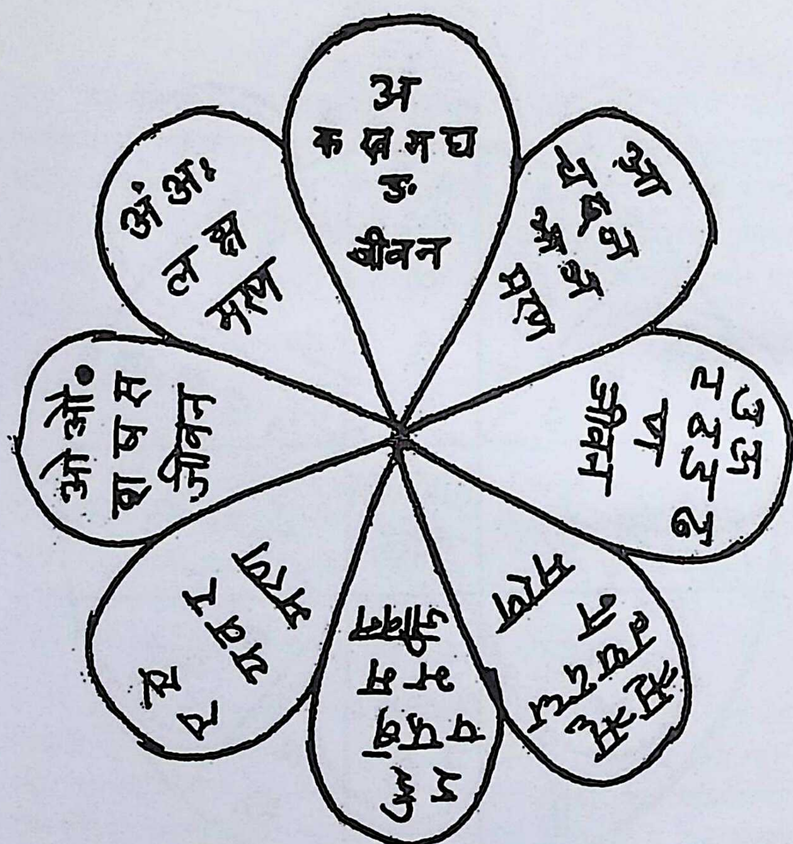
इस चक्र की रचना इस प्रकार है—

१. रुद्रयामल उ० त०, ३/२२, २३।

२. हिन्दी तन्त्रसार, पृ० १२।

(२) महाचक्र :—

पद्माकार यह चक्र आठ दलों का है। इस चक्र में राज्य-सुख, धन, विद्या, यौवन, आयु, पुत्र और जीवन की प्राप्ति से की दृष्टि से विचार किया जाता है। उक्त चक्र की रचना इस प्रकार है—[1]



मन्त्र लेने वाले साधक के नाम तथा मन्त्र के प्रथम वर्ण की गणना कोष्ठक से की जाती है। यह गणना जीवन और मरण (१, २) का क्रम में की जानी चाहिये। तात्पर्य यह है कि संख्या १, ३, ५, ७, जीवन और २, ४, ६, ८, मरण मानना चाहिये। जीवन वाले कोष्ठक में नाम और मन्त्र के आदि वर्ण यदि मिल जायें तो शुभ या अनुकूल मन्त्र मानना चाहिये। जीवन को ग्राह्य और मरण को त्याज्य समझना चाहिये।[2]

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३/२४-२७।

२. वही, ३/२९-३१।

३. कुलाकुलचक्र :—

मन्त्र स्वकुल (अनुकूल) है अथवा अकुल (प्रतिकूल)—यह ज्ञान कराने के लिये ही कुलाकुलचक्र का विचार किया जाता है। इस चक्र में मातृकाओं के अधिष्ठातृ तत्त्व—वायु, अग्नि, भू (पृथिवी), जल और आकाश है, जिनमें परस्पर शत्रु-मित्र-भाव का विचार किया जाता है। इस चक्र के अनुसार यदि साधक के नाम का प्रथम अक्षर तथा मन्त्र का पहला अक्षर एकभूत हो अर्थात् दोनों एक ही कोष्ठक में हो तो वह मन्त्र स्वकुल होता है[1] अन्यथा अकुलचक्र की रचना इस प्रकार है—[2]

वायु	अग्नि	भू	जल	आकाश
अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	ऌ ॡ
ए	ऐ	ओ	औ	अं
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	क्ष	ळ	स	ह

वर्णों की शत्रुता और मित्रता इस प्रकार जाननी चाहिये। जल और

१. रुद्रयामल उ० त०, ३/३४।
२. वही, ३/३२-३३।

आकाश वर्ण, वायु और अग्नि वर्ण, जल और भू-वर्ण परस्पर मित्र हैं। भू-वर्ण और जल-वर्ण के शत्रु वायु-वर्ण है। अग्नि-वर्ण के शत्रु भू-वर्ण हैं।[१] आकाश-वर्ण सभी वर्णों के मित्र हैं।

४. ताराचक्र, या नक्षत्रचक्र :—

इस चक्र में अश्विनी से रेवती तक २७ नक्षत्र क्रमशः लिखे रहते हैं। प्रत्येक चक्र के विभिन्न वर्ण हैं। नक्षत्र वाले कोष्ठक देव, मनुष्य और राक्षस से भी युक्त है। ये कोष्ठक भी देव, मनुष्य तथा राक्षस के कारण मित्र तथा शत्रु भाव से युक्त हैं। चक्र रचना इस प्रकार है—[२]

अश्विनी अ आ देव	भरणी इ मनुष्य	कृत्तिका ई उ ऊ राक्षस	रोहिणी ऋ ॠ ऌ ॡ मनुष्य	मृगशि- रा ए देव	आर्द्रा ऐ मनुष्य	पुनर्वसु ओ औ देव	पुष्य क देव	अश्ले- षा ख ग राक्षस
मघा घ ङ राक्षस	पू० फा- ल्गुनी च मनुष्य	उ० फा- ल्गुनी छ ज मनुष्य	हस्ता झ ञ देव	चित्रा ट ठ राक्षस	स्वाती ड देव	विशाखा ढ ण राक्षस	अनु- राधा त थ द देव	ज्ये- ष्ठा ध राक्षस
मूल न प फ राक्षस	पूर्वा- षाढ़ा ब मनुष्य	उत्तरा- षाढ़ा भ मनुष्य	श्रवणा म देव	धनि- ष्ठा य र राक्षस	शत- भिषा ल राक्षस	पू० भाद्र व श मनुष्य	उ०- भाद्र० ष स ह मनुष्य	रेवती ळ क्ष अं अः देव

तारा चक्र

मन्त्र की अनुकूलता का विचार इस प्रकार करना चाहिये। मन्त्र लेने वाले का जन्म-नक्षत्र और मन्त्र के प्रथम अक्षर का विचार कोष्ठक के माध्यम से करना

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३/३५-३६।

२. वही, ३/३८-५२।

चाहिये। साधक के जन्म-नक्षत्र वाले कोष्ठक तथा मन्त्र के प्रथम अक्षर वाले कोष्ठक यदि समान जातीय (स्वजातीय) हों तो परम प्रीति, किन्तु भिन्न जातीय हों तो मध्यम प्रीति समझनी चाहिये। राक्षस और मनुष्य वाले कोष्ठक-वर्ण से विनाश, राक्षस और देव गण वाले कोष्ठक-वर्ण से शत्रुता होती है। इसलिये मनुष्य-गण के लिये मनुष्य-गण वाले कोष्ठक-वर्ण का मन्त्र श्रेष्ठ होता है। मनुष्य-गण के लिये देव-गण के कोष्ठक के वर्ण वाला मन्त्र भी उत्तम होता है। देव-गण के लिये मनुष्य-गण का मन्त्र मध्यम है और राक्षस-गण का मन्त्र शत्रु है। राक्षस गण के लिये राक्षस-गण की ही मन्त्र श्रेष्ठ है।[1] नाम के नक्षत्र से मन्त्र के नक्षत्र तक गणना करने पर फल इस प्रकार जानना चाहिये—(१) जन्म, (२) सम्पत्; (३) विपत्, (३) क्षेम, (५) प्रत्यरि, (६) साधक, (७) बध, (८) मित्र और (९) परम मित्र।[2] यदि इतनी संख्या के अन्दर मन्त्र का अक्षर ल आये तव पुनः दूसरी और तीसरी बार १ से ९ तक की गणना करके फल तथा अफल जानना चाहिये। १ जन्म, ३ विपत्, ५ प्रत्यरि, और ७ बध में पड़ने वाले मन्त्र त्याज्य है। २ सम्पत्, ४ क्षेम, ६ साधक, ८ मित्र और ९ परम मित्र कल्याण कारक हैं।[3] जिस साधक को अपना जन्म-नक्षत्र न ज्ञात हो उसे अपने नाम के आदि वर्ण के द्वारा अपना नक्षत्र निश्चित करके मन्त्र के आदि वर्ण के नक्षत्र तक गणना करनी चाहिये और शुभाशुभ का निश्चय करके मन्त्र का ग्रहण करना चाहिये। साधक के आदि अक्षर से प्रदक्षिणा क्रम में उक्त गणना करनी चाहिये।

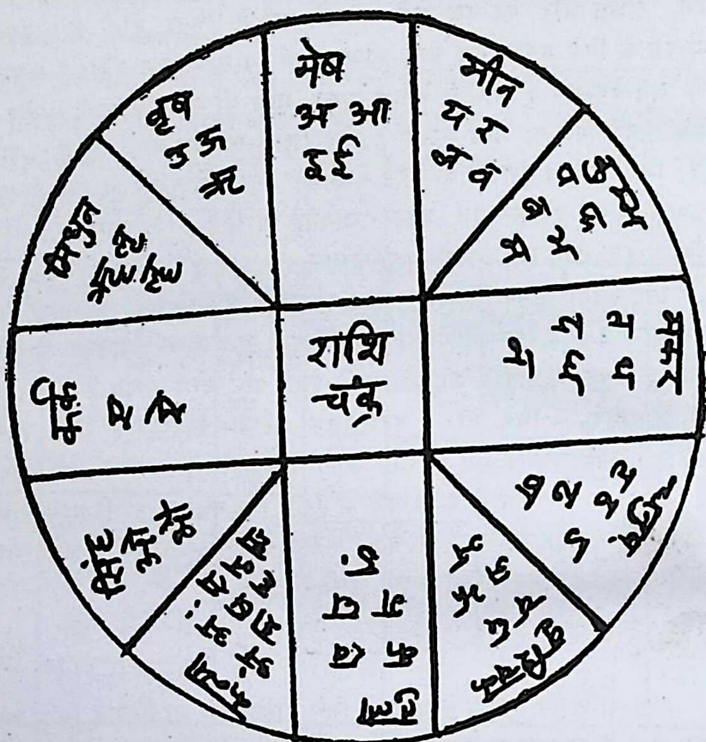
५. राशिचक्र :—

मन्त्र-राशि की शुद्धता के ज्ञान के लिये राशि चक्र का विचार किया जाता है। इस चक्र के अनुसार साधक की जन्म-राशि के वर्णन से साध्य मन्त्र की राशि के वर्ण तक गणना करनी चाहिये। यदि अपनी (साधक की) जन्मराशि ज्ञात न हो तो अपने नाम के आदि अक्षर से अपनी राशि निश्चित करनी चहिये। तत्पश्चात् अपनी राशि से मंत्र की राशि तक गणना करकें शुभाशुभ जानना चाहिये। इस गणना-क्रम में १, ५ और ९ की संख्या वाले को बान्धव, २, ६ और १० को सेवक ३, ७ और ११ को पोषक तथा ४, ८ और १२ को घातक मंत्र समझना चाहिये। बान्धव और पोषक मंत्र कल्याणकारी होते हैं। ६, ८ और १२ कोष्ठक वाले मन्त्र

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३/५३।
२. वही, ३/५४।
३. वही, ३/५५।

का परित्याग कर देना चाहिये।[1] यह रिपु मन्त्र है।[2] चक्र रचना इस प्रकार है—[3]



इन १२ राशियों के लग्न, धन, भ्रातृ, बन्धु, पुत्र, शत्रु, कलत्र, मरण, धर्म, कर्म, आय और व्यय नाम भी हैं, जो अपने नामानुसार शुभा-शुभ फल देती हैं। वैष्णव मत में दीर्घ स्वरों के कोष्ठक बन्धु-भाव वाले माने जाते हैं।

६. कूर्मचक्र :—

जप-पूजा आदि से मन्त्र-सिद्धि के लिये कूर्मचक्र का उपयोग होता है। यह भी शुभा-शुभ फलात्मक है, जिसका विचार करके उत्तम पण्डित सभी शास्त्रों का ज्ञाता हो जाता है। यह चक्र चार पाद से युक्त हैं। कूर्मचक्र के मुण्ड भाग में स्वर, दक्षिण पाद में कवर्ग, वाम पाद में चवर्ग, नीचे के दक्षिण पाद में टवर्ग,

---

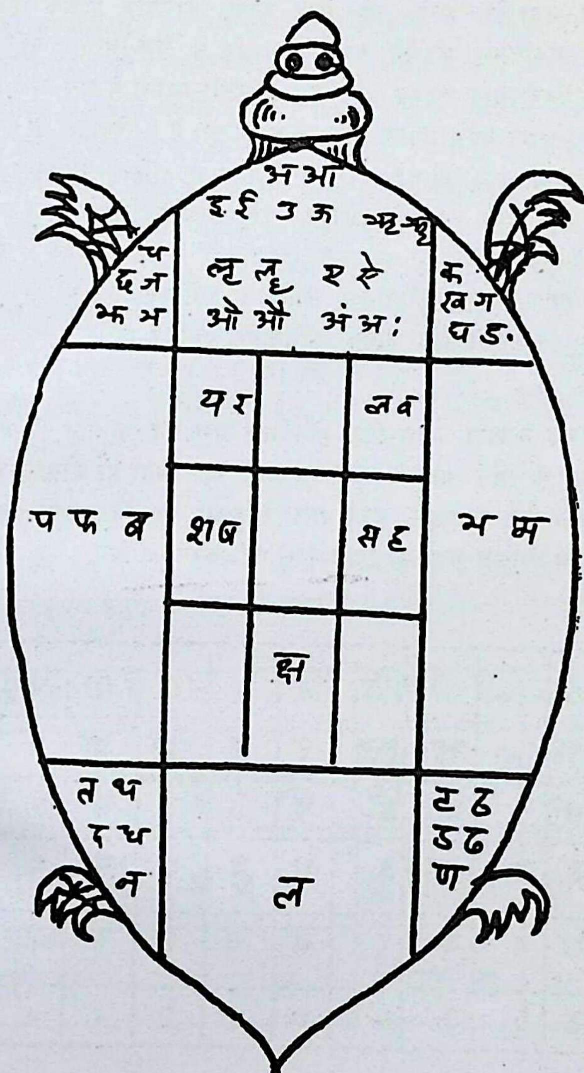
१. रुद्रयामल उ० त०, ३/६५-६७

२. हिन्दी तन्त्रसार, पृ० ९।

३. रुद्रयामल उ० त०, ३/६०-६२।

नीचे के वाम पाद में तवर्ग, उदर में पवर्ग, हृदय में य र ल व, पीठ मध्य में श ष स ह, पूँछ में शक्र बीज ल, लिङ्ग-मध्य में क्षकार है।

कूर्म चक्र की दूसरी रचना इस प्रकार सी है—[1]



यह चक्र कलि के मल को दूर करने वाला है। कूर्मचक्र पूजा के लिये स्थानविशेष का निर्धारण करता है। चक्र की रचना करके फलाफल पर विचार

---

१. हिन्दी तन्त्रसार, पृ० ४२।

करना चाहिये। स्वर स्थान लाभदायक, क वर्ग श्री प्रद, च वर्ग विवेक देने वाला, ट वर्ग राजपद प्रदान करने वाला और त वर्ग धनवान बनाने वाला है। प वर्ग (उदर) सर्वनाशकारी, य, र, ल, व (हृदय), दुःखदायी, पृष्ठ भाग (श, ष, स, ह) सर्वसन्तोषप्रद तथा वैभवदाता, पुच्छ (ल) मरण, वामपाद दुःखरूप होता है। दो विरोधी उपलब्धियों को देने वाले स्थान-वर्ण में चक्र-चिन्तन नहीं करना चाहिये, अर्थात् वह स्थान त्याज्य होता है। विरोधी स्थानों में धर्म-नाश होता है और दोषयुक्त स्थान मरण अवस्था को प्रदान करता है। देवाक्षर के साथ यदि साधक का नाम अक्षर भी हो तो मध्यम मन्त्र समझना चाहिये। बिलकुल विरोधी अक्षर शत्रु-भाव उत्पन्न करते हैं। इसलिये ऐसे मन्त्र को त्याग देना चाहिये। वर्णमाला यदि सुख-स्थान में हो तो उसका त्याग नहीं करना चाहिये। दोषयुक्त गृह में शुभ मन्त्र का ग्रहण नहीं करना चाहिये।[1] कहीं-कहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि मुख-स्थान में पूजा अधिक सिद्धिदायक होती है।[2]

ऋणिधनिचक्र :—

इस चक्र के द्वारा शीघ्र सिद्ध होने वाले मन्त्र की पहचान की जाती है। चक्र के कोष्ठक के दर्शन मात्र से प्राणी पूर्वजन्मों का ज्ञाता हो जाता है। कोष्ठ की शुद्धता तथा मन्त्र को ग्रहण करने वालों के दुःखों का विनाश हो जाता है। सद्गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मन्त्र का त्याग कभी नहीं करना चाहिये। चक्र की रचना इस प्रकार है—[3]

0	6	6	0	3	4	4	0	0	0	3
अआ	इई	उऊ	ऋॠ	लृॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट
ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ
ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स	ह
2	3	5	0	0	0	1	0	4	4	1-

१. रुद्रयामल उ० त०, ३, ७६, ८१।

२. हिन्दी तन्त्रसार, पृ० ४२।

३. रुद्रयामल उ० त०, ४/८२-९०।

इस चक्र में ऊपर वाले अंक साध्य अंक है और नीचे वाले साधक अंक। चक्र अनुसार मन्त्र के स्वर और व्यञ्जन वर्णों को अलग-अलग करके उनमें से प्रत्येक वर्ण के साधक अंकों को परस्पर जोड़ लेना चाहिये और योग को ८ से भाग देना चाहिये। इसी प्रकार साधक के नाम के स्वर और व्यञ्जन वर्णों को पृथक्-पृथक् जान कर उनके (साधक) अंकों को परस्पर जोड़ कर २ से भाग देना चाहिये। अब मन्त्र के शुभाशुभ पर विचार करना चाहिये। साध्य मन्त्र में भाग देने के बाद शेष यदि साधक के शेष से अधिक हो जो मन्त्र ऋणि माना जाता है और यदि साधक-शेष से साध्य शेष कम हो तो मन्त्र धनी माना जाता है। ऋषि मन्त्र को शुभ समझना चाहिये। यदि साधक और साध्य के शेंष बराबर हो तो भी मन्त्र उत्तम माना जाता है किन्तु यदि साधक का शेष (ऋण) अधिक हो तो उस मन्त्र का जाप नहीं करना चाहिये। यदि मन्त्र साध्य का शेष शून्य हो तो मन्त्र को मृत्युकारी समझना चाहिये।

यदि मन्त्र का शेष २ हो तो वैष्णव मत के लिये तथा यदि इन्द्र हो तो सौर और शाक्त-मत के लिये शुभ है। यदि साधक का शेष दिक् हो तो मन्त्र शुभ माना जाता है।[1]

महा अकथहचक्र :—

इस चक्र में १६ कोष्ठक होते हैं और प्रथम में अ क थ ह वर्ण होने से इसे अकथहचक्र कहते हैं। चक्र की रचना इस प्रकार है—[2]

अ क थ ह	उ ङ प	आ ख द	ऊ च फ
ओ ड ब	ऌ झ म	औ द श	ॡ ञ य
ई घ न	ऋ ज भ	इ ग ध	ॠ छ व
अः त स	ऐ ठ ल	अं ण ष	ए ट र क्ष

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४/६१।

२. वही, ५/२-७।

मन्त्र-शोधन :—

उक्त चक्र के अनुसार साधक के नाम के आदि अक्षर से मन्त्र के आदि अक्षर तक दक्षिणावर्त्त से गणना प्रारम्भ करनी चाहिये। कोष्ठचतुष्टय को सिद्ध साध्य, सुसिद्ध और अरि (मन्त्र) नाम से जाना चाहिये। इसी प्रकार प्रत्येक कोष्ठ चतुष्टय में उक्त व्यवस्था होनी चाहिये। सिद्ध मन्त्र यथासमय स्वयं सिद्ध होता है। साध्य मन्त्र जप और होम से सिद्ध होता है। सुसिद्ध मन्त्र के ग्रहण करते ही साधक ज्ञानी हो जाता है और अरि मन्त्र से वंश का नाश होता है।[1] सिद्ध वर्ण को बान्धव, साध्य वर्ण को सेवक, सुसिद्ध वर्ण को पोषक, तथा अरि वर्ण को घातक कहा जाता है। जाप करने से सिद्ध मन्त्र सभी कामनाओं को पूरा करने वाला होता है। सेवक (साध्य) मन्त्र अधिक सेवा (जप होमादि) से सिद्धि प्रदान करता है। पोषक (सुसिद्ध) मन्त्र तुरन्त फल प्रदान करता है। घातक (अरि) मन्त्र निश्चित रूप से विनाशकारी है। अब साधक के नाम और मन्त्र के आदि अक्षर के गणना के बाद सिद्धादि कोष्ठकों का फल समझें। यदि दोनों कोष्ठक सिद्ध हों तो दो गुना सिद्ध साधक होता है, सिद्ध और साध्य हो तो सिद्धि दो गुनी शीघ्रता से मिलती है, सिद्ध, सुसिद्ध होने पर अर्ध-जप से सिद्धि प्राप्त होती है और सिद्ध अरि होने पर बान्धवों का विनाश करने वाला होता है। इसी प्रकार साध्य निरर्थक, साध्य-सुसिद्ध—दो गुना जाप से सिद्धि देने वाला, साध्य-अरि गोत्रज वंश का विनाश करने वाला है। सुसिद्ध-सिद्ध से अर्द्ध जाप के द्वारा सिद्धि की प्राप्ति, सुसिद्ध-साध्य से दो गुने अधिक जाप से सिद्धि-प्राप्ति, सुसिद्ध-सुसिद्ध से तुरन्त सिद्ध की प्राप्ति होती है, किन्तु सुसिद्ध-अरि-गोत्र को मारने वाला होता है। अरि-सिद्ध-पुत्र हन्ता, अरि-साध्य कन्याहन्ता, अरिंसुसिद्धपत्नीहन्ता और अरि अरि गोत्रज का हनन् करने वाला होता है। यदि किसी कारणवश अरि मन्त्र को ग्रहण कर लिया गया है तो उसके परित्याग की विधि भी है। वट वृक्ष के पत्र पर उस अरि मन्त्र को लिख कर स्रोत (सोते) के जल में डाल देना चाहिये।[2] अरि मन्त्र के छोड़ने की और भी विधि है। एक द्रोण गो दुग्ध के ऊपर अरि मन्त्र का १०८ बार जप करके दूध का पान करके पुनः १०८ बार उस अरि मन्त्र का जप करके मन्त्रोच्चारण पूर्वक उद्धार कर उस दूध का जल मध्य में परित्याग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त दूसरी विधि यह है कि तीन रात्रि तथा एक दिन उपवास करके विधिपूर्वक पूजा करके शनिवार के दिन १०८ या १००८ बार जप

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ५/१०-११।

२. वही, ५/१२-१६।

करके अरि मन्त्र को क्षीर सागर के मण्डल में त्याग देना चाहिये अथवा गुरु-स्थान में जाकर विचार करके शुभ मन्त्र का ग्रहण करना चाहिये। यदि स्वप्न में महामन्त्र की प्राप्ति हो जाय तो साधक निश्चित ही सिद्धि को प्राप्त करता है। कौलिक गुरु से जब मन्त्र का ग्रहण किया जाता है तो तत्क्षण सिद्धि मिलती है।[1]

यदि अरि मन्त्र विनाशकारी है तो विष्णु और शिव आदि के अन्य मन्त्रों को ग्रहण करना चाहिये। यदि ग्रहण किया जाने वाला शक्ति मन्त्र भी रिपु मन्त्र हो जाय तो मन्त्र के आदि, मध्य और अन्त में "ॐ वौषट् स्वाहा" जोड़ कर मन्त्र का जप करने से मन्त्र का अनिष्टकारत्व समाप्त हो जाता है और महासिद्धि की प्राप्ति होती है।[2]

शिवचक्र :—

इन चक्रों के अतिरिक्त चक्र-साधना के क्षेत्र में अन्य बहुत से चक्रों का सङ्केत प्रारम्भ में किया जा चुका है। इनमें शिवचक्र, विष्णुचक्र, ब्रह्मचक्र, रामचक्र, कामचक्र की साधना-पद्धतियाँ बहुत ही जटिल हैं। यहाँ हम साधना-पद्धति की जटिलता तथा विस्तार-भय के कारण केवल शिवचक्र की साधना-पद्धति का विवेचन कर रहे हैं।

ग्रन्थ के तृतीय पटल में शिवचक्र की रचना-विधि निर्दिष्ट है।[3] चक्र में वर्णित कोष्ठक में स्थित वर्णों और सङ्ख्याओं से इष्ट मन्त्र के फल और अफल पर विचार करना चाहिये। अपने नाम के अक्षर की संख्या को दूनी करके साध्य मन्त्र की अक्षर संख्या के साथ जोड़ कर ५६ से भाग देना चाहिए। यदि शेष १ आये तो कभी भी मन्त्र का विचार नहीं करना चाहिए।[4] मन्त्र के फलाफल पर विचार की विधि का वर्णन ग्रन्थ में अनेक प्रकार से किया गया है।[5]

शिवचक्र की रचना अगले पृष्ठ पर की गयी है। राजत्व फल की प्राप्ति के लिए इस चक्र की साधना की जाती है।

---

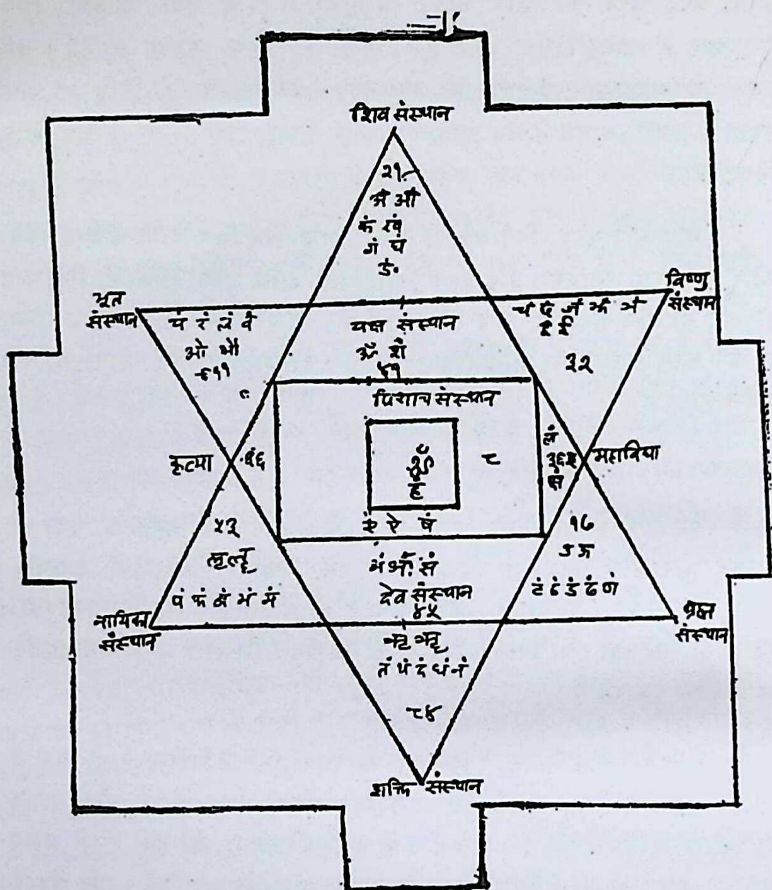
१. रुद्रयामल उ० त०, ५/२०-२६।

२. वही, ५/२७-२६।

३. रुद्रयामल उ० त०, ३/८३/१०१.।

४. वही, ३/१०२/१०४।

५. वही, ३/१०५/१११।



शिव संस्थान
२१
अं आं
कं खं
गं घं
ङं
विष्णु संस्थान
भूत संस्थान
यक्ष संस्थान
ॐ श्रीं
३२
पिशाच संस्थान
कृत्या
महाविद्या
ॐ
ह्
८
४३
१८
देव संस्थान
४५
नायिका संस्थान
ब्रह्म संस्थान
तं थं दं धं नं
८४
शक्ति संस्थान

– : ० :—

चतुर्थ पटल

षट्चक्र-रहस्य

साधना का उत्कृष्ट स्तर अन्तर्याग से सम्बद्ध होता है। यहाँ हम जिन छः चक्रों की रचना, महत्त्व, भेदन तथा फल पर चर्चा करेंगे, वे सब "कुण्डलिनी महायोग" की सर्वोत्कृष्ट साधना-पद्धति से सम्बद्ध होंगे। प्राचीनता की दृष्टि से यह साधना प्रागैतिहासिक काल से चली आ रहीं है। उस समय की प्राप्त मूर्तियों में उत्थित लिङ्ग या लिङ्ग-योनि-संयोग की मुद्रायें कुण्डलिनी-जागरण की पद्धति से सम्बद्ध है।[1]

सम्पूर्ण मानव शरीर में मूल स्थान से रीढ़ की अस्थि में होकर साढ़े तीन कोटि नाड़ियों का अस्तित्व माना जाता है, जिनमें दश नाड़ियाँ प्रमुख हैं— १. पिङ्गला, २. इड़ा, ३. सुषुम्णा, ४. गान्धारी, ५. हस्तिजिह्वा, ६. सुषूणा, ७. अलम्बुषा, ८. यशस्विनी, ९. शङ्खिनी, १० कुहू। इनमें गान्धारी वाम नेत्र, हस्तिजिह्वा दक्षिण नेत्र, यशस्विनी वाम कर्ण, सुषूणा दक्षिण कर्ण, अलम्बुषा मुख, कुहू लिङ्ग देश, शङ्खिनी मूल देश में स्थित हैं तथा शेष नाड़ियाँ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं।[2] शरीर में रीढ़ की हड्डी को "मेरुदण्ड" कहते हैं। मेरुदण्ड के बहिर्स्थान में बाईं ओर चन्द्ररूपा इडा तथा दाहिनी ओर सूर्यरूपा पिङ्गला नाड़ियाँ अवस्थित हैं।[3] इड़ा नाड़ी शुक्ल वर्णवाली शक्तिरूप तथा अमृत शरीर वाली है तथा पिङ्गला अनार के पुष्प की प्रभा के समान द्युतिमान् रक्तिम वर्ण वाली तथा पुरुषरूप है, यह रौद्रात्मिका है।[4] मेरुदण्ड के भीतर गुणत्रितय वाली, चन्द्र, सूर्य और अग्निरूपा सुषुम्णा नाड़ी है। वह चित्रिणी, वज्रा तथा सुषुम्णा का त्रितय रूप है। चित्रिणी, सत्त्वरूपा, वज्रा रजस् रूपा तथा सुषुम्णा तमस् रूपा है। चित्रिणी चन्द्ररूपा, वाज्रिणी सूर्यरूपा और सुषुम्णा अग्निरूपा है। यह सुषुम्णा नाड़ी विकसित धत्तूर पुष्प के तन्तु के समान है तथा "कन्द" स्थान से शिर में सहस्रार तक अवस्थित है। इस सुषुम्णा नाड़ी के मध्य में "वज्रा" नाड़ी है जो मेढ़ (लिङ्ग मूल) से सिर तक व्याप्त है।[5] इस वज्रा नाड़ी के मध्य में प्रणव (ॐ) युक्त, योगाभ्यास से योगियों को ही गम्य, मकड़ी के तन्तु के समान चित्रिणी (चित्रा) नाड़ी है, जो मेरुदण्ड में स्थित षट्चक्रों का भेदन करती हुई प्रकाशमान

---

१. कुण्डलिनी इन टाइम एण्ड स्पेस, पृ० ८१।

२. चक्रकौमुदी, १/१४-१८।

३. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक १।

४. वही, श्लोक १ का विवरण।

५. वही, श्लोक १।

होती है। वह शुद्ध बोधरूप है। इस चित्रिणी नाड़ी के मध्य एक चतुर्थ नाड़ी भी है, जिसका नाम "ब्रह्मनाड़ी" है और जो स्वयम्भूलिङ्ग-गह्वर से निकलकर सहस्रदलपद्म की कर्णिका में स्थित आदि देव परम शिव के समीप तक चली गई है।[1] यह ब्रह्म-नाड़ी विद्युन्माला के समान विलासवाली, मुनियों के चित्त में सुशोभित, तन्तुरूप, अत्यन्त सूक्ष्म, शुद्ध ज्ञानदा, सकल सुखमयी तथा शुद्धबोध स्वरूपा है। इस ब्रह्म-नाड़ी के मुख में ब्रह्मद्वार है, जो सुधा की धारा वाले प्रदेश में जाने का मार्ग है तथा अति रमणीय है। यही पद्मों का ग्रन्थिस्थान है और इसी ब्रह्मद्वार को योगी-जन सुषुम्णा का मुख भी कहते हैं।[2]

यह पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है। इस शरीर में सप्त द्वीपों सहित सुमेरु पर्वत विद्यमान है। सरिता, सागर, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि, मुनि, नक्षत्र, ग्रह, पुण्यतीर्थ, पीठ, पीठदेवता सभी इस पिण्ड में विराजमान हैं। सृष्टि और संहार करने वाले चन्द्र-सूर्य इसी शरीर में हैं। पञ्चमहाभूत भी इसी पिण्ड में हैं।[3] कहीं-कहीं नाड़ियों की कुल संख्या साढ़े तीन लाख कही गई है जिनमें ७२००० मुख्य है, उनमें भी १४ प्रमुख मानी गई हैं—सुषुम्णा, इड़ा, पिङ्गला, गान्धारी, हस्ति-जिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शङ्खिनी, पयस्विनी, वारुणा, अलम्बुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी। इनमें भी इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा प्रमुख हैं।[4]

१. मूलाधारचक्र (Ganglion coccygeal Plexus)

मूलाधार चक्र की अवस्थिति "कन्द" स्थान में बताई जाती है। यह "कन्द" गुदा से २ अङ्गुल ऊपर तथा मेढ़्र (लिङ्गमूल) से १ अङ्गुल नीचे का भाग है। इसका क्षेत्र चार अङ्गुल मान है। गुदा तथा मेढ़्र के मध्य योनि-स्थान ही "कन्द प्रदेश" है। यहीं मूलाधारचक्र है जिसके मध्य कुण्डलिनी की अवस्थिति है।[5]

सुषुम्णा के मुख में संलग्न, लिङ्गमूल के नीचे तथा गुदा के दो अङ्गुल ऊपर रक्तिम आभा वाले चार दलों से युक्त अधोमुखी मूलाधारचक्र है। साधना के द्वारा इसे ऊर्ध्वमुखी किया जाता है। यह स्वर्णाभ वं शं षं स वर्णों से सुशोभित है। इस आधारपद्म की कर्णिका के मध्य एक चतुष्कोणरूप पृथिवी-मण्डल है

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक २।
२. वही, श्लोक ३।
३. शिव संहिता, २/१-४।
४. वही, २/१३-१५।
५. वही, ५/७४-७५।

जिसके आठों कोण आठ शूलों से घिरे हैं। इस धरामण्डल के मध्य में धरा बीज "लँ" सुशोभित है, जो पीतवर्ण वाला, विद्युत् सदृश तथा कोमल अङ्ग वाला है। चार भुजाओं से विभूषित तथा गजेन्द्र पर अधिरूढ़ उस बीज (लं) की गोद (० अनुस्वार) में अभिनवोदित सूर्य के समान प्रकाश वाले, चार भुजाओं से सुशोभित तथा चार वेदरूप मुखकमल के वैभव से युक्त है अथवा जिनके चार अवयवविशेष मुखाम्भोजरूप लक्ष्मी से युक्त हैं। इससे स्पष्ट है कि चतुर्मुख ब्रह्मा "लं" बीज की गोद में विराजमान हैं।[1]

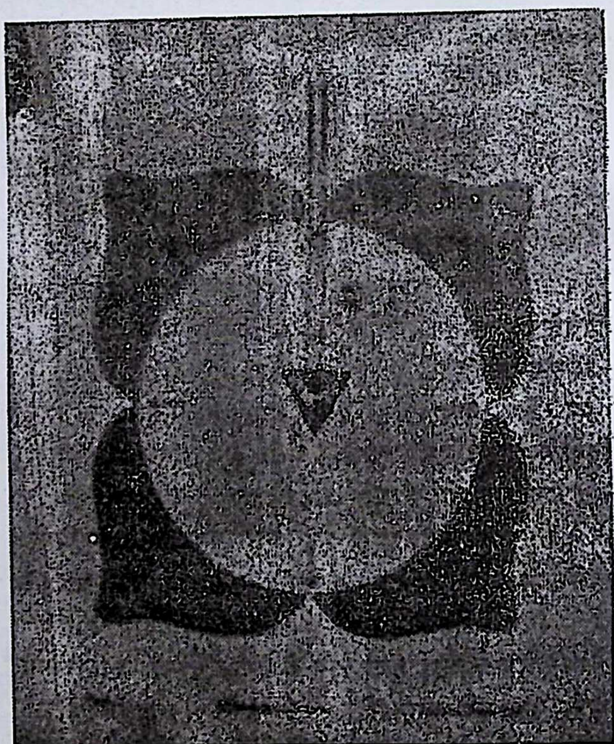
इस मूलाधार चक्र में डाकिनी नाम की शक्ति विराजमान है जो चार भुजाओं से सुशोभित है तथा रक्त नेत्र वाली है। वह प्रलयकाल की द्वादश आदित्यों के समान प्रकाश वाली है। वह शुद्ध बुद्धि अथवा तत्त्वज्ञान के प्रकाश को वहन करने वाली है। यह शक्ति ब्रह्मा को सृष्टिकर्तृत्व की सामर्थ्य प्रदान करती है। मूलाधारचक्र की साधना में डाकिनी देवी का ध्यान करना चाहिए जो रक्तवर्णा हैं, अज्ञानियों को भय प्रदान करने वाली हैं, जिनके दो दाहिने हाथों में शूल और खट्वाङ्ग तथा वामहस्त में खड्ग और सुधा से आपूरित चषक विद्यमान है, वह एक मुखी है, अत्यन्त उग्र दाँतों वाली, अरिकुल का विनाश करने वाली, स्थूल शरीर वाली, पायसान्न (खीर) प्रिय है। देवी डाकिनी का ध्यान अमृतत्व की प्राप्ति के लिए करना चाहिए। वज्रा नाड़ी के मुख भाव में मूलाधार पद्म की कर्णिका के मध्य विद्युत् के समान, कामरूप तथा अतिकोमल त्रैपुर नामक त्रिकोण विलसित है। जिस त्रिकोण के मध्य कन्दर्प नाम की वायु (काम बीज)[2] निरन्तर विराजमान रहती है, जो बन्धुजीव पुष्प से भी अधिक घने रक्तवर्ण वाला, जीवेश स्वरूप तथा करोड़ों सूर्य की प्रभा वाला है। उस त्रिकोण के मध्य में पुरुष लिङ्ग के समान तप्त कनक की आभा के समान कोमल, अधोमुखी, ध्यान और ज्ञान से प्रकाशित होने वाला, सद्यः उत्पन्न किसलयाकार रूप स्वयं भूलिङ्ग विराजमान हैं। यह स्वयंभूलिङ्ग विद्युत् और पूर्णचन्द्रमा के बिम्ब की शीतल-किरणसमूह के समान स्निग्ध रूप हैं अर्थात् मृदुप्रवाह विशिष्ट प्रकाशरूप हैं। वह सरिता के भँवर के समान, विलासयुक्त तथा काशीवास के तुल्य वास वाला है। इस स्वयंभूलिंग के ऊपर मृणालसूत्र के समान सूक्ष्म, जगन्मोहिनी अपने मुख से ब्रह्मद्वार के मुख को आच्छादित करने वाली, शङ्ख के आवर्त्त के समान नवीन, विद्युत्माला के समान विलास वाली, प्रसुप्त सर्पिणी के समान, परमशिव

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक-४-६ तुलनीय, चक्रकौमुदी, १/६-८।
२. शिव संहिता, ५/७६-८०।

के ऊपर साढे तीन आवेष्टन से युक्त हैं। वह प्रमत्त भ्रमरपङ्क्ति के अस्फुट तथा मधुर गुन्जार वाली हैं। वह कुल कुण्डलिनी कोमल-काव्य-रचना की सामर्थ्य प्रदान करने वाली हैं। वह श्वासोच्छ्वास के गमनागमन द्वारा जगत् के सभी प्राणियों में जीवन धारण करती हैं और वह मूलाधार पद्म के गह्वर में प्रकृष्ट तेज की शृंखलारूप है। कुण्डलिनी से आवेष्टित स्वयंभूलिङ्ग के मध्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अतिकुशला, नादशक्तिरूपा, कलारूपा, परारूपा, नित्यप्रबोधरूपा, नित्यानन्द के प्रवाह से प्रवहमान, अमृतधारा को धारण करने वाली श्री परमेश्वरीशक्ति विराजमान है। जिसकी आभा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित है।[१] इस चक्र में द्विरण्ड नामक सिद्ध का निवास है।[२]

यह कुण्डलिनी तम, रजस् तथा सत्त्व की साम्य अवस्था से युक्त प्रकृति



१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ८-१२।
२. शिव संहिता, ५/८४।

हैं। इसे चित्कला कहते हैं। इसके तीनों वलय सत्त्व, रजस् तथा तमस् रूप हैं। शेष अर्द्धांश ब्रह्मपुच्छ या ब्रह्मांशरूप है इसीलिए इसे ईश्वरी भी कहते हैं। यह पचास वर्णों वाली विद्या है। अर्थात् शब्दब्रह्मरूप है। यह प्रकृति-पुरुषरूप होने से हंसरूप हैं।[1] वर्णों में "अ" से लेकर विसर्गपर्यन्त १६ स्वर शक्तिरूप तथा "क" से लेकर "छ" पर्यन्त वर्ण शिवरूप हैं।[2] इसलिए यह सम्पूर्ण वर्णमयी है।

मूलाधारचक्र की कर्णिका में स्थित त्रिकोण में कोटिसूर्य के प्रकाश वाली कुण्डलिनी का ध्यान करने से व्यक्ति वागीश, नरेन्द्र, सर्वविद्याविनोदी, आरोग्य, सदा तथा महानन्द से युक्त चित्त और अन्तरात्मा वाला होता है। वह शुद्धशील वाला व्यक्ति काव्य के प्रबन्धमय वाक्यों के द्वारा सुरगुरु अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, और शिव की सेवा करता है अर्थात् स्तव आदि के द्वारा देवों को प्रसन्न करता है।[3]

मूलाधारपद्म-भेदन :—

मूलाधार पद्म में स्थित स्वयम्भूलिङ्ग में आवेष्टित कुण्डलिनी को जागृत करना ही "मूलाधार पद्म-भेदन" है। अन्य चक्रों का भेदन भी कुण्डलिनी का उन-उन चक्रों में जागृत करना है। मूलाधार पद्म का भेदन करने से जीव अमर हो जाता है। षट्चक्र के भेदन के लिये भेदिनी शक्ति के मन्त्र, सभी ग्रन्थियों के छेदन के लिये छेदिनी शक्ति के मन्त्र तथा उच्चस्तरीय साधना कुण्डलिनी जागरण के लिये योगिनी मन्त्र का जप करना चाहिये। भेदिनी मन्त्र इस प्रकार है—[4]

"ॐ ॐ ॐ ॐ २ ॐ २ ॐ ॐ ॐ ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म सर्वसिद्धिपालिका माँ सत्त्वगुणे रक्ष रक्ष ह्रीं स्वाहा। ॐ भेदिनी मां प्रापय्य प्रापय्य चित्तचञ्चलतां रक्ष रक्ष भेदिनि। मम अकालमरणं हर हर स्वं स्वं महापापं नमो नमः स्वाहा।"

उक्त मन्त्र का जप करने से देवी डाकिनी साधक की रक्षा करती हैं। इसके बाद छेदिनी मन्त्र का जप करना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—[5]

"ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ २ ॐ २ ॐ ॐ ॐ ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म सर्वसिद्धिपालिका मां सत्त्वगुणे रक्ष रक्ष ह्रीं स्वाहा। शाम्भवी ब्राह्मणी मनोनिवेशं कुरु कुरु तारय तारय छेदिनि ! मम मानसमहान्धकारं छेदय छेदय स्वाहा।"

---

१. चक्रकौमुदी, १/२३-३१।
२. वही, १/५८।
३. षट्चक्रनिरूपणम्।
४. रुद्रयामल उ० त०, ३०/४-६
५. वही, ३०/७-१०।

इस मन्त्र का जप करने से साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। इसके बाद श्रीयोगिनी मन्त्र का जप करना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—[1]

"ॐ घोररूपिणी सर्वव्यापिनि ! महायोगिनी पापं मे शोकं रोगं हर विपक्षं छेदय योगं मय्यर्पय अर्पय स्वाहा।"

इस मन्त्र का जप करने से व्यक्ति योगी हो जाता है, खेचरत्व को प्राप्त होता है तथा योगाभ्यास के द्वारा योगिराट् होता है। इसके बाद इस चक्र की अधिष्ठातृ देवी का ध्यान ब्रह्मा के साथ करना चाहिए। इसके लिए ब्रह्ममन्त्र के साथ डाकिनी मन्त्र का जप करना चाहिये—ब्रह्ममन्त्र—"ॐ ॐ ॐ ॐ २ ॐ २ ॐ ॐ ॐ ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्म सर्वसिद्धिपालिका मां सत्त्वगुणे रक्ष रक्ष ह्रीं स्वाहा।"

डाकिनी मन्त्र—"ह्रीं ह्रीं ह्रीं ॐ डाकिनि ! महाडाकिनि ! ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं मम योगसिद्धि साधय साधय।"

उक्त मन्त्रों के जप के बाद डाकिनी-स्तोत्र का पाठ करना चाहिए।[2] इस स्तोत्र का पाठ करने से मन्त्री को योगिनी की सङ्गति होती है, महापातक का नाश होता है और वह योगिराट् की स्थिति को प्राप्त होता है। इसी चक्र की साधना में भेदिनी स्तोत्र,[3] छेदिनी स्तोत्र,[4] योगिनी स्तोत्र[5] कन्दवासिनी ध्यान,[6] कन्दवासिनी स्तव,[7] कन्दवासिनी कवच[8] तथा कुण्डलिनी स्तव[9] और कुण्डलिनी सहस्रनाम[10] का पाठ करने का विधान है।

मूलाधारस्थ कुण्डलिनी-जागरण में भूतशुद्धि का विशेष महत्त्व है। कुण्डलिनी-जागरण के प्रकरण में इसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। संक्षेप में भूतशुद्धि का तात्पर्य यह है कि साधक प्रकृति से उत्पन्न तत्वों का

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ६०/११-१३।
२. वही, ३०/२७-३६।
३. वही, ३१/८-१५।
४. वही, ३१/२४-३२।
५. वही, ३१/३७-४२।
६. वही, ३२/६-१३।
७. वही, ३२/२१-३१।
८. वही, ३३/६-५६।
९. वही, ६/२७-३४।
१०. वही, ३६/६-१९०।

प्रकृति में विलय करे। यथा—पृथिवी को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महत्तत्व में तथा महत्तत्व को प्रकृति में विलय होने की भावना करनी चाहिये। भूतशुद्धि का एक प्रकार और भी है। उत्तम साधक मूलचक्र में स्थित कुण्डलिनी को सुषुम्णा-रन्ध्र के मार्ग से कूर्च बीज (हूँ) के द्वारा जागृत करे। इसके बाद समस्त चक्रों का क्रमशः भेदन करके चित्कला रूप जीवात्मा को "हंस" मन्त्र के द्वारा कुण्डलिनी के साथ सहस्रारस्थ ब्रह्म में संयुक्त करे अर्थात् वहाँ जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता की भावना करे। वह साधक यह भावना करे कि ब्रह्म के शरीर का प्रादुर्भाव हो गया है। इसके बाद जीव को हृदय में तथा कुण्डलिनी को मूलाधार में स्थित करे। कुण्डलिनी का इस प्रकार गमनागमन करने वाला जीवनमुक्त हो जाता है।[1]

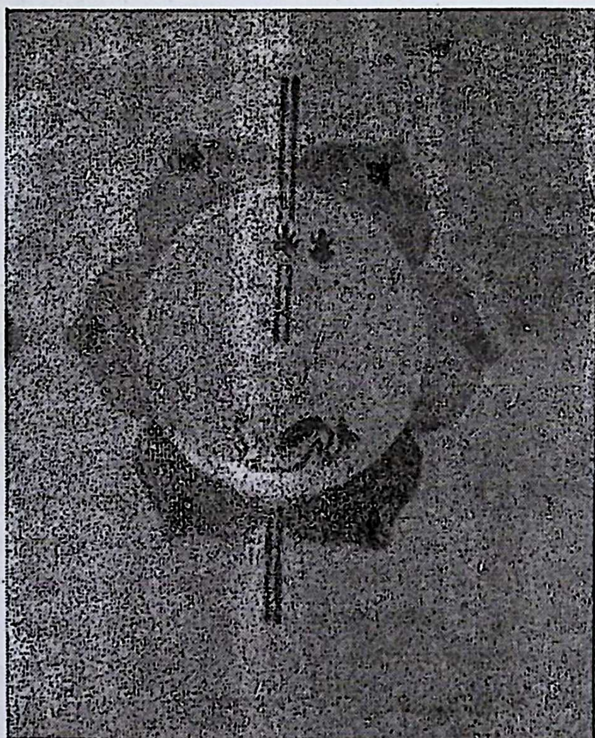
२. स्वाधिष्ठानचक्र (Palvic or Sacral Plexus) :—

साधना-क्रम में यह द्वितीयचक्र है। यह चक्र लिङ्गमूल में स्थित है। यह चक्र रक्तवर्ण का है।[2] इस चक्र में बाण नामक सिद्ध तथा राकिणी नामक अधिष्ठातृ देवी प्रतिष्ठित हैं।[3] यह चक्र सिन्दूर वर्ण के समान सुन्दर तथा सुरुचिपूर्ण है तथा सुषुम्णा के मध्य ध्वज मूल (बाह्य लिङ्गमूल) में स्थित है। इस चक्र में छ दल हैं, जिनमें बं भं मं यं रं लं वर्ण विद्युत् की प्रभा के समान सुशोभित हैं। स्वाधिष्ठानचक्र के अन्दर शुक्लवर्ण रूप, प्रकाशमान अर्द्धचन्द्राकार कमल सदृश वरुण (जल) मण्डल है। जल मण्डल के मध्य मकर नामक वाहन पर वरुण बीज "वं" सुशोभित है[4] जो शरद्कालीन इन्दु के समान शुभ्र तथा कलंकरहित है।[5] 'वं' बीज की क्रोड में अपने प्रथम यौवन के गर्व को धारण करने वाले, नीलमणि के समान प्रकाशमान, पीत वस्त्र धारण करने वाले विष्णु विराजमान हैं, जो कौस्तुभमणि तथा श्रीवत्स धारण किये हुए हैं। यहीं राकिणी शक्ति निवास करती है। वे नील कमल की शोभा वाली हैं। उनका अङ्ग नाना आयुधों से उद्यत हाथों से सुशोभित है। देवी के चार हाथों में शूल, अब्ज, डमरू और टंक सुशोभित हैं। उनके चार हाथ में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म विभूषित हैं। वे दिव्य अम्बर तथा आभूषण से विभूषित हैं तथा अमृतपान से प्रमत्त चित्त वाली हैं।[6]

---

१. चक्र कौमुदी, १/६९-७६।
२. तन्त्र ऑफ कुण्डलिनी योग, पृ० ३।
३. शिव संहिता, ५/९८-९९।
४. चक्र कौमुदी, २/३/४।
५. षट्चक्रनिरूपणम, श्लोक १४, १५।
६. वही, श्लोक १६, १७।

इस निर्मल स्वाधिष्ठानचक्र का जो मनुष्य ध्यान करता है, उसके अहङ्कारादि दोष तत्क्षण क्षीण हो जाते हैं। साधक योगी हो जाता है और वह अद्भुत मोह के अन्धकार के लिये सूर्य के प्रकाश के सदृश हो जाता है। उसके अमृतवाक्यसमूह का वैभव गद्य, पद्य तथा अन्य प्रबन्धों में प्रवाहित होने लगता है।[1] स्वाधिष्ठानचक्र की साधना करने वाले साधक पर काममोहित रमणियाँ



आसक्त होने लगती हैं। साधक को अश्रुत शास्त्र भी निःसन्दिग्ध भाव से गम्य हो जाता है। उसे रोग से मुक्ति मिल जाती है तथा वह संसार में निर्भय होकर भ्रमण करता रहता है।[2] जो मनुष्य इस स्वाधिष्ठानचक्र के क्रम को जानता है, वह धन्य है तथा वह जीवनमुक्त हो जाता है।[3]

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक १८।
२. शिव संहिता, ५/१००-१०१।
३. चक्रकौमुदी, २/२४।

स्वाधिष्ठानचक्र-भेदन :—

इस चक्र के भेदन से साधक चित्त के विकारों से रहित, क्रोधविहीन तथा बलशाली होता है। साधक धर्माधर्म का ज्ञाता, विज्ञ, त्रिकालदर्शी, यज्ञकर्म में परायण, अहङ्कार-विहीन, सङ्गदोषविवर्जित, महात्मा, परब्रह्मज्ञानी, सर्वप्रसिद्ध, स्वतन्त्र, विक्रमी, धन्वी, धनुर्वाणधर, योगमार्गेश, विवेकी, अविद्या की ग्रन्थि से शिथिल, चतुर, विषमज्ञानवर्जित, यज्ञकर्त्ता, शुचि, योगिनीपुत्र तथा योगपति हो जाता है। प्राणायाम का अभ्यस्त साधकयोग में स्थित होकर छ महीने में "योगी" हो जाता है।[1] स्वाधिष्ठानचक्र के भेदन के लिये श्रीकृष्ण का ध्यान आवश्यक है।[2] श्रीकृष्ण-साधन या ध्यान का वर्णन ग्रन्थ में किया गया है।[3]

श्रीकृष्णमन्त्र :—

स्वाधिष्ठानचक्र के भेदन में श्रीकृष्ण-साधन अपरिहार्य है। इसमें श्रीकृष्ण-ध्यान, मन्त्र-जप, श्रीकृष्ण-पूजा, श्रीकृष्ण-स्तोत्र-पाठ आवश्यक है।[4] इसके साथ ही राकिणी का ध्यान तथा स्तोत्र, राकिणी-साधन, राकिणी-मंत्र-जप, सहस्रनाम आदि का पाठ करना चाहिये।[5] श्रीकृष्ण-मन्त्र इस प्रकार हैं—[6]

ॐ क्लीं स्त्रीं क्लीं श्रीकृष्णं श्रीकृष्णं प्रणय प्रणय चन्द्रिकाकाश ब्रह्म ब्रह्म भजामि प्रकृतिपुरुषिकां काकिनीं भूयो भूयो भजामि श्रवणगनयनं नमः स्वाहा।

नरसिंहमन्त्र :—

श्रीकृष्ण-मन्त्र के जप के बाद नरसिंहमन्त्र का जप करना चाहिये। इस मन्त्र के जप से सद्यः ही स्वाधिष्ठानचक्र का भेदन करने में साधक समर्थ होता है। मन्त्र इस प्रकार है—[7]

ॐ क्लीं रों रों रों नरसिंह ! श्रीं श्रीं श्रीं ह्लीं ह्लीं ह्लीं स्वाहा।

इस मन्त्र से जप के साधक शीत-ताप, सुख-दुःख, जय-पराजय, धर्म-अधर्म में समान भाव रखने वाला तथा नित्यज्ञान को प्राप्त करने वाला होता है।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३७/५-११।
२. वही, ३७/३५।
३. वही, ३७/१४-३२।
४. वही, ३८/४-५७, ३९/७-३०।
५. वही, ४०/८-२२, ४१/१८-३५, ४२/२-८, ४२/६-१६-१२६।
६. वही, ३८/४।
७. वही, ३८/१४-१६।

श्रीकृष्ण-मन्त्र का एक और प्रकार भी हैं—"ॐ क्लीं कृष्ण ! ॐ।"[1] इसके बाद श्रीकृष्ण का ध्यान[2], श्रीकृष्ण-पूजा[3], श्रीकृष्ण-स्तोत्र[4], राकिणी-ध्यान, राकिणी-मन्त्र-जप, राकिणी-स्तोत्रं, राकिणी-सहस्रनाम का पाठ करना चाहिए। जिसका संकेत किया जा चुका है। राकिणी-साधन का विशेष विवेचन पञ्चम पुष्प के अन्तर्गत कुण्डलिनी-जागरण के प्रसङ्ग में किया गया है।

३. मणिपूरचक्र (Solar Plexus)

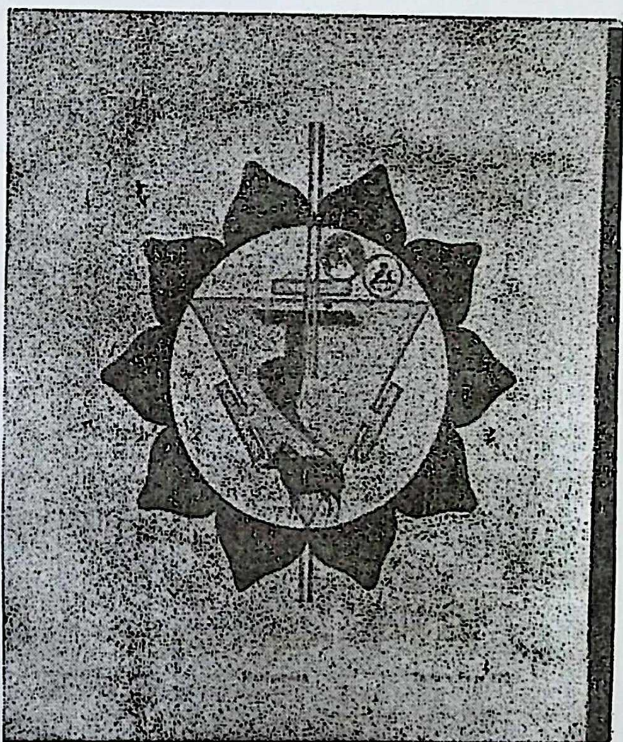
स्वाधिष्ठानचक्र के ऊपर नाभिमूल में दश दलों से प्रकाशित, कृष्णवर्ण वाला या पूर्णमेघ के समान मणिपूरचक्र है। रुद्रयामल में इस पद्म का वर्ण विद्युत् के समान बताया गया है।[5] इसके दश दलों में नील कमल के वर्ण के समान क्रमशः डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं—१० वर्ण विराजमान हैं। इस चक्र के मध्य में अग्नि-मण्डल है जिसके अन्दर नवोदित सूर्य-प्रभा के समान एक त्रिकोण है। इस त्रिकोण के बाहर तीन स्वस्तिक चिह्न है तथा त्रिकोण के अन्दर वह्नि-बीज (रं) विराजमान है।[6] कहीं-कहीं यह निर्दिष्ट है कि दल के वर्णों का रंग स्वर्णिम है। यहाँ पर रुद्र नामक सिद्ध तथा लाकिनी नामक शक्ति विराजमान है।[7] त्रिकोणस्थ 'रं' मेष पर अधिरूढ़ है, नवोदित सूर्य की आभा के समान है तथा चार भुजाओं से बीज सुशोभित है। रं बीज की गोद (०) में सिन्दूरराग वाले रुद्र विराजमान हैं। वे रुद्र त्रिनेत्र हैं, भस्म से अनुलिप्त अङ्ग के कारण श्वेत वर्ण वाले हैं तथा वृद्ध शरीर वाले हैं। वे संसार को अभीष्ट की प्राप्ति कराने वाले हैं, इसलिये वे वरद अभय मुद्राओं वाले हाथ से युक्त हैं। वे सृष्टि का संहार करने वाले हैं।[8] इस प्रकार का ध्यान मणिपूरचक्र में करना चाहिये। यहीं रुद्र के समीप में ही लाकिनी-शक्ति विराजमान हैं, जो सब प्रकार से शुभ करने वाली, श्यामवर्णवाली, प्रज्ज्वलित अङ्गवाली, पीतवस्त्रा तथा विविध अलङ्करणों से अलङ्कृत, प्रमत्त-चित्त वाली तथा चार भुजाओं वाली हैं।[9] इनकी दक्षिण भुजाओं में वज्र तथा

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ३८/२२-२३।
२. वही, ३८/२६-३१।
३. वही, ३८/३४-४६।
४. वही, ३९/७-३०।
५. वही, ४६/३६।
६. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक १९, चक्रकौमुदी, ३/२-३।
७. शिव संहिता, ५/१०४-१०५।
८. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक २०, चक्रकौमुदी, ३/४।
९. वही, श्लोक २१।

शक्ति है तथा वाम हस्त वर और अभय मुद्राओं से सुशोभित हैं। वे देवी तीन मुख तथा तीन नेत्रों वाली हैं, भयंकर दातों वाली हैं तथा उग्र रूपा हैं।[1] वे रक्त-मांस मिश्रित खेचरान्न का भक्षण करने वाली हैं।[2]

इस मणिपूरचक्र का इस प्रकार ध्यान करने पर साधक में संहार तथा पालन की शक्ति आती है और उसके मुख-कमल में ज्ञानराशि के वैभव वाली वाणी निरन्तर निवास करती है।[3] तात्पर्य यह है कि साधक ब्रह्मा, विष्णु और शिव-



तुल्य हो जाता है।[4] इस पद्म का ध्यान करने वाला योगी निरन्तर सुख प्रदान करने वाली पाताल नामक शक्ति को प्राप्त करता है। उसके रोगादि का नाश

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक २१ का विवरण, चक्रकौमुदी, ३/५।
२. वही।
३. वही, श्लोक २१।
४. वही, श्लोक २१ की षट्चक्रभेद टिप्पणी।

तथा अभीष्ट की प्राप्ति होती है। योगी काल का भी उल्लंघन करने वाला, परकाया में प्रवेश करने वाला, स्वर्ण-निर्माण-कला का ज्ञाता, सिद्धों तथा औषधियों का दर्शन करने वाला तथा भूमि में गड़े हुये धन को देखने वाला होता है।[1]

मणिपूरचक्र-भेदन :—

मूलाधार तथा स्वाधिष्ठानचक्र का भेदन करके साधक को मणिपूर पद्म में भावना करनी चाहिये। यह चक्र सुधामय तथा सिद्ध क्षेत्र है। कोटि स्वर्ण-दान, कोटि गो-दान तथा कोटि ब्राह्मण-भोज्य से जो फल मिलता है, वही फल मणिपूर-चक्र के ध्यान से प्राप्त होता है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, ज्ञानियों के लिये भी अगोचर, अप्रकाश्य तथा महागुह्य है। केवल योग के द्वारा इसकी सिद्धि होती है।[2]

सर्वप्रथम जीव को चाहिये कि वह मणिपूर नामक महापीठ में मन का निवेश करे। मनोविज्ञान से साधक अनेक सङ्कट से मुक्त हो जाता है। मन का निवेशन इसलिये आवश्यक है, क्योंकि मन ही योगी, भोगी, भक्त, युवा, मनुष्यों के सम्प्रदाय और मोक्ष का कारण तथा सभी कार्यों का कारण है। इसलिये मन की जागतिक भावों में अवस्थिति का परित्याग करके महाभाव में अवस्थिति करनी चाहिये। यह महाभाव नाना मणियों से विभूषित "मणिपूर" में किया गया मन का ध्यान है। यहाँ पर रुद्ररूपी चैतन्य तथा चैतन्यरूपी शक्ति का ध्यान करना चाहिये। यहीं पर ऊर्ध्वरेतस् ईश्वर का चिन्तन करना चाहिये। यह ध्यान करना चाहिये कि रुद्ररूपा सरस्वती ऊर्ध्वगामी हो रही है। इस प्रकार सम्पूर्ण पद्म को ऊर्ध्वमुखी करना चाहिये। यह पद्म कोटि मणियों से निर्मल है तथा कोटि शरद्कालीन चन्द्र-ज्योत्सना के समान है। यहाँ लोकरक्षिणी लाकिनी तथा रुद्राणी का ध्यान करना चाहिये। इस ध्यान के समय प्राणायाम का भी अभ्यास आवश्यक है। कुम्भक के द्वारा प्राण तथा अपान का मिलन करते रहना चाहिये। चक्र में मन का निवेशन करते हुये रुद्र तथा लाकिनीदेवी की आराधना करनी चाहिये। यह महाभाव तथा साधन ही मुक्ति का मूल है। मणिपूरचक्र के सभी दलों को ऊर्ध्वमुखी (विकसित) करके कुलन्यास, विद्यान्यास, सर्वन्यास तथा निजन्यास का विधान करना चाहिए। चक्र के मूलमन्त्र (रं) का ध्यान करके कुलचक्र के अनुसार अर्घ्य-दान करना चाहिये। इसके बाद चैतन्यरूप कुलदेवता का पञ्चोपचार (पाद्य, अर्घ्य, धूप, दीप, नैवेद्य) पूजन और ध्यान करना चाहिये। तत्पश्चात् १२ प्राणायाम सम्पन्न करके, मणिपूर स्थित देवता का भक्तिपूर्वक

१. शिवसंहिता, ५/१०६-१०८।
२. रुद्रयामल उ० त०, ४४/२४-२७।

ध्यान करके मन्त्र (रुद्राणी मन्त्र) का जप करना चाहिये। जप के बाद विधिपूर्वक पुनः दो प्राणायाम करना चाहिये। इसके बाद लाकिनी और रुद्राणी देवी के स्तोत्र आदि[1] का पाठ करना चाहिये। तब कुण्डलिनी शक्ति को हृदय में परिचालन करना चाहिये।[2] वह कुण्डलिनी सर्वोल्लासकारिणी, खेचरी, महदानन्द से मण्डित, मन्त्रयोगिनीरूपा, अनुग्रह करने वाली तथा परम सिद्धा है। इस भावना के साथ आनन्द-सन्दोहरूप, सुनिर्मल "मणिपूर" की भी भावना करनी चाहिये। इस प्रकार की भावना करने वाला चाहे कौल हो या नारकीय, ज्ञानी हो या उत्तम साधक, यदि मणिपूर में योगाभ्यास करता है तथा मणिपूर स्थित देव की स्तुति करता है, तो निश्चित ही उसकी कुण्डलिनी प्रबुद्ध होती है। कुण्डलिनी के प्रबुद्ध होने पर मन्त्र की सिद्धि होती है। लाकिनी सहस्रनाम के पाठ से मणिपूर में कुण्डलिनी का स्वतः भेदन हो जाता है।[3] लाकिनी स्तोत्र का नित्य १० बार पाठ करने से साधक साक्षात् रुद्र का तथा रुद्राणीसहित शम्भु का दर्शन-लाभ करके योगिनीवल्लभ, योगात्मा, परमात्मा तथा जीवन्मुक्त हो जाता है तथा उज्ज्वल और निर्मल मणिपूर का भेदन करके साधक शम्भु, ईश्वर तथा देवी के सायुज्य को प्राप्त करता है।[4]

मणिपूरचक्र-साधन :—

सर्वप्रथम चक्रस्थ डं से फं पर्यन्त वर्णों का ध्यान करना चाहिये। इसके बाद महापद्म में मन का निवेश करना चाहिये। ऐसा करने से साधक चित्त की स्थिरता तथा दिव्य भक्ति को प्राप्त करता है। धीरे-धीरे वायुपान (प्राणायाम) भी करते रहना चाहिये। जिस वर्ण पर मन की एकाग्रता होती है, मन उस वर्ण वाला हो जाता है।[5] वर्णों के ध्यान के समय प्रत्येक वर्ण पर की गई एकाग्रता के समय देवी का विशेष-विशेष ध्यान करना चाहिये।[6] ध्यानमन्त्र का पाठ करने के बाद पद्म की कर्णिका के मध्य बहुत से हाथों वाली, विशाल नेत्र वाली, चन्द्रमा के समान अवयवों वाली, सुरभित चन्दन के समान अङ्गवाली, फलरूपी हार से विभूषित, दो भुजाओं वाली, कोटि किरणस्वरूपा, सिन्दूर से सुशोभित भाल वाली, तीन नेत्रों वाली, कालरूपा, लयकारिणी कुण्डिलिनी का ध्यान करना

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४७/७-५७, ४८/६-२७४, ५०/३-२७, ५२/५-१३१।
२. वही, ४४/५३-८६।
३. वही, ४५/८-१७।
४. वही, ४५/३४-३७।
५. वही, ४६/३७-४०।
६. वही, ४६/४१-४९।

चाहिये। इसके बाद चतुर्भुजा, षड्भुजा, अष्टभुजा, अपने वाहन पर स्थित दशभुजा दुर्गा, चतुर्दशभुजा रौद्री, षोडशभुजा, अष्टादशभुजा तथा बीस भुजाओं वाली श्यामा का ध्यान-पूजन करके रुद्राणी-स्तोत्र का पाठ करना चाहिये।[1] मणिपूरचक्र का भेदन करने के लिये जिस रुद्राणी और रुद्र के मन्त्रजप का विधान है, वह इस प्रकार है—[2]

(१) ॐ नमः ते रुद्ररूपिणे।

(२) ॐ नमः ते महारुद्राय।

रुद्राणी-मन्त्र का एक प्रकार और भी है—डं से फं पर्यन्त सभी वर्णों से रुद्राणी के मन्त्र को पुटित करना चाहिये—[3]

"डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं ॐ नमः ते रुद्ररूपिणे डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं स्वाहा।" (अनुलोम स्थिति में)

"डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं ॐ नमः ते रुद्ररूपिणे फं पं नं धं दं थं तं णं ढं डं स्वाहा।" (विलोम की स्थिति में)

इसके बाद प्रासादमन्त्र, मृत्युञ्जयमन्त्र तथा द्वादशाक्षर मृत्युञ्जयमन्त्र का जप करने का विधान है।[4]

१. प्रासादमन्त्र—"ॐ सं स्वाहा।"
२. मृत्युञ्जयमन्त्र—"ॐ जूं सः।"
३. महामृत्युञ्जयमन्त्र—"ॐ जूं सः पालय सः जूं ॐ।"
४. रुद्राणीमन्त्र सम्पुटित मृत्युञ्जयमन्त्र—"ॐ नमः ते रुद्ररूपिणे ॐ जूं सः ॐ नमः ते रुद्ररूपिणे।"
५. रुद्रमंन्त्र सम्पुटित मृत्युञ्जयमन्त्र—"ॐ नमः ते महारुद्राय ॐ जूं सः ॐ नमः ते महारुद्राय।"

इसके बाद रुद्र के ५१ नाम द्वारा मातृकान्यास करना चाहिये।[5] यथा—
"ॐ अं श्रीकण्ठेशाय नमः, ॐ आं अन्तेशाय नमः।"

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४६/५०-५६, ४७/७-५७।
२. वही, ४८/६-९।
३. वही, ४८/१०।
४. वही, ४८/१५-१६, १८, २०, २२।
५. वही, ४८/३९-५१।

इसी प्रकार त्रिमूर्तीश, अमरेश, अर्द्धनारीश, भावभूतीश, अतिथीश, स्थाणुकेश, हरेश, झिण्टीश, भौतिकेश, सद्योजातेश, अनुग्रहेश्वरेश, अक्रूरेश, महासनेश, निर्जरेश (स्वर वर्णों के साथ), क्रोधीश, चण्डेश, पञ्चान्तकेश, शिवोत्तमेश, एकरुद्रेश, एकनेत्रेश्वरेश, चतुराननेश, अजेश, सर्वेश, सोमेश, लाङ्गलीश, दारुकेश, अर्द्धनारीश्वरेश, वाणीश, भुजङ्गेश, पिनाकीश, खड्गीश, सुरकेश, श्वेतेश, भृग्वीश, नकुलीश, शिवेश, सम्बर्त्तकेश, एकादशरुद्र के साथ (व्यञ्जन वर्णों के साथ) नमः जोड़कर मातृकान्यास करना चाहिये।

४. अनाहत-चक्र (Cardiac Plexus)

मणिपूरचक्र के ऊपर हृदय-स्थान में बन्धूक पुष्प के समान उज्ज्वल अनाहत पद्म है। इसमें सिन्दूर राग के समान बारह वर्ण कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं द्वादश दलों में विराजमान हैं। यह पद्म साक्षात् कल्पतरु है तथा इच्छा से अधिक की पूर्ति करने वाला है। इसी पद्म के भीतर धूम के समान वायु-मण्डल है, जिसमें छः कोण हैं।[1] यह शब्दब्रह्ममय है। अनाहत शब्द की अवस्थिति के कारण इसे "अनाहत" चक्र कहा गया।[2] यहाँ की ध्वनि बिना आघात के प्रकट होती है। यहाँ पर वाणलिङ्ग की अवस्थिति है, जो सहस्र सूर्यों के समान प्रदीप्त है तथा वाणलिङ्ग ही अहेतुक ध्वनि उत्पन्न करता है। इसीलिये यह "अनाहत" पद्म कहलाता है। यहीं पर जीवात्मा का वास है—

> **शब्दब्रह्ममयः शब्दो न हेतुस्तदहेतुकः।**
> **अनाहताख्यं तत् पद्मं पुरुषाधिष्ठितं परम्॥**[3]

वायुमण्डल के मध्य में वायु बीज (यं) है, जो मधुर, धूम्र राशि के समान धूसरित, चार भुजाओं से सुशोभित, कृष्णसार (मृग) पर अधिरूढ़ तथा अङ्कुश धारण करने वाले हैं। कहीं-कहीं वायु बीज (यं) का वर्ण शोण के समान कहा गया है।[4] वायु बीज (यं) के मध्य में करुणानिधान, सूर्य के समान आभा वाले "ईश" विराजमान हैं, जिनके हाथ वर और अभय मुद्राओं से युक्त हैं वे लोकत्रय को भय आदि से मुक्ति प्रदान करने वाले हैं।[5] शिव के समान ईश भी तीन नेत्र

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक २२।
२. वही, विवरण।
३. षट्चक्रविवृति (तान्त्रिक टेक्ट्स, भाग २, पृ० ११०)।
४. शिवसंहिता, ५/१०६।
५. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक २३।

से युक्त हैं।[1] वह ईश्वर मणिनिर्मित ग्रैवेय, हार, नूपुर, क्षौम वस्त्र से विभूषित तथा कोटि चन्द्रमा की किरणों के समान आभा वाले हैं। वे लटों से उज्ज्वल हैं।[2]

इस पद्म में काकिनी शक्ति विराजमान है, जो नवविद्युत्प्रभा के समान पीत-वर्णा हैं। वे तीन नेत्रों वाली, सभी अलङ्करणों से अलङ्कृत, सभी प्राणियों का हित करने वाली तथा उन्हें प्रसन्न करने वाली हैं। उनके दो हाथों में पाश तथा कपाल हैं और अन्य दोनों हाथ वर और अभय मुद्राओं से युक्त हैं। वे प्रमत्त हैं, उनका हृदय तृप्तिजनक सुधारस से आर्द्र हैं तथा वे कङ्काल की माला धारण करने वाली हैं।[3] वे कृष्ण मृगचर्मरूप अम्बर को धारण करने वाली तथा चन्द्र-मुखी हैं।[4] कहीं पर यह भी वर्णित है कि काकिनी शक्ति के चार हाथों में पाश, शूल, कपाल और डमरू विराजमान हैं, वे पीतवर्ण वाली हैं, दधि-अन्न प्रिय हैं, किञ्चिद् नमित अवयवों से सुन्दर शरीर वाली तथा वारुणीपान से प्रमत्त चित्त वाली हैं।[5]

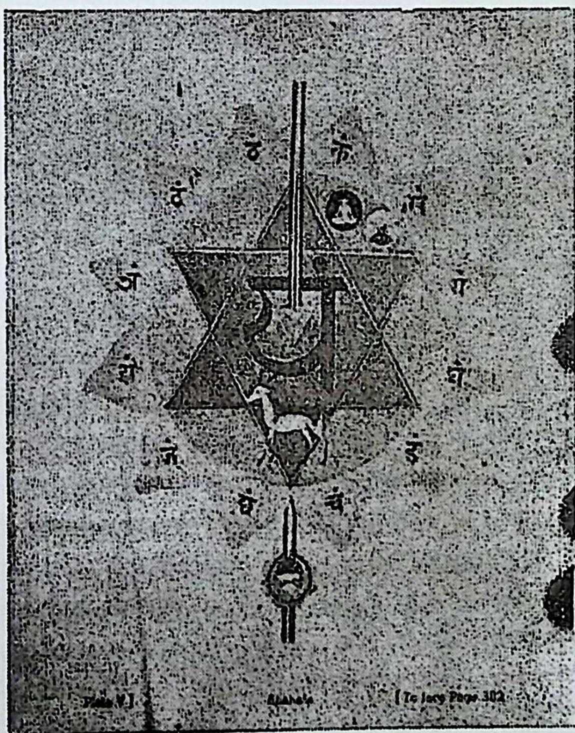
अनाहत पद्म की कर्णिका में एक अधोमुखी शक्ति त्रिकोण है। उस त्रिकोण के मध्य कोटि विद्युत्-प्रभा के समान कोमल शरीर वाला तप्त कनक की आभा से समुज्ज्वल, लक्ष्मी का कामोद्गम-स्थानस्वरूप वाण नामक शिवलिङ्ग है, जिसके मस्तक पर रन्ध्रयुक्त मणि के प्रकाश के समान विन्दु-प्रकाश रूप[6] सूक्ष्म विवर है। शिवलिङ्ग के मस्तक पर अर्धचन्द्रबिन्दु की अवस्थिति के कारण बिन्दु के मध्य में सूक्ष्म छिद्र होने से उसे सूक्ष्म विभेद युक्त कहा गया। यह पद्म कल्पवृक्ष रूप है, भगवान् शिव का पीठ-स्थान है, वायुरहित दीपशिखा के समान हंस (जीवात्मा) से सुशोभित है तथा कर्णिकामध्य में भानु के मण्डल से मण्डित, प्रकाशमान, केसर की शोभा को धारण करने वाला है। इस पद्म का ध्यान करने से साधक वागीश, ईश्वर तथा जगत् की रक्षा और विनाश करने की सामर्थ्य से युक्त हो जाता है।[7] इस प्रकार स्पष्ट है कि अनाहत पद्म की कर्णिका में सर्वप्रथम

१. षट्चक्रनिरूपणम्, विवरण।
२. वही, विवरण में उद्धृत।
३. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक २४।
४. वही, विवरण मे उद्धृत।
५. षट्चक्रविवृति (तान्त्रिक टेक्ट्स, भाग २, पृ० ११०) में उद्धृत।
६. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक २५ का विवरण।
७. वही, श्लोक २५, २६।

वायुमण्डल, उसके ऊपर सूर्यमण्डल, उसके ऊपर वायु बीज तथा उसके ऊपर त्रिकोण और तत्रस्थ वाणलिङ्ग का ध्यान करना चाहिये ।[1]

इस पद्म का ध्यान करने वाला सर्वदा रमणि-कुल में सर्वदा प्रियात्प्रिय होता है, योगीश होता है, ज्ञानीश, पुण्यकर्मकर्ता, जितेन्द्रियों में गणना किया जाने वाला, ब्रह्म में स्थिर ध्यान करने में समर्थ, गद्य-पद्य-पदादि काव्यरूप जलधारा को धारण करने वाला, लक्ष्मी को आनन्द प्रदान करने वाले विष्णु के समान, अथवा इहलोक में वैभव तथा सौभाग्य का उपभोग करके मुक्ति-पद को भोगने वाला तथा परकाया में प्रवेश की सामर्थ्य से युक्त होता है ।[2]

अनाहृत पद्म की साधना करने वाला साधक अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों का स्वामी तथा कविराज हो जाता है ।[3] इस पद्म के सिद्ध शिव हैं। इस पद्म का



१. षट्चक्र०, श्लोक २६ का विवरण ।

२. वही, श्लोक २७ ।

३. चक्रकौमुदी, ४/३८ ।

साधक त्रिकालदर्शी, दूरश्रुति तथा दूरदृष्टि वाला हो जाता है। वह आकाश-गमन में समर्थ होता है। उसे सिद्धों और योगियों के दर्शन होते हैं, वह खेचर को वश में करने वाला होता है, बाणलिङ्ग का ध्यान करने से खेचरी तथा भूचरी-मुद्रा सिद्ध होती है।[1] जो इस पद्म के योग को नहीं जानता है, वह आकस्मिक मृत्यु को प्राप्त करता है, इस पद्म में ही सभी देवता निवास करते हैं तथा देवी का ध्यान करते हैं। प्राणवायु की स्थिता तथा भक्तियोग के द्वारा इस पद्म का ध्यान करता हुआ योगी परमसिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। योगीजन इस पद्म की साधना करके शरीर में अष्ट ऐश्वर्य का दर्शन करते हैं। इस पद्म का भेदन सामान्य योगियों के लिये असम्भव है। यह पद्म सिद्धिमार्ग का प्रकाशक है। इस चक्र के भेदन के लिये मन्त्रोद्धार, यजन, स्तवन, कवच, काकिनी के सहस्रनाम का पाठ आवश्यक है।[2]

अनाहतचक्र-भेदन :—

अनाहतचक्र के भेदन के लिये सर्वप्रथम पद्म का ध्यान आवश्यक है। इस पद्म के द्वादश दलों में विराजमान कं से ठं तक स्वर्णिम आभा वाले वर्णों का ध्यान करना चाहिये। साधक यह ध्यान करे कि ये द्वादश वर्ण सुललित, निर्मल, हंस से शोभित, कोटि दीप्तियों से दीप्त, उत्कृष्ट किरणपुञ्जों से मिश्रित, सिन्दूर रंग से युक्त है। साधक को प्रति दल में इस प्रकार की लिपि की भावना करनी चाहिये। प्रत्येक वर्ण के ध्यान की विधि अलग-अलग है—[3]

कं— अमि विमल वर्ण वाले, नवोदित सूर्य तथा अरुण की आभा से युक्त, परम शिवरूप, नित्य त्रिनेत्र, अनन्त और सूर्य-स्वरूप, उत्पत्यादि शक्तियुक्त, स्वगृहकान्ति से शोभित शरीर वाले देव का ध्यान।

खं— शशिशेखर तथा त्रिनेत्र रूप, सिन्दूर वर्ण वाला, छः भुजाओं की शोभा से युक्त अतएव महनीय देव का ध्यान।

गं— परम पुरुष, सुन्दर रत्न के समान प्रदीप्त मणिमाला से युक्त, जितेन्द्रिय श्री गणपति का ध्यान।

घं— अमल, घोर निनाद वाले, कार्य में दक्ष, मूर्तिरूप कमलवत्, त्रिनेत्र वाले, फलरूपी आभूषण वाले, मखेश, रक्तवर्णरूप, वर, अभय, संहारमुद्रा तथा स्फटिकमणिनिर्मित माला से युक्त चार भुजाओं वाले महनीय परम शिव का ध्यान।

---

१. शिवसंहिता, ५/१११-११४।

२. रुद्रयामल उ० त०, ५७/२-१८।

३. वही, ५७/२१-३१।

ङं— महामोक्ष के स्थान स्वरूप, सिन्दूरवत् अरुण वर्ण वाले, त्रिनेत्र वाले, शशि, कनक तथा रत्नरूपी आभरण वाले पतितजनों के नाथ, व्यापक गुणों वाले, लक्ष्मीनाथ, वर और अभय प्रदान करने वाले महनीय तथा निखिल जगत् के स्वामी का ध्यान।

चं – कमल की माला से युक्त, व्यापक, शत चन्द्र के समान मुख वाले, त्रिनेत्र वाले, नवोदित सूर्य तुल्य, समस्त मणियों तथा रत्नों के आभूषणों से युक्त, महज्ज्योत्सना की राशि स्वरूप, परमरस या सुधारस के विन्दु से उत्पन्न शरीर वाले देवता का ध्यान।

छं— सुन्दर कपाल तथा शरीर से युक्त, नेत्रस्थ, छल-मल-कर्ता, नूतन रविवत् सुधा-धारा का पान करने वाले, स्वर्णिम जप-माला से आवृत शरीर वाले, त्रिनेत्र वाले, योगेन्द्र स्वरूप, रत्नाभ दल में उपस्थित, चारुवदन वाले देवता का ध्यान।

जं— चार मुख वाले, अरुणिम शरीर वाले, विशाल नेत्र वाले, सूक्ष्म काल-स्वरूप, चक्रशरीर वाले, त्रिलोकी, सार रूप, महाशङ्ख स्वरूप, वर और अभय मुद्राओं को धारण करने वाले देव का ध्यान।

झं— महाकाय, तेजोमय, झं बीज युक्त, काम को दूर करने वाले, अति सुख-स्वरूप, महासिन्दूर राग के समान, कोटि सूर्य तथा चन्द्र के समान निर्मल, त्रिनेत्र वाले, पञ्चमुख वाले, दश भुजाओं से युक्त, समस्त शरीर रूप देव का ध्यान।

ञं— शशिशेखर, ञं बीज युक्त, मखेश, त्रिनेत्र वाले, नीलकमल, गदा, चक्र और निविड से युक्त हाथ वाले, महामाला से व्याप्त, स्वर्णिम माला से युक्त, नवोदित सूर्य-प्रभा के समान, सम्पूर्ण विश्व के द्वारा अर्चित रूप वाले देवता का ध्यान।

टं — त्रिनयन वाले, अघीश, बिन्दु युक्त टकार से सुशोभित, जपमाला, वर, अभय तथा खड्ग धारण करने वाले, सोमेश, कनक-कुण्डल से सुशोभित शम्भु का प्रसन्तापूर्वक ध्यान।

ठं— त्रिनेत्र वाले, काम-स्वरूप, शिशु की करुणा से सिद्धियों को देने वाले, सुन्दर रत्न के अलङ्कारों की छवि के कारण सर्वजन-प्रिय, अनघरूप सबिन्दु ठकार से युक्त, कोटि नवोदित सूर्य की प्रभा से युक्त, कमल की सुन्दर माला तथा चन्द्रमा को धारण करने वाले देवता का ध्यान।

उक्त रीति से हृद्पद्म के द्वादश दलों में द्वादश वर्णों का ध्यान करना चाहिये। वर्णों में मनोलय करना चाहिये। ऐसा करने से साधक वागीश तथा योगीन्द्र हो जाता है तथा संसार में दीर्घजीवी होता है। इस पद्म में अत्यन्त सूक्ष्म रूप वायु, निराकार ब्रह्म, शब्दस्वरूप साकार ब्रह्म, निरक्षर, महा उग्र-ग्रन्थिरूप, जगद्व्यापी, कृष्ण मृगचर्म को धारण करने वाले, लोकत्रय को वर देने वाले, करुणासिन्धु रूप, पञ्चभूतात्मक, रौद्र स्वभाव वाले, प्राणरूप, वर, अभय, घण्टा तथा डामर से युक्त हाथ वाले, ईश, परमहंस, कुलेश्वर, अलङ्कारों से सुशोभित, रवि के उदय के कारण रूप, गणों से आवृत, वर्णरूपी, त्रैलोक्यमंगल के नाथ, रक्त माला से सुशोभित अङ्ग वाले शुक्ल वर्ण वाले, महा प्रभा वाले, योगियों के ईश, ईश्वर किरीटी भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिये। इन्हीं ईश्वर के पास देवी काकिनी का ध्यान करना चाहिये। वे देवी काकिनी परमेश्वरी स्वरूपा, त्रैलोक्यपूजिता, काकचञ्चु (काकिनी मुद्रा) के द्वारा प्रकाशित होने वाली, चतुर्भुज, पीतवस्त्र से सुशोभित, अभिनव विद्युत् प्रभा सदृश, त्रिनेत्र कमल वाली, कपाल, शशि, शूल, वरदान आदि से युक्त, विचित्र रत्नों से निर्मित सी, स्वर्णालङ्कारों से विभूषित, तीन गुणों से ललित, सूक्ष्म, वर तथा अभय मुद्राओं से युक्त कर-कमल वाली, सुधापान में लीन, प्रमत्त, कुलेश्वरी, रत्नकङ्कण तथा माला से युक्त, परमानन्द भैरवीरूपा, हृदयाम्भोज के मध्य में स्थित, हंसगामिनी, त्रिकोण रूपा, सुवर्णमयी, कोटिविद्युत् के समान उदित तथा पीठशक्तिरूपा हैं। त्रिकोण के अन्दर शुद्ध सुवर्ण तुल्य, निर्मल, चारुतेजरूप, महालक्ष्मी को आनन्द प्रदान करने वाले, सर्वाकार रूप, निरञ्जन रूप ज्ञानयोग के उदयस्वरूप, ब्रह्मरूपी, बहुरूपी, दीपशिखा के समान आकार वाले, वाणलिङ्ग का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार का ध्यान करने वाला साधक सद्यः वागीश हो जाता है तथा राज्यसिद्धि को प्राप्त करता है। पद्म केसर के मध्य अरुण सहित सूर्यमण्डल का ध्यान करना चाहिये। एक मास की साधना से व्यक्ति योगी होता है, दूसरे मास में ग्रन्थि-भेदन होने से अत्यन्त गुणी होता है, वह सर्प-विष को नाश करने वाला होता है, चतुर्थ मास में स्थिर चित्त तथा निर्मल आत्मा वाला होता है, पंचम मास में वायवी शक्ति की कृपा से वायु को स्थिर करने वाला होता है तथा सुख सम्पदाओं से सम्पन्न हो जाता है, छठें मास में पाप में रहित तथा जीवनमुक्त होता है, जल, अग्नि, भूगर्त कहीं भी उसकी मृत्यु नहीं होती, अभेदज्ञानवान्, ईश्वरात्मा, महाज्ञानी, भेददृष्टि से रहित तथा चिरजीवी होता है; सातवें मास में कल्प का परित्याग करने वाला, काम-तुल्य शरीर धारण करने वाला, नित्यानन्द गुण से युक्त तथा भूमित्यागी (आकाशगमनवान्) होता है। आठवें मास में सभी शत्रुओं का विनाश करने वाला, अणिमादि का दर्शन करने वाला तथा ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला होता है, नवें मास में

पञ्चभूत शरीर को धारण करते हुये सातसर्ग का अवलोकन करने वाला तथा छः शिव का दर्शन करने वाला होता है, बारहवें मास में देवतुल्य सम्मान प्राप्त करता है, देवता के चरण का दर्शन करने वाला होता है, मायाजाल से रहित होकर अत्यन्त सुख की प्राप्ति करता है। यही सर्वविद्या है जो दिव्यभक्ति तथा सर्वसिद्धिस्वरूपा है। जो साधक निर्जन महारण्य में तथा पर्वत आदि पर दीर्घ समय तक इस योग को धारण करते हैं, वे वीर, योगेन्द्र, दिव्य तथा भैरव होते हैं, और वे भक्त, मुक्तिभागी तथा मृत्युगोप्ता होते हैं। योग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

५. विशुद्ध चक्र (Cervical Plexus)

कण्ठस्थानीय पद्म का नाम "विशुद्ध" है। यह विशुद्ध अर्थात् मलरहित तथा धूमिल धूम्रवर्ण वाला है। जिसकी बुद्धि प्रदीप्त है उसे इस पद्म में शोण वर्ण वाले १६ स्वर स्पष्टतया दृश्य होते हैं। इस पद्म की कर्णिका में पूर्णेन्दु के समान विस्तार वाला वृत्तरूप नभो मण्डल है। हिम के समान श्वेत हाथी के ऊपर शुक्ल वर्ण वाला तथा सुन्दर शरीर वाला नभ बीज (ह) सुशोभित है। आकाश बीज (हं) के दो हाथ पाश और अंकुश से युक्त हैं तथा अन्य दो हाथ वर और अभय-मुद्राओं वाले हैं। इससे उसका अङ्ग सुशोभित है। बीज की गोद (०) में तीन नेत्र वाले, पञ्चमुख वाले, दक्ष, सुन्दर भुजाओं वाले व्याघ्रचर्मरूप वस्त्र को धारण करने वाले, गिरिजा के अभिन्न शरीर वाले, हिम की आभा के समान देव विराजमान हैं। उनका नाम "सदाशिव" है।[2] वे सदाशिव रजत तथा सुवर्ण-आभा से युक्त शरीर वाले हैं। यन्त्र के मध्य नन्दी वृषभ के ऊपर गौरी विराजमान हैं जिनके दाहिनी ओर सदाशिव हैं। वे पञ्चमुख हैं तथा प्रत्येक मुख में तीन-तीन नेत्र विद्यमान हैं। वे विभूति से विभूषित अङ्ग वाले तथा फणिमाला से सुशोभित हैं।[3] सदाशिव के साथ गौरी के होने के कारण ही वे अर्धनारीश्वर कहे जाते हैं। सदाशिव अपनी दश भुजाओं में शूल, टंक, कृपाण, वज्र, दहन (अग्नि), नागेन्द्र, घण्टा, अङ्कुश, पाश और अभयमुद्रा से युक्त हैं।[4]

विशुद्ध नामक चक्र में शाकिनी नामक शक्ति विराजमान है, वे सुधा-सिन्धु के समान शुक्लवर्णा तथा अमृत से भी शुद्ध हैं। वे अपने चार कर-कमलों में शर,

---

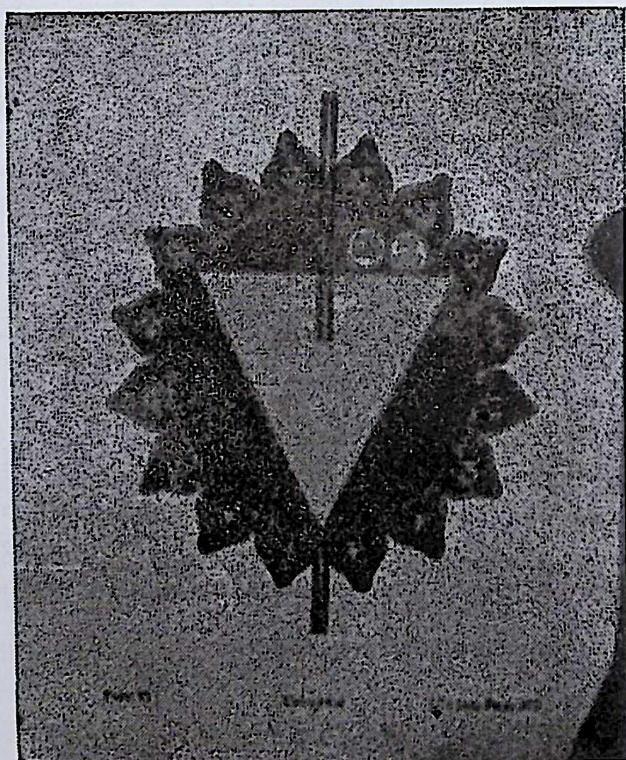
१. रुद्रयामल उ० त०, ५७/३२-६८।

२. षट्चक्र निरूपणम्, श्लोक २८, २९ तथा चक्रकौमुदी, ५/२-३।

३. वही, श्लोक २८, २९ का विवरण।

४. वही, विवरण तथा चक्रकौमुदी, ५/४-५।

चाप, पाश और अङ्कुश धारण किये हैं।[1] कहीं पर यह सङ्केत किया गया है कि शाकिनी देवी के हाथ पाश, अङ्कुश, पुस्तक तथा ज्ञानमुद्रा से युक्त हैं। वे ज्योतिस्वरूप, तीन नेत्र वाली, पञ्चमुख वाली, पशुजन को नष्ट करने वाली, अस्थि पर स्थित, दुग्धान्न (खीर) प्रिय तथा मधु-मद से मुदित हैं।[2] कर्णिका के अन्दर निष्कलङ्क चन्द्रमा का पूर्ण मण्डल सुशोभित है, जो जितेन्द्रिय तथा योग वैभव की इच्छा करने वाले के लिये महामोक्ष का द्वार हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्णिका के मध्य नभो मण्डल, उसके मध्य त्रिकोण, उसके मध्य चन्द्रमण्डल, उसके मध्य नभवीज (हं) की अवस्थिति है।[3] यहीं पर ऐरावत गज के ऊपर आरूढ़ स्वर्णाभ, शुक्लाम्वरधारी सदाशिव का ध्यान करना चाहिये।[4]



१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ३०।
२. वही, विवरण में उद्धृत।
३. वही।
४. वही।

जो आत्मज्ञान से परिपूर्ण है, वह, इस पद्म में चित्त को निरन्तर एकाग्र करके कवि, वाग्मी, ज्ञानी, अत्यन्त शान्तचित्तवाला, त्रिकालदर्शी, सबका कल्याण करने वाला, रोग-शक से मुक्त चिरंजीवी, अनन्त विपत्तियों का हंस के समान, नाश करने वाला हो जाता है।[1] वह साधक भूतों में दया रखने वाला, लालच से रहित, सरल, लज्जायुक्त, चपलता से रहित तेज-क्षमा-धैर्य-शौच-अद्रोह-निरहङ्कार वाला हो जाता है।[2]

इस पद्म में "छगलाण्ड" नामक सिद्ध निवास करते हैं। इस पद्म का ध्यान करने से चारों वेदों के रहस्य का ज्ञान हो जाता है। उसके क्रोध से सम्पूर्ण त्रिलोक काँपने लगता है। वह बाह्य विषयों से अनासक्त होकर शरीर में ही रमण किया करता है। सहस्रवर्ष तक भी उसके शरीर में शक्ति की क्षीणता नहीं आती। सहस्रवर्ष की समाधि के बाद ध्यान को त्यागने वाले को वह सहस्रवर्ष एक क्षण के व्यतीत होने के समान लगता है।[3] इस पद्म में शिव-शक्ति की भावना करने वाला साधक अष्टसिद्धियों का स्वामी हो जाता है।[4]

विशुद्धचक्र-भेदन :—

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत चक्रों का भेदन करते हुये विशुद्ध चक्रों का भेदन करना चाहिये। चक्र-भेदन में वर्ण और देवता के ध्यान का विशेष महत्त्व है। समस्त १६ स्वर वर्ण इस चक्र के १६ दलों में विद्यमान हैं। मूलाधार में पृथिवी मण्डल, स्वधिष्ठान में जलमण्डल, मणिपूर में अग्निमण्डल अनाहत में सूर्य मण्डल, विशुद्ध में चक्रमण्डल तथा आज्ञा में वह्निमण्डल की अवस्थिति है। आज्ञाचक्र से ऊपर साधना के अनेक स्तर है, यथा—बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समान, उन्मनी, महाविन्दु।[5] रुद्रयामल में भेदन का क्रम इस प्रकार है—आज्ञा पद्म का भेदन करके बोधिनीचक्र का आश्रय लेना चाहिये। विशुद्धचक्र का भेदन करके पूर्ण गिरि का आश्रय लेकर तथा सूर्यमण्डल का भेदन करके प्रलयाकार ब्रह्मचक्र का ध्यान करना चाहिये। ब्रह्मचक्र के ऊपर ब्रह्मदण्ड, उसके ऊपर केवल जल, उसके ऊपर खड्ग नामक सिद्ध, उसके ऊपर सर्वबीजमय मातृकामण्डल, उसके ऊपर "हंस" मन्त्र तथा उसके ऊपर महाकाल

---

१. षट्चक्रनिरूपणम्, श्लोक ३१।
२. वही, विवरण में उद्धृत।
३. शिवसंहिता, ५/११७-१२१।
४. चक्रकौमुदी, ५/२३
५. वरिवस्यारहस्यम्, १/२२-२६।

कुलेश्वरी और वहीं श्रीपद-कमल में मन को लीन करना चाहिये। इसके बाद मूलाधार में वायुवीज से बह्नि बीज जो प्रज्ज्वलित करके शरीर को तप्त करना चाहिये। पुनः आरोह-क्रम में चक्र बीजों को दग्ध करते हुये भ्रूमध्यचक्र के वह्नि-मण्डल में वह्नि का लय करना चाहिये। वहीं पर स्थित वह्निशिखा की राशि से ब्रह्म-बिन्दु का क्षरण होता है। उस बिन्दु-धारा से तथा जल के द्वारा शरीर का क्षालन करना चाहिये। इस प्रकार शुद्धदेह वाला होकर अधोमार्ग से शनैः-शनैः कुण्डलिनी के समागम का ध्यान करना चाहिये।[1]

वर्णध्यान :—

अ से क्ष वर्ण का ध्यान मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त करना चाहिये। वर्णों का स्मरण तथा मन्त्रों के द्वारा अनुलोम-विलोमपूर्वक सम्पुटित करके वर्णों के ग्रथन का ध्यान करना चाहिये। सारी क्रियायें मनसा होनी चाहिये। प्रत्येक ग्रन्थि के भेदन से सहस्रकोटि सूर्य के समान प्रकाश का दर्शन होता है। इसके बाद मन्त्राक्षर, परब्रह्म, शिव तथा सूर्य का ध्यान करके, सहस्रदल का भेदन करके साधक शिव का दर्शन करता है। दल की भावना, दक्षिणावर्त्त देवता की अवस्थितिपूर्वक करनी चाहिये। काकिनी मुद्रा में स्थित साधक यदि विशुद्ध पद्म का ध्यान करता है, तो उसे स्फूर्तिविद्या कहा जाता है। इस स्फूर्तिविद्या के द्वारा साधक वाक्पति तथा ईश्वर रूप हो जाता है। स्त्री, पुत्र, धन, लोभ, मोह आदि पातकों से विवर्जित होकर मन्त्री निर्भय होता है। मन्त्रन्यास में परायण व्यक्ति यदि शरीर के क्लेशों का परित्याग करके विवेक का ग्रहण करता है तो यह साधक का "वियोग" कहलाता है। इसके बाद पूर्व दिशा में प्रातः ज्ञानरूपी समरस द्रव्य के द्वारा रवि के उदय की भावना करनी चाहिये। इसके साधक को अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है। चक्रस्थ नभ बीज (हं) मन्त्र का स्मरण करना चाहिये। इसके बाद खेचरी-मेलन-क्रिया का अभ्यास करना चाहिये। इस क्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम आसनादि के द्वारा शरीर को हल्का कर लेना चाहिये। रसना को छेदित करके तालुमूल से भी ऊर्ध्व तथा पीछे की ओर जिह्वा को ले जाकर मधु का पान करना चाहिये। वहीं पर प्राणायाम को सम्पन्न करके जप करता हुआ साधक सुधा-पान करे। इससे साधक को समरस की प्राप्ति होती है तथा वह कामलिङ्ग में स्थिर होता है। श्वेत वरिआर-सूत्र की अष्टादश अङ्गुलिमान, नातिसूक्ष्म लता बनाकर उसे जिह्वा के नीचे सन्निविष्ट करके घर्षण करना चाहिये। इस घर्षण से जिह्वा तालुमूल में स्वतः गमनशील हो जाती है। इस साधना से अमृतत्व की प्राप्ति होनी चाहिये। एकान्त में मन्त्र का जप करने वाला जीव-ब्रह्मैक्यबुद्धि से युक्त हो जाता

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ६०/३०-३९।

है। साधक को अनायास ही समरस की प्राप्ति हो जाती है। साधक अकालमृत्यु से मुक्त हो जाता है। यह अमर हो जाता है। गन्ध से शोभित महावनरूप शीतल पद्मवन में स्वकाया की भावना करनी चाहिये। यहाँ भावना प्रत्येक चक्र तथा उसके दलों में करनी चाहिये। ऐसा करने से देह-रक्षा होती है, अन्यथा मनुष्य योगभ्रष्ट होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। काय-साधन की एक विधि और भी है—चक्षु-इन्द्रिय-विवर्जित वाराणसी, महाज्वालामुखी, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, द्वारका, हरिद्वार, मार्कण्डेय, कापिल, वृन्दावन, गुह्यपीठ, गङ्गा-यमुना का तट, पुष्कर, पृथिवी, कायातीर्थ, गया आदि पीठों में स्थिर होकर मन को लीन कर वहाँ काया की कल्पना करनी चाहिये। इसके बाद शाकिनी योगिनी के गणों से वेष्टित सदाशिव का ध्यान करके तद्वत् काया की कल्पना करनी चाहिये। मन में उन देवताओं के प्रति जो भाव रहता है वही भाव अपनी काया में करनी चाहिये। इस कायसाधन से साधक वाक्सिद्धि को प्राप्त करता है। इसके बाद कामदेव का मथन करना चाहिये। जब तक शरीर में बिन्दु स्थिर है तब तक मृत्यु का भय नहीं होता। बिन्दु के पात से शरीर का नाश हो जाता है। इसलिये बिन्दु की रक्षा करना अति आवश्यक है।[1]

६. आज्ञाचक्र (Cerebellum or Pineal Gland)

विशुद्धचक्र के ऊपर भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र की अवस्थिति मानी जाती है। यह चक्र चन्द्रमा के समान, ध्यान के विलास से प्रकाशित, ह तथा क्ष की कलाओं से सुशोभित गात्र वाला तथा अत्यन्त शुभ्र है।[2] चक्र के मध्य शक्ति हाकिनी है, जो चन्द्र के समान है तथा जो षट् मुख से सुशोभित हैं।[3] देवी हाकिनी ६ भुजाओं से युक्त हैं जिनमें क्रमशः पुस्तक की मुद्रा, वरमुद्रा, अभयमुद्रा, कपाल, डमरू तथा जपमाला सुशोभित है। वे सर्वथा शुद्धचित्त वाली हैं।[4]

गुरु की आज्ञा का पालन होने से इसे आज्ञाचक्र कहते हैं। वह देवी मज्जस्था है, हारिद्रान्न प्रिय है, मधुपान से प्रमत्त है तथा देवेन्द्र के मधुपान से प्रसन्नवदना है।[5]

इस पद्म के भीतर अति सूक्ष्म मन इन्द्रिय का निवास है। पद्म की कर्णिका में स्थित योनि (त्रिकोण) में सहस्रारस्थ शिव का अंश स्वरूप "इतर"

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ६०/३०-८४।
२. पूजातत्व, पृ० १७०।
३. तंत्र आफ कुण्डलिनी योग, पृ० ३।
४. षट्चक्र०, श्लोक ३२।
५. वही, विवरण में उद्धृत।

नामक लिङ्ग की अवस्थिति है। त्रिकोण के मध्य वेदों का आदि वीज (ॐ) है, जो परम कुल शक्ति का स्थान है, विद्युत् की माला के समान विलसित है, ब्रह्मसूत्र का प्रबोध रूप है। साधक को स्थिर-चित्त होकर पद्म में इस प्रकार का ध्यान करना चाहिये।[1] योगियों के लिये भी दुर्लभ सोलह आधारों की कल्पना की गई है, उन्हीं में कुलपद है जो प्रणव से अलग नहीं है। सोलह आधार इस प्रकार हैं— मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, बिन्दू, कला, अर्धेन्दु, नाद, नादान्त, उन्मनी, विष्णुवक्त्र, ध्रुवमण्डल तथा शिव।[2]

इस प्रकार के ध्यानरूप आत्मा वाला व्यक्ति साधकेन्द्र होता है, परकाया-प्रवेश की सामर्थ्य वाला, मुनीन्द्र, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सबका हित करने वाला, सर्व-शास्त्रविद्, अद्वैत के साथ विचरण करने वाला, परम और अपूर्व सिद्धियों से युक्त, दीर्घायु, सृष्टि का सर्जन, पालन तथा संहार करने वाला होता है।[3]

इस चक्रस्थ त्रिकोण के अन्दर अ, उ, म वर्णों की रचना रूप प्रकाश से युक्त प्रणव विद्यमान है, जो शुद्ध-बुद्ध अन्तरात्मा रूप है, दीपक की प्रभाज्योति के समान है, इस प्रणव के ऊपर अर्धचन्द्र है, उसके ऊपर बिन्दु रूपी मकार (म) है, उसके ऊपर बलराम के समान श्वेत तथा चन्द्रबिम्ब का उपहास करने वाला नाद है।[4]

सुख के आस्पदस्वरूप इस पद्म में चित्त के लीन होने पर, परम गुरु की सेवा के द्वारा सुविदित निरालम्ब योनिमुद्रा के द्वारा अन्तःपुर को संरुद्ध करने पर योगी प्रणव के आधाररूप त्रिकोण के मध्य विशेष रूप से विलसित वह्निकणों का दर्शन करता है।[5] योनिमुद्रा के द्वारा वायु के संरोध से मन की स्थिरता होती है। इसके अतिरिक्त खेचरी मुद्रा के द्वारा भी मन स्थिर होता है :—

चित्तं चरति खे यस्मात् जिह्वा चरति खे यतः।
तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥[6]

---

१. षट्चक्र०, श्लोक ३३ तथा चक्रकौमुदी, ६/४-५।
२. वही, विवरण में उद्धृत।
३. वही, श्लक ३४।
४. वही, श्लोक ३५।
५. वही, श्लोक ३६।
६. वही, विवरण में उद्धृत।

योनिमुद्रा का स्वरूप इस प्रकार है—

वामपाद की एड़ी को गुह्य स्थान (गुदा) पर रखें उसके ऊपर अर्थात् वामपाद के ऊपर दक्षिणपाद को रखें, शिर, ग्रीवा को सीधा रखें, काकिनी मुद्रा के द्वारा उदर को वायु से भर लें। इसके बाद दोनों हाथ के अंगूठों से दोनों कान के छिद्रों को, तर्जनी से दोनों नेत्र, मध्यमा से दोनों नासारन्ध्र तथा अनामिका और कनिष्ठा से मुखरन्ध्र को बन्द कर लें, वायु को अन्दर निरुद्ध करें, नियन्त्रित इन्द्रियों के द्वारा मन्त्र का ध्यान करते हुये प्राण और मन के ऐक्य की अनुभूति करें।[1]

वह्नि-कण के दर्शन के बाद योगी प्रज्ज्वलित दीपशिखा के समान नवोदित सूर्य-प्रभा के समान तथा शङ्खिनी नाड़ी के ऊपर शून्यरूप गगन और मूलाधारस्थ पृथिवी मण्डल के मध्य व्याप्त ज्योति का ध्यान करें। यहीं पर अपने सम्पूर्ण कर्तृत्व आदि वैभव से युक्त भगवान् स्वयं विराजमान हैं। यह भगवान् अव्यय, साक्षी तथा वह्नि, चन्द्र और सूर्यमण्डल में अवस्थिति के समान यहाँ भी विराजमान हैं।[2] उत्कलादि मत में चणकाकार शिव यहीं पर स्थित होकर सृष्टि करता है।[3]

आज्ञाचक्रस्थ तृतीय लिङ्ग को "तुरीय" भी कहा गया है। इसका ध्यान करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है, योगी शिव के सायुज्य को प्राप्त करता है। इड़ा और पिङ्गला रूप वरणा और असी अर्थात् वाराणसी में विश्वनाथ का निवास है, इसलिये वाराणसी को ही परतत्त्व कह दिया जाता है। साधक को विश्वनाथ का दर्शन करना चाहिये।[4] शिव और शक्ति से समन्वित इस चक्र का ज्ञान करने वाला ब्रह्मज्ञानी हो जाता है।[5]

आज्ञाचक्र की साधना के अनन्त फल कहे गये हैं। सत्ययुग में कल्याण-वृद्धि के लिए रविवार से, त्रेता में सुखवृद्धि के लिये शनिवार से, द्वापर में धर्मसिद्धि के लिये गुरुवार से तथा कलियुग में योगसिद्धि के लिये शुक्रवार से एक सप्ताह तक आज्ञा-चक्र की निरन्तर साधना फलवती होती है। मूलाधारचक्र की साधना का भी यही क्रम होना चाहिये।[6] इस चक्र की साधना से व्यक्ति समदृष्टि वाला, यज्ञ आदि के कल्याण से युक्त, पुत्रलाभ वाला, दयायुक्त, भूपति, लोकभक्ति, धन,

---

१. षट्चक्र०, विवरण में उद्धृत।
२. वही, श्लोक ३७।
३. वही, विवरण।
४. शिवसंहिता, ५/१२५-१२७।
५. चक्रकौमुदी, ६/४३।
६. रुद्रयामल उ० त०, १२/३४-३८।

कीर्ति, त्रिवर्ग से युक्त, बहुप्रतापी, शत्रुहन्ता, प्रभुभक्ति, देश-विदेशगमन, धनादि के आगम से युक्त, नित्यज्ञानोदय तथा लोकोल्लास से युक्त होता है। चक्र-भेदन के लाभ का सविस्तार विवेचन ग्रन्थ में किया गया है।[1]

आज्ञाचक्र-भेदन :—

आज्ञाचक्र वायु का भास्वर आस्पद है। सूक्ष्म वायु के द्वारा इस चक्र में शनैः शनैः मन को लीन करना चाहिये तथा सहस्रार के समान गुरु, आत्मा, ईशान तथा सनातन देव का ध्यान[2] करना चाहिये। श्री गुरु के चरणकमल से निःसृत परामृतधारा से कुलकुण्डलिनी का अभिषिञ्चन करना चाहिये। इसके बाद बार-बार परं रस का पान कराकर प्रबुद्ध होती हुई कुण्डलिनी का स्मरण करे। यह स्थिति कन्द के संकोच के साथ होनी चाहिये साथ ही प्राणवायु की धारणा भी (विस्तृत विवेचन कुण्डलिनी जागरण के प्रसङ्ग में हो चुका है)। प्रायोगिक साधना में बार-बार जागरण-क्रियापद्धति का अभ्यास करना चाहिये। इस चक्र की साधना में सर्वप्रथम ऐसे परम महेश्वर का ध्यान करना चाहिये, जो कामरूप हैं, श्मशान के अधिप हैं, पल-अनुपल के ज्ञाता हैं, दण्ड, तिथि, पक्ष, मास, वत्सर, युग तथा महाकाल से समन्वित हैं, वे चीनाचार से समाक्रान्त हैं, कोटि उल्का के समान नेत्र वाले, तीक्ष्ण दन्त वाले, कोटि-कोटि नेत्र-जाल से शोभित मुख-कमल वाले हैं, वे चिद्रूप, सद्सत् रूपी, बहुरूपी तथा कालरुद्र हैं। इसके बाद मन्त्री उस डाकिनी देवी का ध्यान करे, जो रौरव का विनाश करने वाली, कोटिविद्युत्प्रभा के समान, अमृतानन्द शरीर वाली, सहस्र पूर्णचन्द्र की शोभा से युक्त, स्वर्णिम वाराणसी (इड़ा तथा पिङ्गला) में स्थित, नाना अलङ्कारों से शोभित अङ्ग वाली, नव यौवना, पीनस्तनी, उन्मत्त, दीर्घ प्रणव-जाप से तुष्ट होने वाली, मौना, मनोमयी, सर्वविद्यास्वरूपिणी, महाकाली, महानीला, पीतवर्णा, शशिप्रभा, त्रिपुरसुन्दरी, वामा, कामहरा, शिवा, परनाथ के वाम में स्थित, पवित्र तथा सर्वाधारात्मिका है। यह ध्यान आदि कुलमार्ग के अनुसार करना चाहिये। अतः इसके लिये श्वासाभ्यास, अष्टाङ्ग योगाभ्यास, दम तथा धैर्य आवश्यक हैं। कुलमार्ग के बिना मोक्ष की सिद्धि असम्भव है। सभी चक्रों की साधना में प्राणायाम ही मुख्य अङ्ग है। प्राणायाम को कोटि-कोटि महापातक का विनाश करने वाला कहा गया है। जो दिन-रात, प्रातः तथा सन्ध्या के समय १६ प्राणायाम करता है, वह एक संवत्सर में खेचर तथा योगिराड् हो जाता है। यह योगी कौलमार्ग का आश्रय ग्रहण कर अमर

---

१. रुद्रयामल उ० त०, १२/४१-५१।

२. वही, १६/७-१३।

हो जाता है।[1]

आज्ञाचक्र के अन्तर्गत कतिपय अन्य चक्रों की कल्पना की गई हैं। चित्त की एकाग्रता ही उन चक्रों के ध्यान का प्रयोजन है। आज्ञाचक्र के अन्तर्गत जिन चक्रों की कल्पना की गई हैं, उनमें त्रिकोण, षट्कोण, कामचक्र, प्रश्नचक्र तथा फलचक्र प्रमुख हैं। त्रिकोण तो आज्ञाचक्र की कर्णिका के मध्य में है। शेष चार चक्र त्रिकोण के बाहर हैं किन्तु आज्ञाचक्र के अन्तर्गत ही हैं। अष्टकोण से ऊपर पवर्ग, ओ, औ, तवर्ग, ॡ ए, ऐ, टवर्ग, ऋ ॠ ऌ, चवर्ग, ई, उ, ऊ, कवर्ग, अ, आ आदि वर्णों के ध्यान का निदेश किया गया है। इन चक्रों की भावना करने वाला चिरजीवी और अमर होता है।[2]

—:०:—

१. रुद्रयामल उ० त०, १६/१७-४४।
२. वही, २०/२-४२।

षट्चक्र-भेदन

योगशास्त्र षट्चक्र-भेदन की साधना को प्रायः गुह्य या अप्रकाश्य कहते हैं।[1] इसका कारण यह है कि अधिकारी साधक चक्र-भेदन से प्राप्त सिद्धियों का दुरुपयोग नहीं कर सकता है। सर्वसामान्य को सिद्धियों की प्राप्ति होने पर उनका सदुपयोग कम, दुरुपयोग अधिक होता है। वस्तुतः चक्र-भेदन जीवन्मुक्ति तथा अष्ट सिद्धियों को प्रदान करने वाला है। इस साधना से जीव सर्वशास्त्रविद् हो जाता है।[2] षट्चक्रों के भेदन की प्रायोगिक पद्धति पर कुण्डलिनी-जागरण के प्रकरण में सविस्तार विवेचन विया जा चुका है। पुनरुक्तता के भय से यहाँ हम षट्चक्र-भेदन के सामान्य स्वरूप पर चर्चा कर रहे हैं। षट्चक्र-भेदन या कुण्डलिनी-जागरण की कोई निश्चित या विशेष पद्धति नहीं है। योग, मनन, निःस्वार्थ-सेवा, पूजा, स्तोत्र आदि सभी परम लक्ष्य की ओर साधक को अग्रेषित करते हैं। केवल भक्ति और निष्ठा की अपरिहार्यता होनी चाहिये।[3] मूलाधारादि आज्ञा-पर्यन्त षट्चक्रों के जागरण के बाद कुण्डलिनी सहस्रार में परम शिव से मिलन करती है, इसलिये सर्वप्रथम यहाँ हम "सहस्रार" के स्वरूप पर प्रकाश डालना चाह रहे हैं।

सहस्रार (सहस्रदलपद्म)

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र के ऊपर परम व्योम में शङ्खिनी नाड़ी के शिखर में ब्रह्मरन्ध्र के ऊर्ध्व भाग में स्थित विसर्ग के नीचे सहस्रदलकमल की अवस्थिति मानी गई हैं, जो प्रकाशमान तथा पूर्णचंद्रमा से भी अति शुभ्र है तथा अधोमुखी है। यह अति शोभन है तथा इसके केसर-पुन्ज तरुण रवि की आभा के समान हैं। यह केवलानन्दरूप है।

इस पद्म की कर्णिका के त्रिकोण में चन्द्रमा की अरुणिम अमा-कला की अवस्थिति है, जो अति शुद्ध है तथा कमल के सूक्ष्म तन्तु के शत भाग के समान सूक्ष्म है। वह कोटि विद्युत् के समान कोमल शरीर वाली है तथा अधोमुखी है। वह ब्रह्मपरम्परोत्पन्ना है तथा अतिशय अमृत का स्रावण करने वाली है।[4] अमा-कला के मध्य निर्वाण कला है, जो पर से भी पर है तथा केशाग्र के सहस्रभाग के समान

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/२।

२. वही, ४८/२,३।

३. कुण्डलिनी इन टाइम एण्ड स्पेस, पृ० ४१-४२।

४. षट्चक्र०, श्लोक ४६।

सूक्ष्म है। वह अर्धचन्द्र के समान वक्राकार है, सभी सूर्यों की प्रभा वाली, नित्य बोध का उदय करने वाली तथा सभी प्राणियों का हृदय-चैतन्यरूप है।[1] निर्वाण-कला के मध्य में परम अपूर्व निर्वाण शक्ति का विलास है, जो कोटि सूर्य के प्रकाश वाली, त्रिलोक की उत्पत्ति करने वाली, केशाग्र के कोटि भाग से भी सूक्ष्म, निरन्तर प्रेमधारा को धारण करने वाली, सभी जीवों का जीवनभूत तथा मुनियों के चित्त में सदा तत्त्वबोध को प्रवाहित करने वाली है।[2] वह परम शक्ति परम शिव के समान सर्वविद्यमान है। मानव शरीर उसी शक्ति की सृष्टि है।[3] इस निर्वाण कला के मध्यस्थ शून्य में अति निर्मल शिव-पद है, जो शाश्वत, योगिगम्य, नित्यानन्दरूप, सकलसुखमय तथा शुद्धबोधस्वरूप है। इसे कुछ आचार्य ब्रह्म-पद, विष्णु-पद, हंस-पद, आत्मप्रबोध पदरूप तथा मोक्ष-पद के रूप में अभिहित करते हैं।

षट्चक्र-भेदन

संरुद्धमार्ग में मार्ग को प्रशस्त करना "भेदन" कहा जाता है—"संरुद्ध-वर्त्मनि वर्त्मकरणं भेदः।"[4] षट्चक्र-भेद का अर्थ है—हमारे देह के मेरुमार्ग में स्थित छः यन्त्रों के भीतर के स्रोत का अस्वाभाविक वक्र भाव दूर कर उनके भीतर सरल अबाधित मन तथा प्राण की गतिलाभ करना।[5]

मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र पर्यन्त दलों के वर्ण, देव, देवी, मण्डल, बीज-मन्त्र, इन्द्रिय, लोक आदि का विधिपूर्वक ध्यान षट्चक्र-भेदन की साधना-पद्धति का प्रमुख अङ्ग है। ध्यान के पूर्व यथानिर्दिष्ट आसन, मुद्रा तथा प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक है। यह साधना आज्ञाचक्र, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, पुनः आज्ञा और अन्त में सहस्रार के क्रम में सम्पन्न की जानी चाहिये। कुछ आचार्य मूलाधार से ही साधना का प्रारम्भ बताते हैं। आज्ञाचक्र से साधना को प्रारम्भ करने का प्रयोजन है। इस चक्र के जागरण से मनुष्य के संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं। संस्कारों का जागरण प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा सह्य नहीं होता। इसलिये मन को शुद्धीकृत करने के लिए आज्ञाचक्रस्थ त्रिवेणी में मन का विलय किया जा सकता है।[6] षट्चक्रों को पद्म रूप में कल्पना करने का एक

---

१. षट्चक्र०, श्लोक ४७ तथा चक्रकौमुदी, ७/१२।
२. वही, श्लोक ४८।
३. कुण्डलिनी इन टाइम एण्ड स्पेस, पृ० २२।
४. षट्चक्रविवरण, पृ० ८२।
५. पूजातत्त्व, पृ० १६३।
६. तन्त्र आफ कुण्डलिनीयोग, पृ० २४।

प्रयोजन भी है। पद्म शुद्धता तथा दिव्यता के प्रतीक माने जाते रहे हैं।[१] साधक का चिन्तन शुद्ध तथा दिव्य हो, इस आशय से पद्मों पर ध्यान किये जाने का निर्देश शास्त्रों में किया गया है। यहाँ हम अति संक्षेप में प्रत्येक चक्र के तत्त्वों का संङ्केत कर रहे हैं—

१. मूलाधारचक्र

दल ४, वर्ण वं शं षं सं, मण्डल-पृथिवी, बीज-पृथिवी (लं), लोक-भू, देवी डाकिनी, देवता-गणेश, ग्रन्थि-ब्रह्म, तन्मात्रा-गन्ध, कर्मेन्द्रिय-पायु, ज्ञानेन्द्रिय-प्राण, तत्त्व-पृथिवी, स्थान-कन्द, लिङ्ग-स्वयम्भू।

२. स्वाधिष्ठानचक्र

छः दल, बं भं मं यं रं लं वर्ण, जल मण्डल, वं जल बीज, भुवःलोक, राकिणी देवी, ब्रह्मा-देव, रस तन्मात्रा, लिङ्ग कर्मेन्द्रिय, रसना ज्ञानेन्द्रिय, जल तत्त्व, लिङ्ग-मूल स्थान।

३. मणिपूरचक्र

दश दल, डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं-वर्ण, अग्नि मण्डल, रं-अग्नि बीज, स्वःलोक, लाकिनी-देवी, विष्णु-देव, रूप-तन्मात्रा, पाद कर्मेन्द्रिय, चक्षु ज्ञानेन्द्रिय, तेज तत्त्व, नाभिमूल स्थान।

४. अनाहतचक्र

१२ दल, कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं—१२ वर्ण, वायुमण्डल, यं—वायु बीज, महः लोक, काकिनी शक्ति, ईश या रुद्र-देव, स्पर्श-तन्मात्रा- हस्त कर्मेन्द्रिय, त्वक् ज्ञानेन्द्रिय, वायुतत्त्व, विष्णु-ग्रन्थि, हृदय स्थान, बाण लिङ्ग।

५. विशुद्धचक्र

१६ वर्ण, १६ स्वर—अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः, नभ-मण्डल, हं-नभ बीज, जनः लोक, शाकिनी देवी, सदाशिव देवं, शब्द तन्मात्रा, वाक् कर्मेन्द्रिय, श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय, आकाश तत्त्व, कण्ठ-स्थान।

६. आज्ञाचक्र

दो दल, हं क्षं वर्ण, चन्द्र मण्डल, ॐ प्रणव बीज, तपः लोक, हाकिनी शक्ति, परमशिव देव, सभी तन्मात्रायें, सभी ज्ञानेन्द्रियाँ, मन अन्तःकरण, रुद्रग्रन्थि, भ्रूमध्य स्थान, इतर लिङ्ग।

७. सहस्रार

१००० दल, अ से ळ पर्यन्त सभी ५० वर्ण (अकार या विकल्प से लकार

---

१. कुण्डलिनी इन टाइम एण्ड स्पेस, पृ० ४०।

को छोड़कर) कर्णिका के मध्य चन्द्र मण्डल, चन्द्र मण्डल में त्रिकोण, त्रिकोण के मध्यशून्य या पर बिन्दु, शून्यस्थ सर्वेश, तत्रस्थ अमाकला, उसके मध्य निर्वाण कला, उसके मध्य शिवपद।

सोलह स्वर मायानुविद्ध शिव के प्रतीक हैं, क से म तक पाँच वर्ग पञ्च-तत्त्वों के प्रतीक तथा य र ल व चित् शक्ति के प्रतीक हैं। प्रत्येक वर्ण वैखरी के क्षेत्र में आने पर शिव-शक्ति का सम्मिलित रूप प्राप्त करता है।[1]

कुण्डलिनी-उत्थापन :—

षट्चक्रों का भेद कुण्डलिनी के माध्यम से होता है। क्षुब्ध कुण्डलिनी का जागरण षट्चक्र-भेदन का उपक्रम बनता है। कुण्डलिनी भी अधः और ऊर्ध्व भेद से दो प्रकार की है। अधः कुण्डलिनी ही ऊर्ध्व कुण्डलिनी को जागृत करती है।[2] किन्तु सत्य बात यह है कि प्रसुप्त अवस्था में वही शक्ति कुलकुण्डलिनी तथा सहस्रार में पहुंचने पर ऊर्ध्व कुण्डलिनी कहलाती है।

यम, नियम, आसन आदि के अभ्यास से युक्त साधक गुरु-मुख से महा-मोक्ष मार्ग के प्रकाश-क्रम को जानकर "हूँ" बीज मन्त्र के द्वारा स्वयम्भू लिङ्ग का भेदन करके ब्रह्मद्वार के मध्य विचरण करता है। साधक पवन-योग से अग्नि-रूपा कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी करता है।[3] इस समय ब्रह्मद्वार, जिसे प्रसुप्त कुण्डलिनी अपने मुख से आच्छादित किये रहती है, उद्घाटित हो जाता है। "हंस" मन्त्र के द्वारा श्वास-प्रच्छ्वास के माध्यम से गुदा का शनैःशनै आकुञ्चन करने से ब्रह्मद्वार का उद्घाटन होता है। "हंस" मन्त्र का अनुस्मरण करते हुये हृदय में दीपशिखा के समान जीव को मूलाधारचक्र में ले जाकर उसके साथ कुण्डलिनी को गतिशील करना चाहिये। साधक को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर से रहित होना चाहिये। गुरु के उपदेश से ही कुण्डलिनी-उत्थान-विधि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये—

गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।[4]

– : ० :—

---

१. तन्त्रविज्ञान, पृ० ११०।
२. वही, पृ० १०९।
३. षट्चक्र०, श्लोक ५०।
४. वही, विवरण में उद्धृत।

नवम पुष्प

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र और तत्कालीन समाजधर्म

प्रथम पटल

वर्ण-व्यवस्था

जिस समय यामल ग्रन्थों का अवतरण हुआ, उस समय का सामाजिक जीवन तत्कालीन धर्म से प्रभावित था। इसीलिये उस समय के समाज-धर्म का ज्ञान तत्कालीन आचार, गुरु-चयन, शिष्य-दीक्षा, कुमारी-पूजा, मन्त्र-ग्रहण आदि से होता है। कुछ धार्मिक क्रियाओं तथा मन्त्रों पर उच्च वर्णों का ही अधिकार था तथा कुछ तान्त्रिक क्रियायें सभी वर्णों के लिये विहित थीं। अधिकतर यह देखने में आया है कि मुख्य आचार या धर्म सभी जातियों के लिये स्वतन्त्र था—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा शूद्र एव च।
समभावं मुदा कृत्वा कुलाचारं समाश्रयेत् ॥[1]

उक्त उद्धरण से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को कुलमार्ग पर समान अधिकार था। कुछ विशेष साधन-पद्धतियों में यह संकेत किया गया है कि अमुक साधना-पद्धति का इतना अंश सब वर्णों के लिये विहित है तथा इतना अंश कुछ ही वर्णों के लिये। उदाहरणार्थ—"श्रीकण्ठन्यास" के प्रकरण में करन्यास तक शूद्र का अधिकार है। होम के लिये न तो शूद्र को अधिकार है और न स्त्रियों को—

शूद्रस्तु एतत्पर्यन्तं कार्यं होमादिकञ्च यत्।
न कुर्यात् पार्वतीनाथ ! तथा स्त्रीजन इत्यपि ॥[2]

किन्तु ज्ञान की दृष्टि से कोई वर्ण-भेद नहीं माना जाता था। यदि कोई व्यक्ति कुलाचार के ज्ञान से युक्त है या योग-साधना का ज्ञाता है, तो वह मनुष्य नहीं, देवकोटि के अन्तर्गत है और उस समय चाहे वह चाण्डाल हो या किसी अन्य नीच जाति का हो अथवा ब्राह्मण हो, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं समझना चाहिये। जाति के वाद-संवाद का परित्याग करके ज्ञानवान् व्यक्ति को चाहिये कि वह न्यास आदि क्रियायें सम्पन्न करें—[3]

यदि ज्ञानी भवेदेव स देवो न तु मानुषः।

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४१/४३।

२. वही, ४८/१३०।

३. वही, ४८/१३२।

चण्डालादिनीचजातौ स्थिरो वा ब्राह्मणोत्तमः ।।[1]

षट्-चक्र भेदन नामक सर्वोत्कृष्ट योग-साधना के अन्तर्गत वर्णों के अधिकार में भेद है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के मनुष्य मूलाधार से लेकर आज्ञा और सहस्रार तक की साधना कर सकते हैं, किन्तु शूद्र को मणिपूरचक्र[2] तक की ही साधना करने का अधिकार है—

शूद्रः कुर्यान्नघासजालमेतत्पद्मान्तमेव हि ।
तत ऊर्ध्वप्रदक्षिण्य-पश्चिमोत्तरसम्मुखे ।।[3]

तान्त्रिक ग्रन्थों में कहीं-कहीं वर्णों के पाँच भेद स्वीकार किये जाते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और सामान्य।[4] इसी प्रकार कलियुग में दो ही आश्रमों की मान्यता है—गार्हस्य और भैक्षुक।[5] आगमोक्त सभी क्रियायें गृहस्थों के लिये हैं। भैक्षुक आश्रम में वेदोक्त विहित दण्ड-धारण आदि का विधान है। दोनों ही आश्रमों में ब्राह्मण आदि सभी वर्णों का अधिकार है।[6] ब्राह्मण तथा अन्य सभी वर्णों को शैव मार्ग के अनुसार अपने-अपने लिये विहित क्रियाओं को सम्पन्न करना चाहिये। कहीं-कहीं तन्त्रों में शूद्रों से अन्य जातियों की भिन्नता के कारण वैदिकी सन्ध्या का विधान किया गया है।[7] इससे स्पष्ट होता है कि शूद्रों को वैदिक क्रियाओं पर अधिकार नहीं था।

प्रत्येक वर्ण को अपने-अपने वर्ण में ब्राह्म विवाह तथा भोजन आदि करना चाहिये। शूद्र को प्रणव, आत्ममन्त्र, गुरुमन्त्र, अजपामन्त्र, पितृमन्त्र तथा सिद्धिप्रद मातृमन्त्र नहीं देना चाहिये। यदि उसका उल्लंघन किया जाता है तो वह शूद्र नरकगामी होता है तथा मन्त्रदाता ब्राह्मण भी अधोगति को प्राप्त होता है।[8] शिष्य की योग्यता के प्रसङ्ग में वर्णों के महत्व का ज्ञान होता है। ब्राह्मण शिष्य शीघ्र दीक्षा का अधिकारी होता है। गुरु की भावना करने वाला ब्राह्मण एक वर्ष में, क्षत्रिय दो वर्ष में, वैश्य तीन वर्ष में तथा शूद्र चार वर्ष में शिष्य होने की योग्यता प्राप्त करता है।[9]

—: o :—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, ४८/१३१।
२. वही, ४८/२, ५, १४, १०६, १२५, १९९।
३. वही, ४८/१४०।
४. महानिर्वाणतन्त्र, ८/५।
५. वही, ८/८।
६ वही, ८/१२।
७. वही, ८/८८।
८. रुद्रयामल उ० त०, ३/११-१२।
९. वही, २/९२।

द्वितीय पटल

गुरु का महत्व

आध्यात्मिक जीवन के पथ पर भी मनुष्य का सम्बन्ध साक्षात् भगवान् के साथ अथवा भगवत्-शक्ति के साथ है, इन दोनों के बीच गुरु नामक किसी व्यक्ति के लिए कहाँ.........? किन्तु जीवन पथ पर एक अवस्था विद्यमान रहती है जब जीव को शक्ति, ज्ञान, भाव आदि सभी विषयों में परमुखापेक्षी होने को बाध्य होना पड़ता है। ऐसा ही प्रकृति का नियम है। जीवन-पथ पर पूर्ण और चरम स्थिति प्राप्त होने पर स्वाधीनता का विकास होता है। आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था के अतिरिक्त गहन और दुर्गम पथ पर बाह्य शक्ति का सहारा लिए बिना अग्रसर होना सम्भव नहीं।[1]

गुरु परोक्ष-अपरोक्ष सम्पूर्ण ज्ञान का दाता, कर्मदाता और भक्तिरसदाता है। गुरु और अखण्ड सत्यबुद्धि की दृष्टि से थोड़ा पृथक् हैं। अखण्ड सत्य का प्रकाश करने वाला सद्गुरु है। खण्ड सत्य के स्तर के समान गुरुवर्ग में भी श्रेणी-विभाग होते हैं।

गुरु का पहला कार्य शिष्यरूप जीव के दुःखों की निवृत्ति की व्यवस्था करनी है। आर्थिक जगत् में भेद-ज्ञान के अधीन होकर कर्म-सस्कार-सम्पन्न कर्तृत्वाभिमान से पुष्ट जीव अनादिकाल से कर्म करता हुआ और साथ ही साथ कृत कर्मों का फल भोगता हुआ आ रहा है। इसी के कारण उसकी संसारलीला का अन्त नहीं होता तथा जन्म-मृत्यु और काल-चक्र के आर्वत्तन की निवृत्ति नहीं होती। जीव चिदात्मक है, लेकिन माया के प्रभाव से जड़ सत्ता को भी चित् सत्ता मानकर भीषण भूल करता है। "मैं जड़ से पृथक् हूँ" इसे पहचानने पर ही दुःखमय काल-चक्र से निवृत्ति मिल सकती है जो अनुग्रहपूर्वक ज्ञान-प्रदान कर इस अज्ञान से उसे विमुक्त करते हैं वे गुरु हैं। यही विवेक ज्ञान है। विवेक ज्ञान में भी तारतम्य है। विशुद्ध विवेक ज्ञान से आत्मा की निर्मल स्वरूप में स्थिति होती है। इसे ही कैवल्य, मुक्ति या निर्वाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान प्राप्त करने पर सद्गुरु दूसरे को उपदेश देता है, लेकिन इसके लिए ज्ञान की सहायिका इच्छा और क्रियारूप दो शक्तियों की आवश्यकता है। जो कृपाहीन हैं वे दूसरे के दुःख-निवृत्ति के लिए क्यों उपदेश देने में प्रवृत्त होंगे। इच्छा का उद्भव होने पर ही वह क्रिया के रूप से स्थूल आकार धारण करती है। इच्छा और क्रिया की उपस्थिति ही सद्गुरु का लक्षण है।

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० २४१।

सद्गुरु की इच्छा और क्रिया शक्ति के प्रभाव से शिष्य के जीवन पथ या साधन-मार्ग की सम्पूर्ण विघ्नवाधायें दूर हो जाती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ[1] में गुरु-माहात्म्य, गुरु के लक्षण तथा दोष, गुरु का शिष्य के प्रति कर्तव्य शिष्य के गुण तथा दोष आदि पर पर्याप्त चर्चा की गई है। तदनुसार गुरु साक्षात् परमहंस है। उसका वाक्य त्रैलोक्यपावन होता है। उसकी पवित्र वाणी को सुनकर साधक योगी की अवस्था प्राप्त कर योग की सिद्धि प्राप्त करता है। गुरु के श्रीपद् कमलों में जिसकी भक्ति दृढ़ हो जाती है वही कामना त्यागी होकर भाव-त्रय का ज्ञान प्राप्त करता है।

भैरवी का कथन है कि जो साधक गुरु-पद कृपा से विहीन रहते हैं वे मेरी आज्ञा से विनाश को प्राप्त होते हैं। गुरु की कृपा से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है। भैरवी गुरु के स्वरूप की ही है। उसमें महादेवी का वास रहता है। गुरु परमात्मस्वरूप हैं।

गुरु की कृपा से महान् शक्तितोष प्राप्त होता है। शक्तितोष मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। सर्वजगत् का मूल गुरु ही है। सभी तपस्याओं का मूल गुरु है न तो गुरु की आज्ञा का उल्लङ्घन करना चाहिये और न ही प्रतिवाद करना चाहिये। गुरु की आज्ञा का पालन अहर्निश, दासवत् करना चाहिये। गुरुक्त कार्यों के प्रति कभी भी उपेक्षाभाव नहीं रखना चाहिये। सदैव उसका अनुगामी होकर आदेश-पालन करना चाहिये।

जो गुरुवाक्य का श्रवण नहीं करता या पराङ्मुख हो जाता है, वह रौरव-नरकगामी होती है। जो गुरोराज्ञा का उल्लङ्घन करता है वह घोर नरक में जाकर शूकर के स्वरूप को प्राप्त करता है। जो गुरु की निन्दा करता है, गुरु से द्रोह करता है अथवा जो उसका अप्रिय होता है, उसका साथ कभी नहीं करना चाहिये। जो गुरु के द्रव्य का अभिलाषी होता है तथा गुरु-स्त्री-गमन करता है उसका पतन शीघ्र ही होता है, इसका प्रायश्चित नहीं हो सकता। जो गुरु को दोषी कहता है और उसकी निन्दा करता हुआ उसे शत्रु समझता है वह निर्जन अरण्य में राक्षस होता है।

गुरु के प्रति कर्तव्य

भैरवी कहती हैं कि पादुकामन्त्र जिसके जिह्वा पर सदा रहता है उसे अनायास ही पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति होती है। जो श्रीगुरु के चरणकमल का

---

१. रुद्रयामल उ० त०, १/२२४-२४५।

सदा ध्यान करता है उससे अधिक अन्य का भक्त मेरी दृष्टि में भोग एवं मोक्ष के योग्य नहीं होता। दोनों के एक ग्राम में निवास करने पर शिष्य त्रिसन्ध्या के समय गुरु को प्रणाम करे। एक ही स्थान में गुरु के साथ रहता हुआ शिष्य नित्य गुरु के पास जाकर प्रणाम करे। सप्तयोजन क्रोश दूरी पर रहने वाला शिष्य मास तक नित्य प्रणाम करे। गुरु-स्थान से बहुत दूर रहने वाला शिष्य नित्य, मन बुद्धि और शरीर से उस दिशा में प्रणाम करे जिस दिशा में श्रीगुरु के चरण विराजमान् हों, गुरु के मुख से ही विद्या, उसके अङ्गमन्त्र, मुद्रा, तन्त्रादि की शिक्षा प्राप्त करना चाहिये। गुरु के लिये अपने आसन का त्याग कर देना चाहिये। गुरु को अपनी शक्ति के अनुसार भक्षणीय वस्तु यदि दी जाय तो वह अल्पवस्तु भी महत्तुल्य होती है किन्तु यदि बिना गुरुभक्ति के अपना सर्वस्व ही दे दिया जाय तो नरक की प्राप्ति होती है। गुरुभक्ति द्वारा इन्द्रत्व पद मिलता है और अभक्ति द्वारा शूकरतत्त्व की प्राप्ति होती है। गुरुभक्ति से परे कुछ नहीं है। बिना गुरु-पूजा के कोई पुण्य व्यर्थता को प्राप्त होते हैं।

मनसा वाचा कर्मणा गुरु के हित में संलग्न रहना चाहिये। गुरु का अहित करने वाला विष्ठा में कीड़ा होकर उत्पन्न होता है। मन्त्र का त्याग करने वाला मृत्यु को प्राप्त होता है। गुरु और मन्त्र दोनों का परित्याग करने वाला रौरव-नरकगामी होता है। गुरु के रहते हुये यदि कोई अन्य देवता की पूजा करता है वह घोर नरक की ओर प्रयाण करता है और उसकी पूजा विफल हो जाती है। गुरु के ही समान उसके पुत्र और पुत्री के प्रति भी आचरण करना चाहिये। गुरु चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, चाहे मार्ग पर स्थित हो या अमार्ग पर, वह परम देवता है। ब्रह्मदाता को उत्पन्न करने वाले की अपेक्षा ब्रह्म का ज्ञान कराने वाला पिता श्रेष्ठ होता है। इसलिये पिता से भी अधिक प्रिय गुरु को मानना चाहिये। भैरवी अपने को गुरु और देवाधीन मानती हैं। कुलशास्त्र या अन्य शास्त्र के मन्त्रों में श्रीगुरुत्व पद की कामना करने वाले को अधिकारी नहीं माना गया है। श्रीगुरु माता-पिता, स्वामी, बान्धव, सुहृद् और शिवरूप हैं। ऐसा ध्यान करके सर्वात्मन् गुरु का नित्य मन से भजन करना चाहिये। वही स्थूल शुक्ल स्फटिकमणि की प्रभा से युक्त एक परब्रह्म है। गुरु सभी का नियत है। आत्मस्वरूप गुरु की शरण में जाना चाहिये। सभी भावों में गुरु भी एक भाव है। गुरु के वाक्य में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये, यदि कोई सन्देह करता है तो वह विनाश को प्राप्त होता है। गुरु-वाक्य के प्रति सन्देहरहित होकर सर्वत्यागी व्यक्ति परमपद को प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति महीने भर में ही खेचरत्व को प्राप्त करता है।

गुरु के लक्षण तथा दोष[1]—

मन के निग्रह से युक्त, इन्द्रियों के दमन से सम्बन्धित, कुलीन, पवित्र शरीर-

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २/५०-७७।

वाला, विनीत, शुद्धवेषधारी, शुद्ध आचरणवाला, अच्छी प्रतिष्ठावाला विद्वान् एवं बुद्धिमान पुरुष ही "गुरु" पद का अधिकारी होता है। वह आश्रम में निवास करने वाला, ध्याननिष्ठचित्त वाला, मन्त्र-तत्वों का विशारद, वशी, अनुग्रह एवं निग्रहवान् तथा मन्त्रों का अर्थ सहित जप करने वाला होना चाहिये। रोग-रहित, अहङ्कार से रहित, विकास से रहित, पण्डित, वाक्पति, लक्ष्मीवान् एवं यज्ञ के विधान को करने वाला गुरु-पदवी को प्राप्त करता है। सद्गुरु को नित्य पुरश्चरण करने वाला हित-अहित से दूर, सिद्ध महात्माओं के सभी लक्षणों से युक्त होना चाहिये। प्राणायाम आदि क्रिया करने वाला, ज्ञानवान्, मौनव्रतधारी, विरागवान्, तपस्वी, सत्यवादी तथा सदा ध्यानपरायण व्यक्ति ही गुरु-संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। उसे आगम के अर्थों को जानने वाला, सत्पात्र को दान देने वाला होना चाहिए। लक्ष्मीवान् एवं धैर्यवान् ही गुरु कहलाने का अधिकारी होता है।

रूपवर्जित, पर-तत्त्व के आनन्द से रहित, कुष्ठरोगविशिष्ट, क्रूर कर्म करने वाला, लोगों द्वारा निन्दित, रोगी गुरु का परित्याग कर देना चाहिए। लोगों की हिंसा करने वाला, अष्ट प्रकार के कुष्ठ रोग से ग्रस्त, स्वर्ण-विक्रेता, चोर, बुद्धि-हीन एवं सुखपूर्वक रहने वाले गुरुपद से च्युत हो जाते हैं। कुलाचार से रहित, अशान्त, कलङ्कयुक्त, नेत्र-रोग से पीड़ित, परस्त्री के साथ गमन करने वाला, स्त्री-जित्, असंस्कारी वक्ता एवं अधिक अङ्गवाला गुरुपद को नहीं प्राप्त कर सकता। कपटी आत्मा वाला, अतिवाचाल, हिंसक, अधिक भोजन करने वाला, कृपण तथा असत्य बोलने वाला गुरुपद का अधिकारी नहीं है। भाव-त्रय से हीन पञ्चाचार से विवर्जित, दोषसमूहों से समन्वित अङ्ग वाले गुरु की पूजा नहीं करनी चाहिए।

गुरु को अपनी शरण में आए हुए शिष्य की एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए, तब शुभ और अशुभ सभी लक्षणों का विचार करना चाहिए। शिष्य की गुणशीलता और गुणहीनता को जानकर गुरु शिष्य को मन्त्र दें। गुरु को शिष्य का संग्रह बहुत विचार करके करना चाहिए, अन्यथा वह शिष्य के ही दोष से नरकस्थ हो जाता है।

—:०:—

शिष्य का स्वरूप (गुण तथा दोष)

गुरु को माता-पिता, स्वामी, बान्धव, सुहृद्, शिव और ब्रह्म समझने वाला ही शिष्य समझा जाता है। सत् शिष्य ही गुरु के वाक्यों में श्रद्धा और विश्वास करता है। जो गुरु के समीप रहकर उसकी सेवा करता हुआ उससे ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करता है, वही उसका उत्तम शिष्य है और वही सद्ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी भी है। देवता गुरु-स्वरूप होता है और गुरु देवता-स्वरूप। शिष्य को चाहिए कि उन दोनों में भेद न करें। एक ग्राम में यदि दोनों निवास करें तो शिष्य तीनों सन्ध्या के समय गुरु को प्रणाम करें। क्रोशैक दूरी पर स्थित शिष्य पाँच पर्वों पर गुरु को प्रणाम करे। एक योजन से लेकर १२ योजन या इससे भी अधिक दूर निवास करने वाला शिष्य भक्तिपूर्वक योजन की संख्या के क्रमानुसार उतने महीने गुरु को प्रणाम करें। गुरु के प्रति इस प्रकार की भावना करने वाला विप्र एक वर्ष में योग्य शिष्य या अधिकारी होता है। इसी भावना के साथ राजा दो वर्ष में योग्य हैं। इसी प्रकार वैश्य तीन वर्ष में और शूद्र चार वर्षों में शिष्य की योग्यता प्राप्त करता है।

कुशिष्य सिद्धि-पूजा के फल को नष्ट कर देता है। जो कामुक, क्रोधी, लोगों द्वारा निन्दित एवं मिथ्यावादी होता है, वह शिष्य की श्रेणी से परे ही रहता है। अविनीत, सामर्थ्यहीन, प्रज्ञाहीन, धन का लोभी, जड़ एवं विद्याशून्य, कलि-युग के दोषों से युक्त, वैदिक क्रियाओं से विहीन, आश्रम के आचार से रहित, अशुद्ध अन्तःकरण वाला शिष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। गुरु के प्रति श्रद्धा से विहीनं, धैर्यरहित, सच्चरित्रवर्जित, गुणरहित, परस्त्री के साथ गमन करने वाला, असद्बुद्धिवाला, भक्तिरहित, दूत का सा चित्तवाला शिष्य गुरु के द्वारा त्याग दिया जाना चाहिए। यदि कोई गुरु ऐसे शिष्य का परित्याग धनदान की प्राप्ति के लोभ से नहीं करता है तो वह गुरु भी शिष्य के ही समान नारकी तथा पापी संज्ञा को प्राप्त करता है। ऐसे पातकी शिष्यों को प्राप्त कर वह असिद्ध हो जाता है और अकस्मात् नरकगामी होता है।[1]

—: ० :—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २/७८-८४।

चतुर्थ पटल

नारियों की स्थिति

रुद्रयामल उत्तरतन्त्र भैरव-भैरवी के सम्वाद से वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करता है। जिज्ञासु भैरव हैं। भैरवी, भैरव के प्रश्नों का समाधान करती हैं। समस्त उत्कृष्ट कोटि की साधनायें तथा रहस्यमय तथ्य भैरवी के मुख से निःसृत हुए हैं। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि ग्रन्थ की अधिष्ठातृ-देवी भैरवी हैं। इस समय शक्ति की उपासना को विशेष महत्व दिया गया, चाहे वह कुण्डलिनी महाशक्ति की अति उच्चस्तरीय साधना के रूप में रही हो या कुमारी-चर्या आदि की सामान्य उपासना-पद्धति के रूप में। स्वाभाविक रूप से दीक्षाग्रहण, मन्त्र-ग्रहण तथा कुमारी पूजा के प्रसङ्ग में नारियों की सामाजिक स्थिति का सङ्केत मिल जाता है।

दीक्षा आदि कार्यों में नारियों का महत्वपूर्ण स्थान था। वे दीक्षा-ग्रहण भी कर सकती थीं तथा दीक्षा-प्रदान भी कर सकती थीं। इस कार्य में कुछ नियम अवश्य थे। जैसे कोई स्त्री अपने पति से दीक्षा नहीं ले सकती थी। पुत्री अपने पिता के द्वारा दीक्षा नहीं ग्रहण कर सकती थी। उक्त नियम के कहीं-कहीं पर अपवाद भी मिलते हैं। यथा—यदि पति सिद्धमन्त्र वाला है, तो वह अपनी पत्नी को दीक्षा प्रदान कर सकता है क्योंकि शक्ति से युक्त होने के कारण वह पति साक्षात् भैरव-रूप हो जाता है।[1]

स्त्रियाँ दीक्षादात्री भी होती थीं अर्थात् गुरु-कोटि में शोभा और सम्मान प्राप्त करती थीं। स्त्रियों के गुरु होने में एक नियम अवश्य था कि विधवा स्त्रियों को इस पद से बचाया जाता था, किन्तु इसमें अपवाद भी थी। यदि कोई स्त्री विधवा हो, किन्तु वह सन्तानवाली हो और सिद्धमन्त्र वाली हो तो उसे भी दीक्षा देने का अधिकार है।[2] स्वप्न में यदि किसी स्त्री ने मन्त्र दिया है, तो उस मन्त्र का संस्कार करना चाहिये, तभी वह शुद्ध होता है, क्योंकि स्वप्न में गुरु-शिष्य में दीक्षा का नियम नहीं हैं किन्तु यदि माँ अपने पुत्र को स्वप्न में दीक्षित करती हैं तो उस पुत्र को पुनः दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं होती।

साध्वी, सदाचारपरायणा, गुरुभक्ता, जितेन्द्रिया, मन्त्र के अर्थ और तत्व का ज्ञान रखने वाली, सुशीला, पूजारत, सभी शुभ लक्षणों से युक्त, जप करने वाली, कमलनयना, रत्न और अलङ्कारों से युक्त, शोभन, लोकरञ्जित, शान्ता,

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २/८६-८७।

२. वही, २/११०-११२।

कुलीना, कुलजा, चन्द्रकान्ति वाली, अनन्तगुणों से सम्पन्न, अतिप्रिय, गुरुरूपा, मुक्तिदात्री, शिवज्ञान का निरूपण करने वाली स्त्रियाँ गुरु होने के योग्य होती थीं।[1] यदि कोई सती और सन्तानवाली सधवा अपनी प्रवृत्ति से किसी को मन्त्र देती है तो उसे सद्यः अष्टसिद्धि की प्राप्ति होती है। यदि माता अपने पुत्र को मन्त्र देती है तो इससे भी अष्टसिद्धियों की प्राप्ति होती है। माता द्वारा पुत्र को मन्त्र देना अति दुर्लभ हैं क्योंकि यह दीक्षा अति शुभ मानी जाती है।[2]

कुमारी-पूजा के प्रकरण में कन्या-चयन का विधान है। उक्त कन्या-चयन में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं था। अन्य पूजा-पद्धतियों में तो कुछ पर शूद्रों का अधिकार वर्जित बताया गया है यथा—होमादि, किन्तु यह नारी-जाति का महत्व और सम्मान ही था कि कुमारी-चर्या में कुमारी-चयन-हेतु किसी प्रकार वर्ण भेद नहीं रखा जाता था। जो कोई भी कन्या आश्रम में निवास करने वाली हो, वह पूजा के लिये योग्य है। नियम यही है कि वह सुन्दरी, परमानन्द की वृद्धि करने वाली, विजय प्रदान करने वाली, कलारात्रिस्वरूपा, श्रीरूपा, गौरीरूपा, पक्ताङ्गवाली, लोकरञ्जिता हो, चाहे वह देवकुल में उत्पन्न हुई हो, चाहे राक्षस-कुल में, या नट-कुल, रजक-कुल, नापित-कुल, गोपाल-कुल, ब्राह्मण-कुल, शूद्र-कुल, वैद्य-कुल, वणिक्-कुल अथवा चण्डाल-कुल में उत्पन्न हुई हो। पूजा की दृष्टि से सभी समान हैं।[3] कुमारी-पूजन के बाद उनके सम्मानार्थ उन्हें दक्षिणा देने का भी विधान है।[4] कन्या का दान तो मुक्ति प्रदान करने वाला कहा गया है, किन्तु कोटि कन्या-दान से जो फल प्राप्त होता है, वह फल कामिनी की पूजा से सद्यः प्राप्त होता है—

कोटिकन्याप्रदानेन यत् फलं लभते नरः।
तत् फलं लभते सद्यः कामिनी-परिपूजनात्।[5]

इसीलिये स्मृति ग्रन्थों में कहा गया है कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:"। जिस प्रकार स्त्रियों को दीक्षा देने का अधिकार है, उसी प्रकार दीक्षा-ग्रहण करने का भी अधिकार हैं। दीक्षा के ग्रहण में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकन्या का भेद नहीं करना चाहिये। वह सुन्दरी हो, उचित वेशभूषा से युक्त

---

१. रुद्रयामल उ० त०, २/१०६-११०।
२. वही, २/११३-११७।
३. वही, ७/३-६।
४. वही, ७/३८।
५. वही, २८/३६।

हो, मानिनी हो, अति पिङ्गला न हो, रजकी, नर्तकी या कौला हो, श्याम अङ्ग-वाली, स्थूल शरीरवाली, सङ्केत-स्थल पर पहुंचने वाली तथा विदग्धा हो, चञ्चला हो या कुलमार्गप्रवर्तिका हो, यदि वह सर्वाङ्गसुन्दरी, चारुनेत्रा तथा विहसन्मुखी है, तो उसे दीक्षा अवश्य देनी चाहिये। शुद्ध लोक तथा कुल में निवास करने वाली तथा योग-परायणा स्त्री साक्षात् देवी डाकिनी स्वरूप होती है, उसे तुरन्त महामन्त्र देना चाहिये।[1] कुछ विशेष शक्तियों की सिद्धि इस तथ्य का अपवाद है। यथा—भैरवी शक्ति की पूजा में सुन्दर ब्राह्मणी होनी चाहिये।[2]

—: ० :—

१. रुद्रयामल उ० त०, २८/४५-५० ।
२. वही, २८/६३ ।

वेद की प्रशंसा और वैष्णव आचार का सम्मान

तान्त्रिक वाङ्मय की यह उदारता कही जायेगी कि उसमें यत्र-तत्र वैदिक क्रियाओं के महत्व, वेदों की प्रशंसा, वैष्णव मत तथा आचार का सम्मान किया गया है। जहाँ एक ओर तन्त्र अपने मार्ग को "वेदानामप्यगोचरम्", "सिद्धिमार्गं न जानामि वेदमार्गपरो ह्यहम्", "तन्त्राशय मम क्षिप्रं दुर्बुद्धि वेदगामिनीम्", "न सिद्धिर्वेदकार्यं बिना"[1] आदि उद्धरणों से वैदिक मार्ग से श्रेष्ठ कहा है तथा जहाँ वेद से श्रेष्ठ वैष्णव मत, वैष्णव से उत्तम शैव, शैव से श्रेष्ठ दक्षिण, दक्षिण मार्ग से उत्तम वाम, वाममार्ग से श्रेष्ठ, सिद्धान्तमत, सिद्धान्त से उत्तम "कौल" को बताया गया है,[2] वहीं दूसरी ओर अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के स्वरूप, उसके मन्त्र तथा महत्व पर चर्चा की गई हैं।[3]

ब्रह्मतत्त्व :—

वह ब्रह्म सच्चित् रूप तथा विश्वमय है। वह निर्विशेष, अवाङ्मनसगोचर, समाधिगम्य, द्वन्द्वातीत, निर्विकल्प, सृष्टिस्थिति-संहार का कारण तथा स्वरूप-बुद्धिवेद्य है। परब्रह्म के जप का मन्त्र इस प्रकार है—

"ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म"

यह सभी मन्त्रों से श्रेष्ठ है तथा चतुर्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला है। इस मन्त्र के जप के लिये तिथि, नक्षत्र, राशि तथा कुलाकुल नियम के विचार की आवश्यकता नहीं है। यह मन्त्र सर्वथा सिद्ध है। इस मन्त्र का जप करने वाला सभी तीर्थों में स्नान करने के समान है। वह सभी यज्ञों में दीक्षित, सभी शास्त्रों में निष्णात तथा सभी लोकों में प्रतिष्ठित है। केवल उक्त मन्त्र के ग्रहण से ही मनुष्य ब्रह्ममय हो जाता है। उक्त मन्त्र से आवृत्त मनुष्य ग्रहों में सूर्य के समान होता है। ब्रह्मनिष्ठ के लिये कुछ भी अगोचर नहीं हैं। उक्त मन्त्र के अर्थ तथा चैतन्य-पद्धति को जो नहीं जानता है, उसे मन्त्र का शतलक्ष जप करने पर भी मन्त्र-सिद्धि नहीं होती। मन्त्र में अकार जगत् का पालक है, उकार संहारकर्त्ता है, मकार जगत् का स्रष्टा है। सत् स्थायि वाचक है, चित् चैतन्य सूचक है, एक अद्वैतवाचक तथा ब्रह्म वृहत्व-वाची है। मन्त्र के अधिष्ठातृ देवता का ज्ञान मन्त्र-चैतन्य है। वह देवता अवितर्क्य, निरातङ्क, वाचातीत तथा निरञ्जन है। यह मन्त्र अनेक प्रकार का हो सकता है—

१. ॐ सत् ॐ चित् ॐ एकम् ॐ ब्रह्म (प्रणव सहित)

---

१. रुद्रयामल उ० त०, १७/१२१-१२८-१२९।

२. कुलार्णवतन्त्र, २/७-८।

३. महानिर्वाणतन्त्र, ३/६-३९।

२. सत् चिद् एकम् ब्रह्म (प्रणव रहित)

३. ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म (प्रणव-असम्बद्ध समस्त पद)

४. सच्चिदेकं ब्रह्म (प्रणव-असम्बद्ध समस्त पद)

५. ॐ सद्ब्रह्म ॐ चिद्ब्रह्म ॐ एकं ब्रह्म

६. ॐ सच्चिद् ॐ चिदेकं सद्ब्रह्म चिद्ब्रह्म एकं ब्रह्म सच्चिद् चिदेकं ब्रह्म।

वह ब्रह्म अन्तर्यामी तथा निर्गुण है। इस प्रकार तन्त्र में जिस ब्रह्म का निरूपण किया गया है वह अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

ब्रह्मविद्या :—

प्रसन्न बुद्धि से वायुपान-रस की अनुभूति करने वाली विद्या "ब्रह्मविद्या" कही जाती है। इसके लिये अष्टाङ्गसाधन के अभ्यास की अपरिहार्यता है। अष्टाङ्गयोग का साधक सूक्ष्मवायु का अभ्यासी होने पर ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है। विजया रस तथा अन्य ब्रह्मासव-सेवन के बिना वायु-पान के आनन्द से युक्त साधक को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर से परमानन्द में लीन रहने वाला आनन्दाश्रु के जल से अभिषिक्त साधक साक्षात् ब्रह्मशरीर धारण करने वाला होता है। श्रीनाथ में एकान्त भक्ति करने वाला, जीवात्मा तथा परमात्मा में ऐक्य की अनुभूति करने वाला, वायवी शक्ति के आश्रित होकर ध्यान में परायण, वशी तथा ज्ञान रस से आप्लावित ब्रह्मशरीरधारी कहा जाता है।[1]

अथर्ववेद-प्रशंसा :—

अथर्ववेद सभी वर्णों का सार तथा शत-आचार से समन्वित है। अथर्ववेद से तमोगुणरूप सामवेद तथा सामवेद से सत्त्वमय यजुर्वेद की उत्पत्ति होती है, यजुर्वेद से रजोगुणमय ऋग्वेद की अवस्थिति जाननी चाहिये। यह उत्पतिक्रम विलोमरूप हैं। पररूप से पूर्वरूप के ज्ञान की शृङ्खला में इस प्रकार का क्रम हो सकता है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अथर्ववेद सामवेद के अस्तित्व को सिद्ध करने का हेतु है, इसी प्रकार सामवेद यजुर्वेद का तथा यजुर्वेद ऋग्वेद के अस्तित्व को सिद्ध करने का हेतु हैं। अथर्ववेद में सभी देव, जल, आकाश तथा भूचर समस्त जीव, कामविद्या, महाविद्या तथा ऋषिगण निवास करते हैं। अथर्ववेद यहाँ पर प्रतीक रूप में भी निर्दिष्ट है। अथर्ववेद चतुर्थवेद है। यह चार दलों वाले मूलाधारचक्र का प्रतीक है, जहाँ पर कुण्डलिनी की अवस्थिति है। यह शक्ति चक्र से युक्त तथा दिव्यभावरूप है। यही वीर तथा पशुभावरूप भी है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवरूप है। यह चक्र चतुर्वेद से निर्मित दृढ़ शरीर वाला है। प्राणायाम के समय रजोगुणविशिष्ट ब्रह्म पूरक के द्वारा, सत्त्वगुणविशिष्ट विष्णु कुम्भक के द्वारा तथा तमस् गुणविशिष्ट शिव रेचक के द्वारा मूलाधारस्थ २४ तत्त्वों की रक्षा करते हैं। यहां पर २४ तत्त्व पृथिवी तत्त्व से लेकर प्रकृति-पर्यन्त हैं। देव-

---

१. रुद्रयामल उ० त०, १५/६-१३।

निलय रूप शरीर में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के द्वारा कल्पित माया को जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है।

याज्ञिक-लक्षण (वैष्णव आचार का सम्मान) :—

आज्ञाचक्र की साधना में वैष्णव आचार को सम्मान दिया गया है। कहा जाता है कि आज्ञाचक्र में परम गुरु की आज्ञा का बोध होता है। साधक को दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है। आज्ञाचक्र की सिद्धि से जगत् में साधक के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है साधक को वेद स्मृति की क्रियाओं से युक्त विधि तथा श्रुतिसम्मत मन का जप-ध्यान करने वाला वैष्णव कहा जाता है। वैष्णव को शत्रु-मित्र में समान भाव रखना चाहिये। यजुर्वेद में विहित कर्मकाण्ड में निष्ठा रखने वाला, अन्य वैदिक आचारों से युक्त तथा सदा साधुसंसर्ग रखने वाला "वैष्णव" कहलाता है। जो विवेक धर्म-विद्या का जिज्ञासु है, कृष्ण में चित्त की एकाग्रता करके शिव के समान कर्म करता है, वह वैष्णव है।[1]

याज्ञिक-लक्षण के लिये यह निर्दिष्ट है कि वह ब्राह्मण हो, धीर हो, मानस-प्रेम तथा अभिलाषा से युक्त हो, वन में निवास करने वाला हो और नवीन तरुओं से शोभित घोर विपिन में एकाकी होकर जीवात्मा तथा परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति करने वाला हो। प्राणायाम में अभ्यस्त साधक को ही याज्ञिक कहा गया है। प्राणायाम को यज्ञ का रूपक दिया गया है। जिस प्रकार यज्ञ में अग्नि, कुण्ड तथा हविष् की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्राणायामरूप यज्ञ में प्राणवायु अग्नि रूप है, यह कुम्भक की अवस्था है। पूरक चन्द्र का प्रतीक है, प्राणायाम की अन्तिम अवस्था रेचक को सूर्य रूप कहा गया है। पुनः पुनः पूरक का योग चन्द्र का तैजस हविष् है। इस प्रकार वायवी स्थल में निरन्तर होम करने वाला "मौनी याज्ञिक" कहलाता है। तीव्र सूर्य-अग्नि की किरण रूप आत्म-चन्द्र से युक्त पूरक स्थान में होम करने काला याज्ञिक कहा जाता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि प्राणायाम का अभ्यस्त साधक एक प्रकार याज्ञिक है। याज्ञिक का एक स्वरूप और भी है। जो साधक सुरा को शक्तिरूप, शिव को मांसरूप, उसके भोग करने वाले को भैरवरूप समझता है तथा जो शक्तिरूप अग्नि में शिवरूप मांस का हवन करने वाला है, वही याज्ञिक है। इससे स्पष्ट होता है कि शक्ति और शिव के ऐक्य की अनुभूति करने वाला ही याज्ञिक है। कुलमत-विहित कुण्डस्थ कुलाग्नि में विधिवत् पूर्ण योग करने वाला भी "याज्ञिक" कहलाता है।[2]

—: ० :—

---

१. रुद्रयामल उ० त०, १५/३८-४२।

२. वही, १५/४३-४६।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

(क) मूल (संस्कृत) ग्रन्थ-सूची

अथ वगला तन्त्रम् : बाबू बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर, राजा दरवाजा, वाराणसी।

आगमप्रामाण्यम् : यामुनाचार्य, ३०, लाजरस ऐण्ड को० द्वारा प्रकाशित, प्राप्तिस्थान—मास्टर खेलाड़ी लाल ऐण्ड सन्स, कचौड़ी गली, बनारस।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (भाग-१) : ईशान शिवगुरुदेव मिश्र, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ६९, त्रिवेन्द्रम्, १९२० ई०।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (भाग-३) : ईशानशिवगुरुदेव मिश्र, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ७७, त्रिवेन्द्रम्, १९२२ ई०।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी (भाग-३) : काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ६५, काश्मीर (श्रीनगर), १९४३ ई०।

उड्डीशतन्त्रम् : गोवर्धन पुस्तकालय, मथुरा।

कुलार्णवतन्त्रम् : सं०—तारानाथविद्यारत्न तथा आर्थर एवेलोन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९७५ ई०।

कुलचूड़ामणितन्त्रम् : सं—गिरीशचन्द्र वेदान्ततीर्थ, संस्कृत प्रेस डिपोजिटरी, ३०, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता।

गुप्तसाधनतन्त्रम् : सं०— श्री भद्रशील शर्मा, कल्याण मन्दिर प्रयाग, सम्वत् २०२७।

गोरक्ष पद्धति : प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, ७बी खेतबाड़ी, बम्बई, सम्वत् २०२४।

गोरक्ष संहिता : संस्कृतिसंस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली, १९७४ ई०।

घेरण्डसंहिता : घेरण्डयोगीन्द्रविरचिता, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई, सम्वत् २०१३।

चक्र कौमुदी : बदरीनाथविरचिता, सं०—जीवेश्वर झा, प्रकाशक—डा० गयाचरण त्रिपाठी, प्राचार्य; गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद, १९७९ ई०।

चिद्विलास : श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद्, दतिया, (म०प्र०), १९७७ ई० ।

जपसूत्रम् : स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती (हिन्दी अनुवाद कु० प्रेमलता शर्मा) भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ई० ।

ज्ञानार्णवतन्त्रम् : आनन्दाश्रम—संस्कृत-ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ६९, पूना, १९५२ ।

तत्ववैशारदी (पातञ्जल-योगदर्शनम्) : वाचस्पतिमिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ई० ।

तन्त्रसंग्रहः (द्वितीयो भागः) : योगतन्त्र-ग्रन्थमाला (४), सं०—म० म० गोपीनाथ कविराज, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७० ई० ।

तन्त्रसंग्रहः (तृतीयो भागः) : योगतन्त्र-ग्रन्थमाला (६), सं०—डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७९ ई० ।

तारारहस्यम् : श्री ब्रह्मानन्द परमहंस परिव्राजकविरचितम्, प्रकाशक-जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलिकाता, १८९६ ई० ।

दत्तात्रेयतन्त्रम् : भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, वाराणसी, सम्वत् २०१७ ।

नारदीय संहिता : केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९७१ ई० ।

नित्याषोडशिकार्णवः : सं०—व्रजवल्लभ द्विवेदी, योगतन्त्र, ग्रन्थमाला (१), वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६८ ई० ।

निर्वाणतन्त्रम् : सं०—श्री भद्रशील शर्मा, कल्याणमन्दिर, प्रयाग, सम्वत् २०२१ ।

न्यायपरिशुद्धि : वेंकटनाथकृत, वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, वेदान्त-विभाग द्वितीय सम्पुट, सं०—कृष्णमाचार्य स्वामी तथा प्रतिवादि भयंकर, अण्णङ्गाचार्य, लिबर्टी मुद्रणालय, मद्रास, १९४० ई० ।

परशुरामकल्पसूत्रम् : गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, नं० २२, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, १९७९ ई०।

परशुरामतन्त्रम् : सं०—भद्रशील शर्मा, कल्याण मन्दिर, कटरा, प्रयाग, सम्वत् २०२२।

परमार्थसारः : अभिनवगुप्तविरचित, ईश्वर आश्रम, गुप्तगंगा, काश्मीर।

प्रपञ्चसारसारसंग्रह : गोर्वाणेन्द्र सरस्वती, टी० एम० एस० एस० एम० लाइब्रेरी, तन्जौर, १९७६ ई०।

मन्त्रकौमुदी : देवनाथ ठक्कुर तर्कपञ्चानन कृता, मिथिला इन्स्टीच्यूट आफ पोस्टग्रेजुएट स्टडीज ऐण्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग, दरभंगा, १९६० ई०।

महाकालसंहिता (कामकलाखण्ड) : गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, १९७१ ई०।

महायक्षिणीसाधनम् : प्रकाशक—गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई, सम्वत् २००८।

महानिर्वाणतन्त्रम् : प्रकाशक—जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलिकाता, १८८४ ई०।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम् : काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ३७, काश्मीर (श्रीनगर), १९२२ ई०।

यन्त्रचिन्तामणिः : दामोदर पण्डितोद्धृतः, प्रकाशक—गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई, १९५८ ई०।

योगिनीतन्त्रम् : प्रकाशक—वही, सम्वत् २०१३।

रुद्रयामलतन्त्रम् : पं० प्रयागसूनु पं० रामचरण नन्दरामशर्मा-प्रणीत, प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६७ ई०।

रुद्रयामल उत्तरतन्त्रम् : जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित और उनके आत्मज श्री आशुतोष विद्याभूषण तथा नित्यबोध विद्यारत्न द्वारा प्रकाशित, कलिकाता, १९३७ ई०।

ललितासहस्रनाम (सौभाग्यभास्कर सहित) : प्रकाशक—पाण्डुरंग जावजी, निर्णय सागर प्रेस, बाम्बे, १९३५।

लुप्तागमसंग्रहः : योगतन्त्र ग्रन्थमाला (२), सं०—म० म० गोपीनाथ कविराज, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १८९२ ई०।

वरिवस्यारहस्यम् : श्री भास्करराय मखिन्, दि अड्यार लाईब्रेरी ऐण्ड रिसर्च सेन्टर, अड्यार, मद्रास, १९६८ ई०।

वामकेश्वरतन्त्रान्तर्गत-नित्याषोडशिकार्णवः : आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ५६, पूना, १९४४।

वाल्मीकि-रामायण (बालकाण्ड) : प्रकाशक—रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, १९५८ ई०।

विज्ञानभैरवः : व्याख्याकार-वज्रवल्लभ द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७८ ई०।

विश्वामित्र संहिता : केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति, १९७० ई०।

वेदान्तसारः : व्याख्याकार-सन्तनारायण श्रीवास्तव्य, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८ ई०।

व्यासभाष्यम् (पातञ्जलयोगदर्शनम्) : व्यासदेव, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ई०।

शतरत्नसंग्रहः : श्री उमापति शिवाचार्य, यूनिवर्सिटी आफ मद्रास, १९७३ ई०।

शाक्तदर्शनम : श्री चक्रेश्वरभट्टाचार्यसंकलितम्, प्राप्ति स्थान-चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस वाराणसी, १९७० ई०।

शाक्तप्रमोदः : प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, १९७३ ई०।

शारदातिलकम् : प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली, १९७३ ई०।

शिवदृष्टिः : सोमानन्दनाथविरचिता, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क ५४, काश्मीर (श्रीनगर), १९३४ ई०।

शिवयोगप्रदीपिका : सदाशिवयोगीश्वरविरचिता, आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क १३९, पूना, १९७८ ई०।

शिवसूत्रम् : श्रीपीताम्बरापीठ संस्कृत-परिषद्, दतिया (म० प्र०)।

शिवसंहिता : प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, १९७५ ई०।

शिवस्वरोदयः : श्रीगोपाल पुस्तकालय, विश्राम बाजार, मथुरा।

श्रीबगलामुखीरहस्यम् : श्रीपीताम्बरापीठाधीश्वरप्रणीत, श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत-परिषद्, दतिया।

श्री प्रश्नसंहिता : केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६९ ई०।

श्री शक्तिसङ्गमतन्त्रम् : गायकवाड ओरियन्टल सिरीज़ नं० ९१, बड़ौदा। (द्वितीयो भागः ताराखण्ड) ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, १९४१ ई०।

श्रीशक्तिसङ्गमतन्त्रम् : गायकवाड ओरियन्टल सिरीज़ नं० १६६। (चतुर्थोभागः, छिन्नमस्ता खण्डः) : ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, १९७८ ई०।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (प्रथम भाग) : गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०२४।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (द्वितीय भाग) : वही, सम्वत् २०३५।

श्रीमद् भागवतपुराण (प्रथम भाग) : वही, सम्वत् २००८।

श्रीमद् भागवतपुराण (द्वितीय भाग) : वही।

षट्चक्रनिरूपणम् : श्रीपूर्णानन्दयतिविरचितम्, तान्त्रिक टेक्स्ट्स, वाल्यूम ११, सं०—आर्थर एवेलोन, गणेश ऐण्ड कं०, मद्रास, १९५३ ई०।

षट्चक्रविवृत्तिः (विश्वनाथकृता) : वही।

संनत्कुमारसंहिता : सं०—पं० वी कृष्णमाचार्य, दि आड्यार लाइब्रेरी ऐण्ड रिसर्च सेन्टर, आड्यार, मद्रास, १९६९ ई०।

संर्वोल्लासतन्त्रम् (सर्वानन्दनाथविरचितम्) : सं०—श्री रासमोहन चक्रवर्ती, राममाला ग्रन्थारम् कुमिल्ला, वङ्गदेश, १९४१ ई०।

सांख्यकारिका (ईश्वर-कृष्णविरचिता) : प्रकाशक—पाण्डुरंग जावजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४० ई० ।

सौन्दर्यलहरीस्तोत्रम् (श्री शङ्कराचार्यविरचितम्) : श्रीपीताम्बरा संस्कृत परिषद्, दतिया (म०प्र०), सम्वत् २०३१ ।

सौन्दर्यलहरी : हिन्दी टीकाकार-स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज, योग-श्रीपीठ, मुनि की रेती (ऋषिकेश), टिहरी गढ़वाल (उ० प्र०), सम्वत् २०३४ ।

सौन्दर्यलहरी (लक्ष्मीधरा तथा अरुणामोदिनी टीका संहिता) : गणेश ऐण्ड कं०, मद्रास, १९५७ ई० ।

स्वच्छन्दतन्त्रम् (भाग १) : काश्मीर सीरीज़ आफ टेक्स्ट्स ऐण्ड स्टडीज़, नं० ३१, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२१ ई० ।

हठयोग प्रदीपिका : प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली, १९७८ ई० ।

हयशीर्षपाञ्चरात्रम् (वाल्यूम १) : सं०—भुवनमोहन सांख्यतीर्थ वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, ईस्ट बंगाल, १९५२ ई० ।

(ख) समालोचनात्मक ग्रन्थ (हिन्दी)

अखण्ड महायोग : म० म० गोपीनाथ कविराज, हिन्दी अनुवाद—एस० एन० खण्डेलवाल, अखण्ड महायोग संघ, सिगरा, वाराणसी ।

कुण्डलिनी योगतत्त्व : दीवान गोकुल चन्द्र कपूर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७६ ।

ज्ञानेश्वरी (हिन्दी) : प्रकाशक—इण्डियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, १९३३ ई० ।

तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन : म० म० गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९७७ ।

तन्त्र महाविज्ञान : पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा-कुतुब, बरेली, १९६९ ।

तन्त्रशक्ति : डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, रंजन पब्लिकेशन्स, दरीबा, नई दिल्ली, १९७५ ।

तन्त्र साधना : डा० नारायणदत्त श्रीमाली, मयूर पेपर बैंक्स, २३, दरियागंज, नई दिल्ली, १९७५।

तन्त्र साधनासार : देवदत्त शास्त्री, स्मृति प्रकाशन, १२४, शाहराराबाग, इलाहाबाद, १९७९।

तन्त्र विज्ञान : गोविन्द शास्त्री, अनुपम पाकेट बुक्स, कमलानगर, दिल्ली, १९७५।

तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि : म० म० गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३।

तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य : नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, सं० २०१५।

तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त : महामहिम गोपीनाथ कविराज, विहार, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७९।

तान्त्रिक साहित्य : म० म० गोपीनाथ कविराज, हिन्दी समिति, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, १९७२।

नाथ सम्प्रदाय : हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, १९५०।

पातञ्जल योग सूत्र : डा० पवन कुमार गुप्ता ईस्टर्न बुक लिंकर्स, ५/४६ए, विजयनगर, दिल्ली, १९६९।

पूजा तत्त्व : म० म० गोपीनाथ कविराज, शंकर सदन, ५२/४६, लक्ष्मीकुण्ड, वाराणसी, १९७७।

पञ्चमकार और भावत्रय : देवीदत्त घिल्डियाल, कल्याण मन्दिर, प्रकाशन, प्रयाग, सम्वत् २०३१।

प्राचीन भारतीय साहित्य : (हिन्दी लाजपत राय), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

बहिरङ्ग योग : स्वामी योगेश्वरानन्द, योगनिकेतन ट्रस्ट, ३०ए/७८, पंजाबी बाग, नई दिल्ली, १९८१।

बृहत् सावर मन्त्र : श्री शङ्कर भरोस झा, प्रकाशक—मास्टर खेलाड़ीलाल, कचौड़ी गली, वाराणसी, सम्वम् २०३५।

भारतीय दर्शन : डा० उमेश मिश्र, हिन्दी समिति, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, १९७५।

भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा : डा० किशोर दास स्वामी, प्राप्ति स्थान—श्रीसाधुवेला सं० महावि०, ७/२३, सकरकन्द गली, वाराणसी, १९८० ।

भारतीय संस्कृति और साधना (भाग १) : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३ ।

भारतीय संस्कृति और साधना (भाग २) : वही, १९६४ ।

मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य : डा० शिवशङ्कर अवस्थी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६६ ।

मन्त्र रहस्य : डा० नारायण दत्त श्रीमाली, हिन्दी पुस्तक भण्डार, खारी बावली, दिल्ली, १९८१ ।

महर्षि पतञ्जलि कृत योगदर्शन : व्याख्याकार—श्री हरिकृष्णदास गोयनका, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

योगदर्शन : डा० सम्पूर्णानन्द, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५ ।

साधना रहस्य : पं० योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री, कल्याणमन्दिर, अलोपीबाग, प्रयाग ।

स्वास्थ्य और योगासन : योगाचार्य भगवान देव, सुबोध पॉकेट बुक्स, २ दरियागंज, नई दिल्ली, १९७६ ।

लक्ष्मी तन्त्र-धर्म और दर्शन : डा० अशोक कुमार कालिया, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ, १९७७ ।

लक्ष्मी साधना : डा० नारायण दत्त श्रीमाली, मयूर पेपर बैक्स, १३, दरियागंज, नई दिल्ली, १९७६ ।

वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) : व्याख्याकार—श्री हरिकृष्ण दास, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०३१ ।

वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिकमत : आर० जी० भण्डारकर (हिन्दी अनुवाद—महेश्वरी प्रसाद), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७७ ।

शैव मत : डा० यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५५ ।

षट्चक्रनिरूपण : (हिन्दी टीका) श्री स्वामी हंस स्वरूप विज्ञान मन्दिर ऋषिकेष (देहरादून), १९७३ ई० ।

हिन्दी तन्त्रसार : पं० रमादत्त शुक्ल, कल्याणमन्दिर प्रकाशन, अलोपीबाग, प्रयाग, सम्वत् २०३० ।

(ग) अँग्रेजी (भाषा) की पुस्तक-सूची

A History of Sanskrit Literature :	Munsi Ram Manohar Lal, Oriental and Foreign Book Sellers, PB. 1165, Nai Sarak, Delhi, 1958.
An Introduction of Tantric Buddhism :	S. D Dasgupta, University of Calcutta, 1974.
An outline of Religious Literature of India :	J.N. Farkhuhar, Oxford, London, 1920.
Buddhist Philosophy in Theory and Practice. :	Herbert V. Guenther, Penguin, Books, INC, Baltimore, Maryland, 1971.
Gems from the Tantras :	M.P. Pandit, Ganesh and Co., Madras, 1975.
History of Philosophy : Eastern and Western (Vol. I)	S. Radhakrishnan, London ; George Allen and Unwin Ltd., Ruskin House Museum Street, 1952 and 1953.
,, ,, ,, (Vol. II)	,, ,, ,, ,, ,,
History of Classical Sanskrit Literature	M. Krishnamachariar;Motilal Banarasidas Delhi, 1958.
Indian Myth and Legend :	Donald A. Mackenzie, Sona Publications, K-31, Janakpuri Extention, New Delhi-71.
Introduction to Pancaratra Ahirbudhnya Samhita :	F. Otto Schrader, The Adyar Library, Adyar, Madras, 1916.
Introduction to Tantra Shastra :	Sir John Woodruffe, Ganesh and Co., Madras, 1973.
Kalpa Chintamani of Damodar Bhatta :	N. N. Sharma, Eastern Book Linkers, 5/18A, Vijai Nagar, Delhi, 1979.
Kashmir Shaivism :	J.C. Chatterji, Indological Book Corporation, Patna, 1978.
Kashmir Shaivism :	L. N. Sharma, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1972.
Kundalini—Path to Higher consciousness :	Pandit Gopikrishna, Orient Paperbacks, New Delhi, 1976.

Kundalini—The Biological Basis of Religion and Genius. : Gopikrishna, Kundalini Research and Publication Trust, N. Delhi, 1978.

Kundalini—The Secret of Yoga : " " " "

Kundalini—Time and Space : " " " "

Kundalini Yoga : M. P. Pandit, Ganesh and Co., Madras, 1968.

Lights on the Tantra : M. P. Pandit, Ganesh and Co., Madras, 1971.

Non-Dualism in Shaiva and Shakta Philosophy. : Prof. Nundo Lalkundu, Sri Bharabi Jogeshwari Math, Calcutta, 1964.

Puranik and Tantric Religions. : J. N. Banerjee, University of Calcutta, 1966.

Principles of Tantra. : Sir John Woodruffe, Ganesh and Co.. Madras, 1952 and (in two vol. 1978).

Shaiva Cults in Northern India. : V.S. Pathak, Varanasi, 1960.

Shaiva Siddhanta : V. Paranjoti, Luzac and Co., London, 1954.

Shakta Monism—The Cult of Shakti : Jadunath Sinha, Publishing House, Calcutta.

Shakti Cult in Ancient India : Dr. Puspendra Kumar, Bharatiya Publishing House, Varanasi, 1974.

Shakti and Shakta : Sir John Woodruffe, Ganesh and Co., Madras, 1951.

Sri Aurobindo on Tantra : Compiled by M.P. Pandit, Dipti Publications, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1972.

Studies in the Tantras : (Part I) P. C. Bagchi, University of Calcutta, 1975.

The Buddhist Tantras : Alex Wayman, Samuel Weiser, New York, 1973.

The Chakras—A Monograph : C.W. Leadbeater, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1979.

The Dawn of Tantra : Herbert V. Guenther and Chogyam Trungpa, Shambhala Boulder and London, 1975.

The Garland of Letters : Sir John Woodruffe, Ganesh and Co., Madras, 1979.

The Great Liberation : „ „ „ 1971.

The Krama Tantrism of Kashmir : Navajivan Rastogi, Motilal Banarsidas, Delhi, 1979.

The Mysterious Kundalini : V.G. Rele, D.B. Taraporewala Sons and Co. Ltd., 210, Dr. Dadabhai Naoroji Road, Bombay, 1960.

The Patent Wonder : Swami Pratyagatmananda Saraswati, Ganesh and Co , Madras, 1973.

The Shaktas : E. A. Payne, Oxford University Press, London, 1933.

The Shakta Pithas : D. C. Sircar, Motilal Banarsidas, Delhi, 1973.

The Shakta Upanisads (Eng. Translation) The Adyar Library and Research Centre, Madras, 1975.

The Shaiva Upanisads : Edited by Pt. A. Mahadeva Shastri, The Adyar Library (Adyar, Madras), 1950

The Shakti Cult and Tara : Edited by D. C. Sircar, University of Calcutta, 1967.

The Tantraraja Tantra : Edited by Jatindra Bimal Chaudhuri, The Book Co., 4/3B, College Square Calcutta, 1940.

The Tantric Tradition : Agehananda Bharati, B. I. Publications, Bombay, 1976.

The Tantric View of life : Herbert V. Guenther, Shambala Publications, Inc., Berkeley and London, 1972.

The Serpent Power : Sir John Woodruffe, Ganesh and Co., Madras, 1953.

The Vaisnava Sects
The Shaiva Sects
Mother Worship : Swami Tattarananda Tollygune Calcutta.

The World as Power : Sir John Woodruffe, Ganesh and Co., Madras, 1974.

Tantraraja Tantra and Kama-Kala-Vilasa : Sir John Woodruffe, Ganesh and Co., Madras, 1971.

Tantras—A General Study : Manoranjan Basu, Published by Mira Basu, 50/B, Haldar Para Road, Calcutta, 1976

Tantras—Studies on their Religion and Literature : Chintaharan Chakravarti, Punthi Pustak, 34, Mohan Bagan Lane, Calcutta, 1972.

Tantra—The Indian Cult of Ecstasy ; Philip Rawson, Vikas Publishing House, Delhi, 1973.

Tantras—Their Philosophy and Occult Secrets : D. N. Bose and Hiralal Haldar, Oriental Publishing Co., 11-D, Surendralal Dyne Lane, Calcutta, (3rd Edition).

Tantra—The Erotic Cult : Capt. F. D. Colaabarala, Orient Paperbacks, New Delhi, 1976.

Tantra—The Secret Power of Sex : Arbind and Shanta Kale, Jaico Publishing House, Bombay, 1976.

Tantra in Tibet : Tsong-Ka-pa, The Wisdom of Tibet Series 3, London, George Allen and Unwin, 1977.

Tantra of Kundalini Yoga : Swami Satyananda, Bihar School of Yoga, Monghyer, Bihar, 1973.

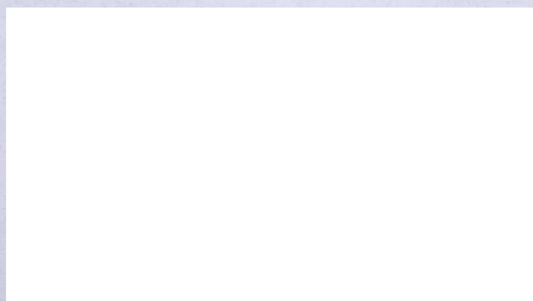
Tantra Vidya : Oscar Marcel Hinze (Eng. Translation by V. M. Bedekar), Motilal Banarsidas, Delhi, 1979.

Tibetan Tantric Tradition : S. K. Ramchandra Rao, Arnold Heineman, 1977.

Thoughts of a Shakta : M. P. Pandit, Ganesh and Co. Madras, 1977.

Yuganaddha (The Tantric View of Life) : Herbert V. Guenther, The Chaukhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1976.

—: o :—





परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८ व २२/३, शक्ति नगर,
दिल्ली - ११०००७ (भारत)
दूरभाष : २३८४५४५६, ४७०१५१६८

